6-4

1326

Subscription Rates (per issue) :—

S.A.	...	...	...	$ 1
K.	...	...	...	sh 10
dia	...	...	...	Rs. 5.00
H.U.	...	...	...	Rs. 3.00

) d twice
he other

) Editor,

) B.H.U.
r before
he next
July 30

p paper
er more
original
ff-prints

rtained.

वर्ग संख्या................ प्राप्ति-संख्या...................
ग्रन्थ-कार्ड
श्री गणेश वर्णी दि० जैन (शोध) संस्थान
ग्रन्थागार
नरिया, वाराणसी-५
ग्रन्थ नाम प्रज्ञा अं. १३ भाग १
लेखक अक्टूबर १९६८
लेनेवाले का नाम | देनेकी तिथि | लेनेवालेका हस्ताक्षर | लौटानेकी तिथि

प्रज्ञा

हि० ६०५

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं. 1326
दिनांक..................
नरिया, (का. हि. वि. वि.) वाराणसी-५

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका

अक्टूबर १९६७

अंक १३ भाग (१)

सम्पादक-मण्डल

डॉ० नन्दलाल सिंह
विभागाध्यक्ष, स्पेक्ट्रास्कापी (संयोजक)

डॉ० ब्रजमोहन
प्रधानाचार्य, केन्द्रीय महाविद्यालय

डॉ० अवधकिशोर नारायण
प्रधानाचार्य, भारती महाविद्यालय

कालेज सम्पादक

१. **पं० अम्बिकादत्त उपाध्याय**—हिन्दी एवं अंग्रेजी विभाग, संस्कृत महाविद्यालय
२. **कु० वी० एस० देवधर**—महिला महाविद्यालय
३. **डॉ० विजय शंकर मल्ल**—हिन्दी विभाग, केन्द्रीय महाविद्यालय
४. **डॉ० एन० के० देवराज**—निदेशक, दर्शनशास्त्रीय उच्चाध्ययन केन्द्र
५. **डॉ० विष्णुदत्त शुक्ल**—भौमिकी विभाग, विज्ञान महाविद्यालय
६. **पं० रमापति शुक्ल**—शिक्षा विभाग, टीचर्स ट्रेनिंग महाविद्यालय
७. **डॉ० लालमणि मिश्र**—वाद्य संगीत, श्री कला संगीत भारती महाविद्यालय
८. **श्री पी० एन० कौल**—पुस्तकालयाध्यक्ष, सयाजीराव ग्रंथालय

सह-सम्पादक

गिरिजाशंकर सिंह

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक

पूज्य महामना

हिताय सर्वलोकानां निग्रहाय च दुष्कृतां
धर्मसंस्थापनार्थाय प्रणम्य परमेश्वरम् ।
प्रसादाद्विश्वनाथस्य काश्यां भागीरथीतटे
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठः हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दूराज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मविवृद्धये ॥

जन्म :—वि० सं० १९१८ पौषकृष्ण ८ (२५-१२-१८६१)
मोक्ष :—वि० सं० २००३ मार्गशीर्षकृष्ण ४ (१२-११-१९४६)

पि०६०५

श्री गणेश वर्णी दि. जैन (शोध) संस्थान
पुस्तक सं. 1326
विभाग........
नरिया, (का. हि. वि.)

विषय-सूची

१. मालवीय शतकम्
रतिनाथ झा १
२. सूरदास : अध्ययन के कतिपय नये सूत्र
डॉ० शिवप्रसाद सिंह ७
३. तंत्र-साधना
भुवनेश्वर नाथ मिश्र 'माधव' १८
४. श्री त्यागराज स्वामी की जीवनी
श्री रंगम् कृष्णन २४
5. Indian Thought and Technology
Dr. S. P. Dubey 27
6. Cultural Confusion
Dr. N. K. Devaraj 43
7. Gupta Temple Architecture
P. K. Agrawala 51
८. वीणा
डॉ० लालमणि मिश्र ६६
९. कर्णाटक संगीत के संत त्यागराज
एम० आर० गौतम ६९
१०. स्वतंत्र भारत का संदर्भ और हिन्दी काव्य चेतना का नया यथार्थ
कैलाश मिश्र ७५
११. धर्मरथ
रामजी पान्डेय ८४
१२. उर्दू बनाम हिन्दी (२)
डॉ० मोहन लाल तिवारी ९४
१३. "(n, r) रिकॉयल अभिक्रिया"
एस० पी० मिश्र ९७
१४. सेव्य और सेवक का कर्त्तव्य
पं० चन्द्रबली त्रिपाठी १०१
१५. काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का विश्वनाथ मंदिर
महामना मालवीय जी की भावनाओं का जाग्रत स्वरूप
श्री शिवधनी सिंह १०३
१६. हिन्दू विश्वविद्यालय महाकाव्यम्
पं० मधुसूदन शास्त्री १०६
१७. मालवशिरोमणिः राजा भोजः
उदयचन्द्र जैन ११६
१८. रौद्र धनुषोयक्ष्माः
गोपालचन्द्र मिश्र ११९
१९. जैन दर्शन में अर्थाधिगम चिन्तन
दरबारी लाल कोठिया १२४
२०. घन आनन्द की पंजाबी कविता
डॉ० नवरत्न कपूर १३०
२१. भारतीय राजनीति और एनीबेसेण्ट
डॉ० हरिहरनाथ त्रिपाठी १४३

२२. आत्म-चिन्तन १४८
रवीन्द्र कुमार शृंगी

२३. अणु-स्पेक्ट्रम और उसकी रचना १५१
डॉ० नन्दलाल सिंह

24. Date of Mahakavi Sri Harsha
Dr. G. Musalgaonkar 169

25. A Survey of Hindi-Dialect Dictionaries
R. P. Kulshreshtha 174

26. The 'Nāgas' in Mahabharata
K. C. Misra 184

27. Caraka on Inherited Varieties of Human Constitution and their Psychosomatic characteristics : A Pre-christian view
Dr. H. C. Shukla 192

28. Five Scientific Discoveries which originated in the Commonwealth
Shiva Prasad 197

29. In Defence of New Type of Tests
Lalmani Misra 203

30. Growth Pattern of Corporate Interprises in India
Pritam Singh 299

31. The New Criticism : A semantic Approach
Dr. Raj Nath 219

32. Disease Resistant Varieties
Dr. Ira Roy 229

33. Managers, Trade Union Leaders and workers
Dr. D. P. N. Singh 233

34. Fruit Industries in India
J. R. Singh & J. S. Arora 250

35. Recent Revolutions in Electric Power Generation
M. Shakuntala 258

36. Sciences without statistics bear no fruit
Dr. Chandrabali Dubey 267

37. Physical Education
S. N. Das 270

38. Physics of cloud
Lalit Kumar 273

३९. भाषा-संगम
डॉक्टर नन्दलाल सिंह 279

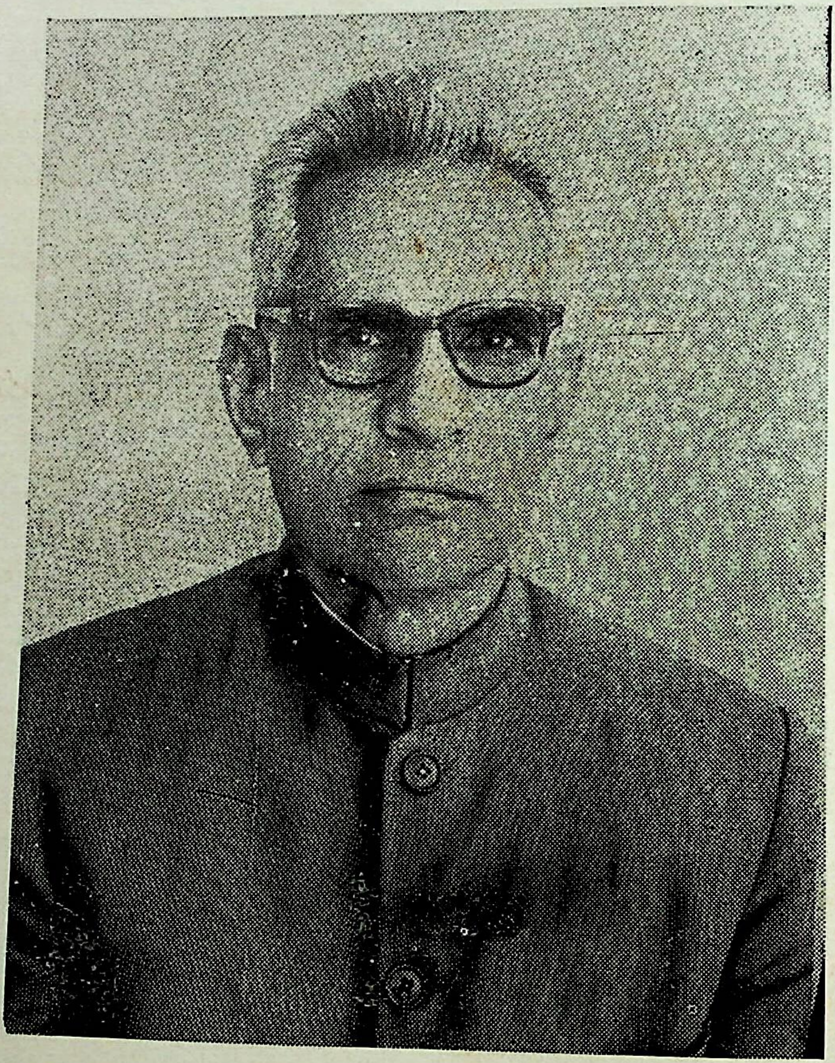

विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति डॉक्टर अमरचन्द जोशी

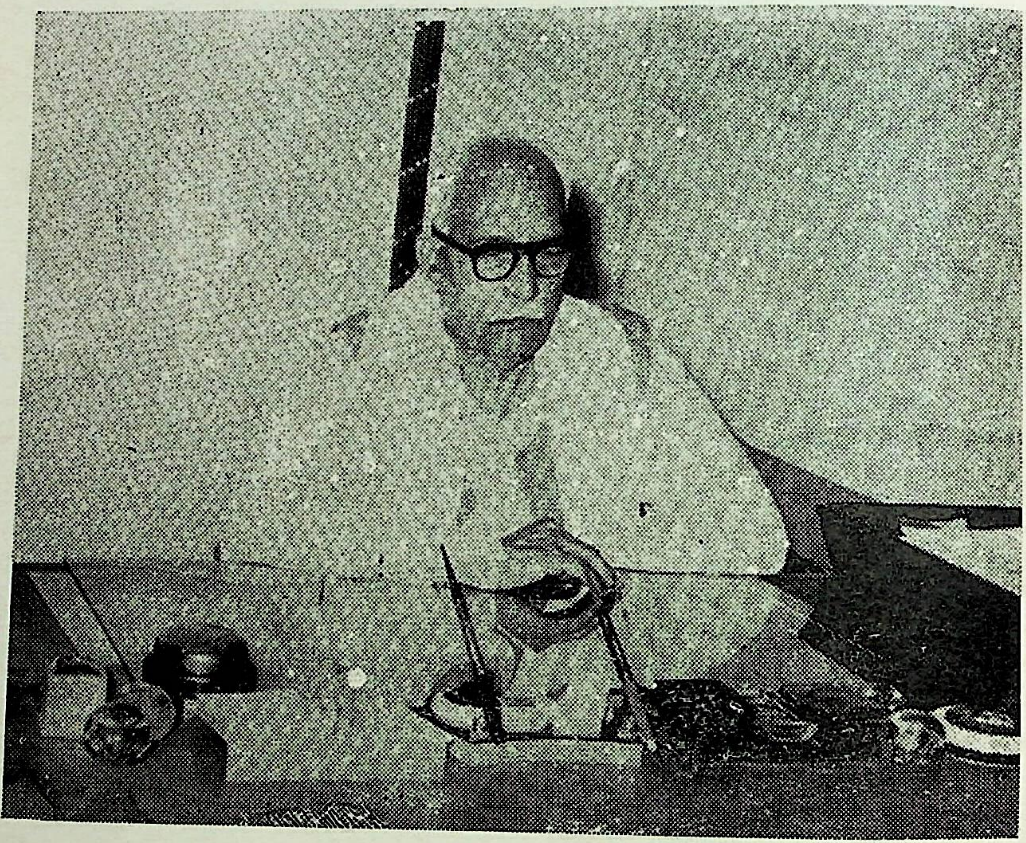

विश्वविद्यालय के रेक्टर डॉक्टर हजारी प्रसाद द्विवेदी

रेक्टर महोदय का संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि 'प्रज्ञा' काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के बौद्धिक स्तर को ऊँचा करने के लिए बराबर प्रयत्न कर रही है। मेरी हार्दिक शुभ-कामना है कि पत्रिका उन महान आदर्शों की ओर अग्रसर हो जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना के मूल में हैं। ज्ञान के विविध क्षेत्रों में भी विस्तार करने और निष्ठापूर्वक अनासक्त दृष्टि से सत्य और हित का संधान करना विद्या और विद्यार्जन का उद्देश्य है। अनेक ऐतिहासिक कारणों से हमारा देश पिछले कुछ शतकों में विद्या के क्षेत्र में यथोचित उन्नति करने का अवसर नहीं पा सका। परन्तु इसके पहले यह सदा ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अपने समसामयिक सभ्य देशों से आगे रहा है। बीच में कुछ शिथिलता आ जाने पर भी चिन्तन और मनन के क्षेत्र में हम आज भी संसार को कुछ नया देने में समर्थ हैं परन्तु इसके लिए गम्भीर निष्ठा, परिश्रमपूर्वक अध्ययन और अनासक्त भाव से चिन्तन करने की आवश्यकता है। हमें उन सब नई जानकारियों को प्राप्त करना है जिनमें हम पीछे रह गये हैं। साथ ही दिन प्रतिदिन बढ़ती सामाजिक जटिलता की चुनौती को भी स्वीकार करना है। जो देश विज्ञान और तकनीकी शिक्षा के क्षेत्र में आगे हैं, वे धनधान्य से पूर्ण हैं परन्तु जिन देशों में विज्ञान और तकनीकी कौशल का परिचय नहीं है या कम परिचय है वे निर्धन हैं। देश को गरीबी और अभावों से निकालने का एकमात्र मार्ग विज्ञान और प्राविधिक शिक्षण को स्वायत्त करना है। हमारे नौजवान विद्यार्थी वह दुःसाध्य कार्य साहस के साथ कर सकते हैं, वे ही भयंकर कठिनाइयों की चुनौती को स्वीकार करने का साहस कर सकते हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक महामना मालवीय जी विज्ञान और तकनीकी शिक्षण के महत्व का बहुत पहले ही अनुभव कर चुके थे और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में उसकी व्यवस्था करने का शुभारम्भ कर गये थे। हमें आशा करनी चाहिए कि काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के विद्यार्थी उनकी आकांक्षाओं को पूरी शक्ति के साथ मूर्त रूप देने का प्रयत्न करेंगे। विज्ञान और तकनीकी शिक्षण के द्वारा हम भौतिक समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं लेकिन उसके साथ ही साथ मनुष्य को नैतिक आदर्श को आध्यात्मिक विचारों से भी बलिष्ठ बनाना है। यह काम मानवीय विद्याओं के गहन अध्ययन और अनुशीलन से ही सिद्ध होगा। इसके लिए इस विश्वविद्यालय में धर्म, दर्शन, समाज विज्ञान आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना देश की जनता की शुभकामनाओं के साथ हुई थी। गरीब से गरीब व्यक्ति का इसमें सहयोग है। बड़ी आशा और उमंग से जनता ने इस विश्वविद्यालय की स्थापना का स्वागत किया था इसमें कभी भी यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारी जनता की आशा और आकांक्षा पूर्ण नहीं हुई है। वह इस काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तेवासियों से बहुत आशा रखती है। यह विश्वविद्यालय भारतीय जनता की आशा और आकांक्षा की पूर्ति कर सके, यह सबका काम्य होना चाहिए।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय अन्यान्य विश्वविद्यालयों से कुछ भिन्न है। उसके कार्य-कर्ताओं और विद्यार्थियों को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि यह विश्वविद्यालय संपूर्ण राष्ट्र की मंगलमयी शुभेच्छा का प्रतीक है। ज्ञान-विज्ञान की साधना द्वारा देश को भीतर और बाहर से मजबूत बनाने का पवित्र काम हमें करना है। महामना पण्डित मालवीय जी जैसे महान नेता का आशीर्वाद हमें प्राप्त है। देश को, सुखी और सशक्त बनाने की दिशा में बहुत काम बाकी पड़ा है उसे पूरी शक्ति लगाकर पूरा करना हमारा परम पावन कर्तव्य है।

हजारी प्रसाद द्विवेदी

२४ मई १९६८

मालवीयशतकम्

रतिनाथ झा, सं० म० वि०

येषां महामहिममण्डितकीर्त्तिलेखा
लेखालयेऽपि कलयत्यतुलं विलासम् ।
आमोदिता मधुहृदो विबुधालिकेलि-
भव्यालयाः सुमनसो भुवि ते जयन्ति ॥१॥

भूमण्डलं जयति मण्डनमिन्दिरायाः
कर्मण्यताकुशलताशुचिताङ्गनानाम् ।
विश्वम्भरैकशरणाम्बुधिवद्धसख्यं
गौरीगुरुप्रभृतिभूभुदुदारलीलम् ॥२॥

नीलाम्बरावृतवपुर्द्रुमवल्लरीणां
पुष्पप्रवालललिताभरणैर्लसन्ती ।
कूजच्छकुन्तकुलकोमलभारतीयम्
आभाति भूमिरमणी रमणीयकान्तिः ॥३॥

देवेश्वरत्वमधिकृत्य सुराङ्गनानां
नर्मक्रियोल्लसितकेलिकुतूहलानि ।
भोक्तुं पुमानमितविक्रमविभ्रमाढ्यः
सम्प्रेषितः शतमखः सततं भुवैव ॥४॥

यज्ञादिषु प्रथितहव्यसमर्पणेन
भूरेव तोषयति साधु सुधान्धसोऽपि ।
सम्मानदानविधिना च सुरान् समस्तान्
आनन्दयत्यनुदिनं ननु सैव कामम् ॥५॥

तस्या भुवो हृदयखण्डमखण्डनीय-
माखण्डलार्चितचरं रुचिरं चिराय ।
धर्माङ्कुरप्रसवि भारतवर्षमेतद्
भव्यं प्रभूतविभवं नितरां चकास्ति ॥६॥

यस्यैकतो हिमगिरिर्गगनस्पृगस्ति
रत्नाकरोऽस्त्यपरतोऽङ्घ्रिमुपासमानः ।
मध्ये वहन्ति सरितः परितस्तरङ्ग-
भङ्गीभिरिङ्गितधना इव नृत्यशीलाः ॥७॥

यत्रावतीर्य भगवान् विविधैः स्वरूपै-
धर्मं शुभं स्थिरयितस्म निवार्य विघ्नान् ।
यत्र स्थिताद्द्विजवरान्मनुजैः समस्तैः
सार्वत्रिकैः स्वचरितानि च शिक्षितानि ॥८॥

सोऽयं गुरुस्त्रिजगतः प्रकृतिप्रकर्ष-
हर्षाकरः सकललोकसमर्चितश्रीः ।
सद्भाववैभवविशेषविभूषिताङ्गो
देशश्चिरं जयति भारतवर्षनामा ॥९॥

तीर्थानि मानवमनोमलनाशनानि
भान्तीह भव्यविभवप्रभवाणि कामम् ।
किन्तु स्फुरत्प्रगुणसद्गुणदिव्यधाम्ना-
ऽऽम्नायादिकीर्त्तिततरो जयति प्रयागः ॥१०॥

यस्यैकतो विमलबोधमयः प्रवाहो
गाङ्गो विभाति रजतद्रववत्सिताद्रेः ।
प्रेमाम्बुपूरपरिपूरितपुण्यतोया
यस्यान्यतो वहति सूर्यसुता स्रवन्ती ॥११॥

अन्तःस्थिता स्वजनपावनकेलिशीला
लीलावती सकललोकललामभूता ।
पूतात्मनां मनसि शश्वदुदाररूपा
रूपातिगा लसति कापि सरस्वतीह ॥१२॥

लोकत्रयाचरितसञ्चितपुण्यराशिः
किन्वा त्रयी प्रकटितत्रितयात्ममूर्त्तिः ।
बन्धु-प्रियासहितराघववन्दनीया
यत्रावभाति भवबन्धनहृत् त्रिवेणी ॥१३॥

वेणीमाधवतापसाक्षयवटाः प्राचीनतासाक्षिणो
नूनं धार्मिकचेतसि प्रकटयन्त्यङ्कूरपूरान् मुदः ।
कर्मोपासनसंविदामथ विदामाधारभूमिश्चिरात्
सर्वानन्दमहाकरो विजयते श्रीतीर्थराजः प्रियः ॥१४॥

स्वर्गस्पर्धिपरार्धवैभवभरं लीलावतीलीलया
श्लाघ्यश्लाघ्यविलासलास्यलसितं शिप्राप्रियालिङ्गितम् ।
सर्वश्रेयसि जाग्रतं स्तुतमहाकालेश्वरं मालवं
नाम्ना मालवमेव चेतसि विदत्तत्याज यत्सत्कुलम् ॥१५॥

शस्यश्यामलकोमलं सुललितं शिल्पानुकल्पालयं
त्यक्त्वा मालवमालयं भरतभूसौभाग्यभूषामणिम् ।
अस्माकं कुलमूलसद्द्विजभरद्वाजस्य भव्याश्रमात्
तौ तीर्थपपूते निवासमुचितं मत्वैव चक्रे गृहम् ॥१६॥

तत्र ब्रह्मणि नैष्ठिकं स्मृतिमुखापेक्षासु सन्दीक्षितं
पुण्यात्पुण्यतमे पुराणनिलये विश्रान्तचित्तं चिरात् ।
धर्माचारविचारचारुचरितं श्रीमालवीयाह्वयं
नीरक्षीरविवेचकं द्विजकुलं सोल्लासमातिष्ठति ।।१७।।

तत्र प्रादुरभूददीनहृदयो नारायणोपासको
व्युत्पन्नो विविधागमेषु विबुधश्रेणीमणिः सात्विकः ।
कृष्णोपासनयापि शुक्लधिषणो विप्रोऽपि वेणुप्रियः
पूज्यः श्रीव्रजनाथनामकचतुर्वेदो विदां मण्डनः ।।१८।।

सोऽयं शीलवतीं सतीं निरुपमप्रीतिप्रतीतिस्थितिं
स्फीतप्राणवतीं गृहस्थकृतिषु प्राप्तातिपूताकृतिम् ।
सेवाधर्मसरस्वतीं धृतिमतीं सीमन्तिनीसन्मर्णि
पत्नीं प्रापदनापदं विधिवशान्‘मूना’मनूनां गुणैः ।।१९।।

जातौ तत्र कुले कुलोचितगुणग्रामाभिरामात्मजौ
पूर्वं द्वौ च ततो विरञ्चिरचनानैपुण्यपुण्यप्रदः ।
आकृत्या मदतुन्दिलस्य मदनस्यारवर्वंगवन्तिको
बुद्ध्या देवगुरोश्च गौरवहृतरः सूतस्तृतीयः सुतः ।।२०।।

दिग्दन्तावलचन्द्रनन्दवसुधासंवत्सरे वैक्रमे
पौषेश्यामदले गिरीन्द्रतनयानाथेतिथौ भार्गवे ।
दुग्धाब्धेरमृतांशुवत् सुरतरोः सत्कोरकाङ्कूरवत्
कासारादरविन्द (शतपत्र) वत् प्रकटितः पुत्रः प्रहर्षाकरः ।।२१।।

वीक्ष्याकृतिप्रकृतिसंस्कृतिदिव्यधाम-
दामानमेनममृतांशुकरातिगौरम् ।
अन्वर्थनामकलनाकुशलेन पित्रा
सम्बोधितो मदनमोहनमालवीयः ।।२२।।

चापल्यसंवलितमप्यनुकूलकाल-
लीलाविलासललितं विपुलप्रमोदम् ।
बाल्यं निराकुलमनाविललाल्यमस्य
माल्यश्रियेव मुदितामतनोत्स्वपित्रोः ।।२३।।

क्रीडाकौशलपेशलं समवयोवर्गाञ्चितं शैशवं
दुष्प्राप्यं सुसमाप्य साक्षरदशामाधामुत्कण्ठया ।
तातप्रेरणयैव पद्मनयनानन्दाय बद्धादरो
धर्मज्ञानमहोपदेशकुशलं विद्यालयै प्राविशत् ।।२४।।

तत्राधीत्य सुधीन्द्रवृन्दमहिते विद्यालये सद्गुरो-
र्भट्टाचार्यमहाशयादसुलभां व्युत्पत्तिमासादयत् ।
स्वल्पेनैव दिनेन पूज्यचरणादाचार्यदर्यादयं
शास्त्राकूतमतीवपूतमनसा भेजे जनानन्दनः ।।२५।।

बाल्यादेव कलाकलापकुशलः सज्जीक्रियाप्रक्रिया-
पाण्डित्यायतनं मनोहरतराण्यच्छाक्षराण्यालिखन् ।
सत्संस्कारधनः श्रुतिस्मृतिमुखव्याख्यातधर्मक्रियो
जातः संस्कृतसेवयाऽतिमधुरो धीमान् गुरूणां प्रियः ॥२६॥
ताते भागवतीं कथां कथयति स्वल्पार्थलाभोदये
पोष्येऽनल्पजनेऽतिदुर्वहतया गार्हस्थ्यभारेऽनिशम् ।
आंग्लज्ञानविधायके प्रचुरतो द्रव्यव्ययापेक्षिते
विधासद्मनि संविदोऽथ चयनं दुष्कार्यमेवाभवत् ॥२७॥
किन्तूत्साहसहाससाहसमनायासं समासादयन्
अध्येतुं धनसाध्यवोधविभवं पाश्चात्यविद्यालये ।
सङ्कल्प्योल्लसितात्मना स्वपठनारम्भेण संस्तम्भयन्
ऋद्धं गर्वितमार्जयन्निरुपमक्लेशेन विधाधनम् ॥२८॥
मातुः कायिकभूषणानि बहुधा न्यस्यार्थलाभेच्छया
नामोच्छेददुरन्तदुःखददशां शुल्कादिदानैरशात् ।
द्रव्याभाववशादशान्तहृदयोऽप्युत्कर्षवीजाङ्कुरं
सिञ्चन् स श्रमवारिणाल्पदिवसेनैव द्रुमं दृष्टवान् ॥२९॥
दारिद्रयातपतापितापि हृदयक्षेत्रोल्लसल्लालसा-
वल्ली लोकललाममङ्गलमयानल्पप्रवालालया ।
सर्वानन्दमरन्दमेदुरगुणग्रामप्रसूनाञ्चिता
क्लेशावेशमशेषतो भरतभूभूतात्मनामक्षिणोत् ॥३०॥
छात्रेणाप्यमुना प्रयागनगरश्रीविश्वविद्यालये
हिन्दूछात्रनिवाससौख्यनिलयश्छात्रालयो नूतनः ।
राज्ञामर्थसमर्पणप्रणयिनां सम्प्रार्थनामानिनां
कोशोत्सृष्टधनागमेन सुभगो निर्मापितो भूतये ॥३१॥
कालो बालविवोधनाय विवुधेनानेन नीतः कियान्
पत्रं किञ्चिदुदञ्चितं मतिमता द्राक् पत्रकारात्मना ।
पश्चादेष विधिं विशेषविधिनाधीत्याधिकारान्वितो
वाक्कीलः समभूदभूतचरवाङ् न्यायालयेऽत्रोच्चकैः ॥३२॥
माधुर्यातिशयादगाधविधिसच्छास्त्रप्रमाणान्वितात्
सत्तर्कामृतसेचनादविनयोत्सर्गान्निसर्गोज्ज्वलात् ।
श्रोतृस्वान्तनितान्तरञ्जनकरान्न्यायेश्वरावर्जनात्
पक्षस्थापनदक्षसत्प्रवचनात् प्रापत् प्रसिद्धिं पराम् ॥३३॥
वाचः स्फीततया मतेर्गुरुतया ज्ञानश्रियो ज्योतिषा
कीर्त्तेश्चारुतया विवेचनकलानिष्णातया विद्यया ।
सौजन्यातिशयस्य शेवधितया नीतेश्च विद्वत्तया
स्वल्पेनैव दिनेन विश्रुतिमयं सर्वत्र सम्प्राप्तवान् ॥३४॥

क्लेशावेशविशेषशोषितरसो लक्ष्मीकृपाकुण्ठनात्
कालं कञ्चन काञ्चनार्जनपरो दत्तावन्धानोऽनयत् ।
वाक्कीलक्रियया ययातिविरला उत्कर्षमातन्वते
द्रागेवायमनन्यलभ्ययशसा ख्यातस्तयैवादृतः ॥३५॥

देशः प्राप्तपराजयः परवशक्लेशानशेषान् सहन्
जातः सङ्कुचितोदयो विदलितो दैन्यादिना कुण्ठितः ।
मोक्तव्यः परतन्त्रतानिगडितः सम्भूय सर्वैर्जनै-
रित्युद्घोषयतां तदा नयवतां वर्गे सगर्वोऽविशत् ॥३६॥

यत्र ज्ञानधना जनाः प्रवयसः सम्मानिताः सर्वथा
कृत्वाऽश्रान्तपरिश्रमं विलिखितं व्याख्यानमश्रावयत् ।
तत्रैव प्रथमं गतोऽपि तरुणः सद्यः स्फुरद्भावनो
गम्भीरेण मनोरमेण वचसा व्यस्मापयद्योऽलिखान् ॥३७॥

वाचा साधु सुधामुधामदमुचा चारित्र्यचामीकर-
भ्राजद्भूव्यविभूषणेन वयसा नव्येन तेजस्विना ।
पाटीरद्रवदिव्यभालतिलकेनाभीतिभूष्यात्मना
देशप्रेममदेन चोन्नतशिराः सर्वत्र योः द्योतते ॥३८॥

सौजन्यस्य निधिर्मधुः सुमनसां पुण्यात्मनामाश्रयो
मित्रं भारतवासिनां निरुपमः सत्कर्मणां शेवधिः ।
सौभाग्यस्य कुलाचलो नयवतां दीक्षागुरुः श्रीमतां
कीर्त्तिप्रीतिकरो नवोऽयमुदितः सिद्धिश्रियो वल्लभः ॥३९॥

अस्यां भारतसंस्कृतौ तु दयिता पत्युः सदैवानुगा
कीर्त्तिः किन्तु नवा प्रियाऽस्य पुरतः सर्वत्र सङ्क्रामति ।
एवं सत्यपि तां सतीं स्ववनितां विस्मृत्य कीर्त्तेः पुनः-
पश्चादेष विशेषवेशकलितो धावत्यहो विह्वलः ॥४०॥

ते नेत्रे अपि दुर्लभे त्रिभुवने ये भृङ्गगर्भाम्बुज-
स्फीतश्रीमदमर्दने सुविपुले कौटिल्यलीलागृहे ।
किन्तु स्थानजकालजव्यवहितिं भित्वातिदूरस्थितं
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतमञ्च लक्ष्यमचिरं ये विध्यतस्ते नुमः ॥४१॥

देशेऽस्मिन् जनजीवनस्य विषमक्षोभोद्भवा वीचयः
सन्त्यज्यात्मनिसर्गमांग्लवचसा वाचा च पारस्यया ।
न्यायाधीशगृहाङ्गणाग्रपुलिने वाचालिताः प्रत्यहं
हिन्दीवागनुरागचेतसि परां तेनुर्नवीनां व्यथाम् ॥४२॥

स्तन्येनैव सहापिबन्ति शिशवो यां मातुरङ्केशया
भाषां सम्यगुदीरयन्ति सुधियस्तां मातृभाषां यतः ।
तस्मात्सा जननीव वत्सलमयी वन्द्या विदां मण्डलैः
सेव्या भारतभारतीतिवचसा योऽबोधयद्देशजान् ॥४३॥

येनौचित्यवताप्रयागनगरे साहित्यसम्मेलनं
काश्यां न्यासि सभा[1] च शुभ्रचरितैर्विद्वद्भिरुद्बोधितैः ।
ते अद्याप्यनवद्यवैभवमयोद्भासा समुद्भासिते
स्वं स्वं कार्यमुरीकृतं प्रकुरुतो देशोदयायानिशम् ॥४४॥

राष्ट्रस्वान्तमनन्तदोषजनकैस्तैः पारतन्त्र्योद्भवै-
गढ़िध्वान्तचयैः समाकुलतरं कांग्रेसदीयार्चिषा ।
कामं दीपयितुं स्वराष्ट्रियसभाभासां प्रभूतोदये
स्नेहासारमयारमर्पितवतामग्रेसरोयोऽभवत् ॥४५॥

देशप्रेमतरुः स्वसंस्कृतिसुधाधाराभिरासेचितो
भव्याचारविचारपल्लवशतैरुल्लासितो भूरिशः ।
पाश्चात्यप्रखरप्रवातरयतो भूयः समान्दोलितः
सुस्थः सर्वसमृद्धिसिद्धिपिशुनो येनायमुद्वर्धितः ॥४६॥

धर्मप्राणमयेऽपि यत्र कुटिलैर्धर्मप्रचारोद्यतैः
सङ्घैर्हन्यत एव कूटविधिना हिन्दूजनानां गणः ।
संस्थास्तत्प्रशमाय काश्चिदसमा धर्मानुरागोद्धुरा
हिन्दूजातिहिताय येन विधिवत् संस्थापिताः सारदम् ॥४७॥

इत्थं धार्मिकचेतनां द्रढयितुं सामाजिकीं च स्थितिं
मर्यादां स्वकुलस्य च स्थिरयितुं हिन्दूसभाद्यास्तदा ।
संस्थाः स्थापयतापि राष्ट्रियसभाशक्तिप्रकर्षः कृतः
प्रायः सत्पुरुषे विरुद्धघटनाप्यालम्बते मित्रताम् ॥४८॥

देशं मोहनिशासु सुप्तमतुलैर्गीतैः समुद्बोधकै-
रुच्चैर्जागरयन्नदम्यविधिना भेजे मुहुर्वन्दिताम् ।
तत्रोत्साहयता कृतैरविरलैर्भव्यैः प्रयत्नैर्नवै-
र्निस्तन्द्रः शनकैः कृतोऽयमखिलो देशो विशेषो भुवः ॥४९॥

कांग्रेसाधिपतित्वमुत्तमतया वारत्रयं बिभ्रते
हिन्दीहिन्दुजनोदयाय सततं यत्नं हृदा तन्वते ।
दिव्यालोकमलौकिकं कलयते श्रीविश्वविद्यालयं
नित्योत्साहवते सदोपदिशते स्यान्नः प्रमाणाञ्जलिः ॥५०॥

[शेष आगामी अंक में]

---

[1] नागरिक प्रचारणी सभा ।

सूरदास : अध्ययन के कतिपय नये सूत्र

डॉ० शिवप्रसाद सिंह

सूरदास[1] वस्तुतः महान् कवि थे। हिन्दी में पुरानी परम्परा के अनुसार वे तुलसी के समकक्ष और कभी-कभी शुद्ध कवि के रूप में उनसे भी उच्चतर माने जाते रहे हैं। सूर एक भावप्रवण, प्रतिभा सम्पन्न तथा रससिद्ध कवि थे।

---

[1] सूरदास का जन्म वैशाख शुक्ल ५ सम्वत् १५३५ विक्रमी को हुआ था। [अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय] अब तक बहुत से विद्वान् उनका जन्म १५४० में हुआ मानते रहे हैं जो प्रामाणिक नहीं लगता। वल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार ये वल्लभाचार्य से उम्र में दस दिन छोटे बताये गये हैं। सूरदास के जीवन पर 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता,' इसी पर लिखी हरिराय की भाव प्रकाश टीका और गोस्वामी यदुनाथ लिखित 'वल्लभ दिग्विजय' से कुछ प्रकाश पड़ता है। पर ये तीनों ही स्रोत ऐतिहासिक तथ्यों के स्थान पर अनुश्रुतियों को ज्यादा महत्त्व देते प्रतीत होते हैं। भक्तमाल पर प्रियादास की टीका, मियां सिंह के भक्त विनोद, ध्रुवदास की भक्त नामावली आदि स्रोत तो और भी अधिक अविश्वसनीय सूचनाएँ देते हैं। उधर तत्कालीन मुगल सम्राट अकबर से सम्बन्धित फारसी वृत्तों, आइने अकबरी, मुंशियाने अबुल फजल तथा मुन्तखबुत्तवारीख में सूरदास नाम से जिन दो व्यक्तियों की चर्चा है, वे भक्तकवि सूरदास से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते हैं। सम्प्रदाय प्रसिद्ध स्रोतों से पता चलता है कि इनका जन्म दिल्ली के निकट सीही नामक गाँव में हुआ। विद्वानों में इस बात पर भी मतभेद है कि इन्हें ब्रह्मभट्ट मानें, सारस्वत ब्राह्मण कहें, या अब्राह्मण। साम्प्रदायिक स्रोत सारस्वत ब्राह्मण ही बताते हैं। बचपन से ही इनकी संगीत में रुचि थी। अट्ठारह वर्ष की अवस्था में विरक्त होकर मथुरा आये और विश्रामघाट पर रुके, किन्तु इस आशंका से कि कहीं अपनी बढ़ती हुई प्रसिद्धि से मथुरा के चौबे लोगों की हानि न हो, आगरा और मथुरा के बीच यमुना के किनारे गऊघाट पर रहने लगे। विनय के दीनतामूलक, वैराग्य-प्रधान पदों से स्पष्ट है कि आरम्भ में वे दास्य भाव की भक्ति में विश्वास करते थे। वल्लभाचार्य की कृपा से लीला का रस मिला और वे पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए। भक्तकवि सूरदास के वास्तविक जीवन का यहीं से आरम्भ समझना चाहिए। उन्होंने अपना शेष जीवन अपने आराध्य के चरणों में समर्पित कर दिया। पद लिखना और उन्हें भाव विभोर होकर प्रभु के सामने गाना, यही उनके जीवन की साधना थी। उन्होंने भागवत दशम स्कन्ध के आधार पर बहुत से पद लिखे जो सूरसागर के नाम से संकलित है। सूरदास की भगद्विषयक रति, संगीत निपुणता तथा उनकी सिद्धियों से सम्बन्धित अनेक चमत्कारिक कथायें सुनी जाती हैं। ऐसी कथाएँ बड़े व्यक्तित्वों

उनकी कीर्ति का मुख्य आधार 'सूरसागर' है, किन्तु उनकी दो अन्य रचनाएँ भी मानी जाती हैं—'सूरसारावली' और 'साहित्य लहरी'। सूर सारावली की कोई भी प्रामाणिक प्राचीन प्रति उपलब्ध नहीं होती। इसके सम्पादक श्री प्रभुदयाल मीतल का कहना है कि प्राचीनतम प्रकाशित प्रति १८८० विक्रमी की मिलती है जिसमें गुजराती अनुवाद दिया हुआ है। सूर विषयक सूचना देने वाली साम्प्रदायिक वार्ताओं, टीकाओं आदि में कहीं भी सारावली का उल्लेख नहीं है। राग कल्पद्रुम में प्रकाशित सूरसागर (१८९८ वि०) नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर प्र० सं० (१९२० विक्रमी) तथा वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित सूरसागर के साथ सम्बद्ध रूप में सारावली प्रकाशित हुई। बहुत दिनों बाद अब जाकर सारावली का स्वतन्त्र संस्करण श्री मीतल ने २०१४ विक्रमी में प्रकाशित कराया है। सारावली सूरसागर का सूचीपत्र मात्र नहीं है। यह सही है कि सूरसागर के अनेक पदांश इसमें ले लिये गये हैं किन्तु इसमें अनेक नवीनताएँ भी हैं। इसमें कृष्ण की सम्वत्सर लीलाओं का चित्रण है। रचना बहुत काव्यात्मक और प्रौढ़ नहीं है, पर साम्प्रदायिक नित्य सेवा आदि

के साथ प्रायः ही जुड़ती रहती हैं, जो उनके प्रति जनता की श्रद्धा का लोकमानसिक रूपान्तर होती हैं। वार्ता में गोलोकवास से सम्बन्धित जो वृत्त दिया गया है उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इनकी मृत्यु १६४० विक्रमी सम्वत् के आसपास कृष्ण की रासस्थली पारसौली में हुई। श्रीनाथ जी की आरती में उन्हें अनुपस्थित पाकर गोसाईं विट्ठलनाथ ने कहा कि "पुष्टिमार्ग कौ जिहाज जात है, जाको जो लेनो होय सो लेउ।" कुंभनदास, गोविन्दस्वामी और चतुर्भुजदास के साथ जब वे सूर के निकट पहुँचे तो वे अचेत थे। चेत आने पर चतुर्भुजदास की शंका पर कि उन्होंने आचार्य जी का यश नहीं गाया सूर ने कहा कि मेरे निकट आचार्य जी और भगवान् में कोई अन्तर नहीं है जो भगवद्यश है वही आचार्य जी का भी यश है। गुरु के प्रति अपनी आस्था उन्होंने "भरोसो दृढ़ इन चरनन केरौ" गाकर प्रकट की। गोसाईं विट्ठलनाथ के पूछने पर कि सम्प्रति उनके नेत्रों की वृत्ति क्या है उन्होंने 'खंजन नैन रूप रस माते' पद गाकर सुनाया। इससे पता चलता है कि अन्त समय में उनकी सम्पूर्ण चेतना आराध्य की रूपमाधुरी में पगी हुई थी। सूर जन्मान्ध थे, या जन्म के बाद कभी अन्धे हुए? इस तरह के प्रश्न भी उठते रहे हैं। इन प्रश्नों पर प्रामाणिक ढंग से कुछ नहीं कहा जा सकता। बाह्य और आन्तरिक जीवन को इतने विविध रंगरूपों में देखने वाले कवि को सहसा अंधा मान लेने का मन नहीं होता। इस तरह के सूक्ष्म द्रष्टा कवि जगत् को न देखते हुए भी अंधे नहीं होते। किसी रहस्यमय क्षण में कवि ने कभी विरहतप्त दो अतीन्द्रिय नयन देखे थे, उसी क्षण से उसे स्थूल पार्थिक वस्तुओं से विरक्ति हो गई। उन्होंने जगत् से आँखें फेर लीं। उन्हीं भाव विभोर अपार्थिव नेत्रों में कवि ने राधा के आँसू देखे थे—

"कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान
विरह तापित हेरि काहार नयाने
राधिकार अश्रु आंखि पड़ोछिले मने।"—रवि बाबू

के वर्णनों के कारण वल्लभ सम्प्रदाय में उसका महत्त्व अवश्य है। इस रचना की प्रामाणिकता के बारे में काफी विवाद है। साहित्य लहरी का प्राचीनतम छपा रूप बनारस के लाइट प्रेस का १८६९ वि० का संस्करण है। इसके नवलकिशोर प्रेस, खड्गविलास प्रेस और लहेरिया सराय के पुस्तक भंडार से प्रकाशित दूसरे संस्करण भी मिलते हैं। इस पर १९०४ सम्वत् में काशी नरेश ईश्वरीप्रसाद सिंह के सभाकवि सरदार ने टीका लिखी है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी इस पर टीका लिखी है। इसमें नायिका भेद अलंकार आदि के लक्षण और उदाहरण दिये हुए हैं। उसी रचना में वह प्रसिद्ध पद भी है, जो "मुनि पुनि रसन के रस लेख" से आरम्भ होता है और जिसके आधार पर सूरदास का जन्म संवत् १५४० में हुआ अनुमानित किया गया था। रचना की प्रामाणिकता संदिग्ध है। इधर इसके श्री मीतल और डॉ० मनमोहन गौतम द्वारा सम्पादित दो संस्करण प्रकाशित हुए हैं।

सूरसागर की उन्नीसवीं शताब्दी में छपी लीथो प्रतियाँ मिलती हैं। बाद में रागकल्पद्रुम, नवलकिशोर प्रेस और वेंकटेश्वर प्रेस के संस्करण प्रकाशित हुए। अब तक उपलब्ध हस्तलेखों में जयपुर के पोथीखाने की १६३० विक्रमी की प्रति सर्वाधिक प्राचीन है। इन हस्तलेखों से पता चलता है कि सूरसागर दो प्रकार की क्रम पद्धति से संकलित किया गया है। लीला क्रम और द्वादशस्कन्धी क्रम। सूरसागर के आधुनिक ढंग से सम्पादन का पहला कार्य स्व० रत्नाकर ने किया। उनके द्वारा सम्पादित संस्करण लघु खंडों में ना० प्र० सभा काशी से प्रकाशित हो रहा था, जो १४३२ पदों के प्रकाशन के बाद रुक गया। बाद में उस सामग्री का उपयोग करके श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने सूरसागर को दो खंडों में सम्पादित किया जो सभा से १९४८ और १९५० ई० में क्रमशः प्रकाशित हुए। यह द्वादश स्कन्धी क्रम से संकलित है! इधर विभिन्न पाण्डुलिपियों के आधार पर श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी द्वारा सम्पादित सूरसागर नवहिन्द पब्लिकेशन, हैदराबाद से प्रकाशित हो रहा है।

सूरसागर के पदों को वस्तु की दृष्टि से तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। विनय के पद, श्री कृष्ण लीला के पद और स्फुट पद। विनय के करीब सवा दो सौ पद हैं जो लीला क्रम वाली प्रतियों में अन्त में तथा द्वादशस्कन्धी प्रतियों में आरंभ में मिलते हैं। इन पदों में कवि ने जीवन की असारता, मन की चंचलता, वैराग्य के महत्व और अपनी अतिशय दीनता की अभिव्यक्ति करके भगवान् से करुणा के लिए प्रार्थना व्यक्त की है। सूरसागर का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंश कृष्ण-लीला है। यह अंश कृष्ण-जीवन के विविध प्रसंगों को उद्घाटित करता है। कृष्ण का बाल-जीवन, गोचारण तथा गोपी प्रेम का प्रसंग नाना लघु-लघु दृश्यों, घटनाओं और विरह-मिलन की अनेक अन्तर्दशाओं से समन्वित होकर बड़े ही काव्यात्मक ढंग से अभिव्यक्त हुआ है। कृष्ण की चमत्कारिक तथा अतिमानवीय अलौकिक लीलाएँ उनके मानवीय जीवन-चर्या-मूलक लौकिक लीलाओं से इस तरह अनुस्यूत की गई हैं कि उनका सम्पूर्ण चरित्र महा काव्यात्मक गरिमा से मंडित हो जाता है। स्फुट पदों में भागवत की श्रीकृष्ण लीला से भिन्न दूसरी कथाएँ संक्षिप्त ढंग से वर्णित हुई हैं। स्फुट पदों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश राम कथा का है, जिसे कवि न अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से वर्णित किया है। सूर की रामकथा मुक्तकों में विचित्र होने

के बावजूद मार्मिक जीवन प्रसंगों की उद्भावनाओं से कहीं वंचित नहीं हुई है। रामकथा के सभी भावपूर्ण स्थल बड़ी सूक्ष्मता के साथ चित्रित हुए हैं।

सूरदास के काव्य को सही ढंग से समझने के लिए अनिवार्य है कि हम उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर ध्यान दें। भक्ति आन्दोलन और भक्ति के विकास के क्रम में हम देखते हैं कि किस प्रकार नाना प्रकार की साधनाओं, लोक-धर्मों और जन-मानसिक-विश्वासों से समन्वित-मिश्रित होकर मध्यकालीन भक्ति का स्वरूप निर्मित हुआ। सूरदास के पहले लोक-मानस पर सिद्धों और निर्गुणियों का प्रभाव असंदिग्ध रूप से वर्तमान था। मुसलमानी आक्रमण से संत्रस्त देश में निराशा और दैन्य का भाव वर्तमान था। बौद्ध धर्म का अपेक्षाकृत अधिक उदार और लोकात्मक रूप महायान में प्रकट हुआ था, किन्तु वह सहजयान की गूढ़ साधनाओं में विलीन हो रहा था। सूरदास ने गूढ़ साधनाओं, यौगिक प्रक्रियाओं को अनावश्यक माना। निर्गुण को निष्प्रयोजन और निरर्थक कहा। उन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर नाथपंथियों और निर्गुणियों के रास्तों को अस्वीकार किया। सूरसागर के २९९१, ३०५२, ३१२५ संख्यक पदों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि वे नाथपंथ की विचारधारा से पूर्ण परिचित थे। उसी प्रकार २११९ वाँ पद निर्गुण साधना के विषय में उनकी जानकारी की सूचना देता है। दूसरी ओर वे वाह्य कर्म कांड, तीर्थ-व्रत आदि को भी हेय मानते थे। भगवान् के प्रति अनन्य प्रेम ही उनकी दृष्टि से एक मात्र रास्ता है। वे हरि इसी प्रेम के वश में होकर अपने भक्त का योगक्षेम वहन करते हैं। इसलिए इस प्रेम के आगे सब कुछ त्याज्य है। सूर को विश्वास था कि सच्चे और निश्छल प्रेम से ही गोपाल मिल सकते हैं:—

"प्रेम प्रेम ते होइ प्रेम ते पारहिँ पैयै
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ लहिए
साचैं निश्चय प्रेम को जीवनमुक्ति रसाल
साँचो निश्चय प्रेम को जिहि रें मिलैं गुपाल।" ।४७१३।

यही प्रेम सूर के काव्य की प्रेरणा शक्ति है। इस भाव की पुष्टि के लिए श्रीकृष्ण के जीवन से अधिक उर्वर क्षेत्र शायद ही कोई मिले। श्रीकृष्ण का सभी कुछ ललित है, सभी कुछ प्रेममय है। वे नन्द और यशोदा के पुत्र-प्रेम, ग्वाल-वालों के सखा प्रेम, गोपियों के कान्त प्रेम और राधा के अनन्य माधुर्य युक्त प्रेम के आधार हैं। इस प्रकार कृष्ण का चरित्र सूर जैसे प्रेमभाव को सब कुछ मानने वाले कवि के लिए प्रेरणा, उपजीव्य और शरणस्थल बन गया। कहा जाता है कि सूर ने 'भागवत' दशम स्कंध की कथा को ही मुख्य आधार बनाया, किन्तु उन्होंने भागवत का अनुवाद या रूपान्तर नहीं किया, बल्कि अनेक स्थलों पर कथा को अपनी नई उद्भावनाओं से अपेक्षाकृत अधिक भास्वर और संवेद्य बनाया है। उन्होंने मुख्य कथा के सूत्रों को लेकर अपनी व्यक्तिगत और तत्कालीन साहित्यिक रुचि के अनुसार नये प्रसंगों से गूंथ दिया है। अन्नप्राशन, वर्षगांठ, कनछेदन, श्रीधर अंगभंग, राधाकृष्ण का प्रथम मिलन, पनघट प्रस्ताव, दान लीला, हिंडोल लीला तथा वसंत और फाग के प्रसंग बिल्कुल मौलिक है। भागवत के आधार पर चित्रित प्रसंगों में भी कवि व्यक्तित्व की निजी छाप सर्वत्र दिखाई पड़ती है। सूर की गोपियाँ, उनके रीतिरवाज,

पहनावे, लोकधर्मी जीवन प्रणालियाँ, दूध-दधि वेचने के तौर-तरीके और मुहावरे, व्रत, त्यौहार, गाजे-बाजे तथा उत्सवों के मनाने के तत्कालीन ढंग-ढर्रे भागवत के प्रसंगों को बिल्कुल बदल देते हैं। सूरदास की अपनी कवित्वशक्ति, तन्मयता और चरित्रों की मानसिक गतिविधियों की विशिष्ट जानकारी इन प्रसंगों को नई शक्ति और जीवन्ता प्रदान कर देती हैं। वल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित उत्सव और सम्वतसर लीलाओं के ठाट-बाट, तौर-तरीकों का सूर को प्रत्यक्ष ज्ञान था। साथ ही वे घोष-जीवन की रंगीनियों और दिनचर्याओं से भी भली-भांति परिचित थे। ये दोनों ही तत्त्व उनकी रचनाओं को एक यथार्थवादी रंगत और गमक प्रदान कर देते हैं।

भगवान् की माधुरी चार प्रकार की है—रूप माधुरी, वेणु माधुरी, क्रीड़ा माधुरी और ऐश्वर्य माधुरी। कृष्ण के अनुपम रूप का सूर ने बड़े विस्तार से वर्णन किया है। बाल, पौगंड और किशोर ये तीनों ही अवस्थाओं के कृष्ण अपने भुवन मोहन रूप के द्वारा त्रैलोक्य को मुग्ध कर लेते हैं। जन्म की घड़ी में ही सुत 'मुख देखकर' नन्द विह्वल हो गए। सुत का मुँह देखते यशोदा ने झगरिन को 'ग्रीवा का हार' दे दिया। कृष्ण जन्म का समाचार पाकर झुंड की झुंड ग्वालिनें 'कंचन थार दूब दधि रोचन' लेकर 'बधावा' करने आईं। द्वार पर सात सीकों से सथिया (स्वस्तिक) बनाये गये। गलियां चतुस्सम सुगन्धि से महक उठीं। द्वार कलश और कदली खंभों से सुशोभित हुए। इस महान् हर्षोल्लास के पर्व पर सूरदास स्वयं ढाढ़ी के रूप में द्वार पर खड़े हो गये और नन्द महर से "अपने सुत को बदन दिखावहु" की प्रार्थना करते रहे। 'सोहिला' के गीत गाये गये। चन्दन के पालने का विश्वकर्मा सुतहार बने कामदेव सुनार, क्योंकि ऐसे भुवनमोहन बालक के लिए सामान्य पलना तो चाहिए नहीं। और तब यशोदा हरि को पालने झुलाने लगीं। ललन का अन्नप्राशन हुआ तो गुड्डे की तरह सजे बच्चे को नजर न लगे, इसलिए गाल पर काजल का टीका भी लगा दिया गया। दृष्टिदोष परिहार के लिए गले में कठुला और बघनखा भी डाला गया। कृष्ण घुटनों के बल चलने लगे। नन्द का मणिमय आंगन उनकी छवि को नाना रूपों में अपन हृदय-दर्पण में संजोने लगा। माता पीले झिंगुले और सतरंगी कुलही से सजे अपने छौने पर लाख-लाख बार बलि जाने लगीं। सिर पर लाल, पीली, श्वेत और नील मणियों की लटकनें ऐसी लगती मानों मंगल, गुरु, शुक्र और शनि एकत्र हो गये हैं। सूर छोटे से कन्हैया के रूप पर सम्पूर्ण विश्व और अन्तरिक्ष के सौन्दर्य को निछावर करने लगे। नन्द, यशोदा, गोपियाँ सभी इस बाल छवि को देखकर किसी अतीन्द्रिय आनन्द से बेसुध सी हो जातीं। ऐसे समय माता द्वारा दृष्टिदोष परिहार के लिए बघनखा पहनाने, राई नोन उतारने, तिनका तोरने आदि के कृत्य मातृ सुलभ आत्मीयता और सहजता के परिचायक बन जाते हैं। यहाँ वात्सल्य का एक ऐसा मनोरम लोक सामने आता है वहाँ सम्पूर्ण शारीरिक और मानसिक व्यापार शिशु में ही केन्द्रित हो जाते हैं। उसकी बाल सुलभ चेष्टाएँ माता-पिता और पुरजन-परिजनों को एक विलक्षण मानवीय भाव में डुबा देती है। रूप माधुरी के चित्रण में सूर का कवि रूप और भक्त रूप विचित्र ढंग से समन्वित हो जाते हैं। वे कलाकार की तरह तिल-तिल सजाकर कृष्ण की अनुपम मूर्ति का निर्माण करते हैं, किन्तु कलाकार की तरह वह मूर्ति सिर्फ उनकी सृजनात्मक आसक्ति का ही विषय नहीं बनती, बल्कि

वे मूर्ति के सामने भक्त की तरह आत्म समर्पण भी कर देते हैं। अनेक पदों के अन्त में सूरदास "बलि जाँऊ" कहकर वे अपनी इसी श्रद्धा और प्रणति को व्यक्त करते हैं। सूरदास की विशिष्टता यह है कि उनके रूप चित्रण में कहीं भी उनकी भक्ति उनके कलाकार को सौन्दर्य की विशुद्ध ऊँचाइयों की उपलब्धि में बाधा नहीं पहुँचाती। कला और भक्ति का ऐसा प्रसन्न समन्वय, ऐसा मणिकांचन संयोग शायद ही कहीं दिखे। वे अपनी इसी अद्भुत शक्ति के बल पर लौकिक और सांसारिक मांसल रूप को भी इतना गरिमामय बना देते हैं कि वह भौतिक पदार्थों की सीमाओं को अतिक्रान्त कर जाता है। इसीलिए राधाकृष्ण के मांसल और श्रृंगारिक चेष्टाओं के वर्णन भी, जिन्हें बहुत से लोग अश्लील कहने का साहस करते हैं, सौन्दर्य के पारस स्पर्श से इस तरह दीप्त होते हैं कि वे मन में अश्लीलता का दाह नहीं, एक अतीन्द्रिय पीड़ा जगा देते हैं।

बाल रूप के चित्रण में तो सूर बेजोड़ हैं ही, किन्तु उनकी रचनाशक्ति की सूक्ष्मता और क्षमता बाल क्रीड़ाओं और चेष्टाओं के चित्रण में अपेक्षाकृत ज्यादा उजागर और सफल दिखाई पड़ती है। बाल रूप के चित्रण में आश्रय के हृदय की प्रतिक्रियाओं का महत्त्व है तो बाल क्रीड़ा में आलम्बन कृष्ण के बाल मनोविश्लेषण की प्रधानता है। कृष्ण का मथानी पकड़कर हठ करना, तुतला कर बोलना, माखन रोटी माँगते हुए माँ के केश पकड़ लेना, चोटी छोटी होने पर अफसोस करना, चन्द्र खिलौना के लिए 'आरि' करना, माँ का थाली के जल में चन्द्र छाया दिखाकर समझाना और कृष्ण का थाली ढूँढ़ने पर उसे पकड़ न सकने पर रोना, खेल में दाऊ के खिझाने पर कृष्ण का माँ को उलाहना देना आदि प्रसंग इस प्रकार चित्रित हैं मानों कवि अपने भूले बालपन को एक नई अर्थवत्ता दे रहा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इन प्रसंगों की अद्भुत सहजता देखकर ठीक ही कहा है कि "सूर स्वयं वयः प्राप्त बालक थे।"[1]

पौगंड कृष्ण की लीलाएँ भी कम मादक और मधुर नहीं। माखन चोरी और गोचा- इस लीला के दो पहलू हैं। दोनों ही प्रसंग कृष्ण को नन्द आँगन से उठाकर बृहत्तर रंगमंच पर उतार देते हैं। आलम्बन वही है, आश्रय थोड़ा और वैविध्य पूर्ण हो जाता है। यह प्रेम का विस्तार है, कुटुम्ब और परिवार का विस्तार है। यहाँ एक आँगन में अनेक आँगन और एक घर में अनेक घर समाहित हो जाते हैं। सारा गोकुल बाललीला का क्षेत्र बन जाता है। सभी गोपियाँ वात्सल्य में डूब जाती हैं। माखन चोरी के प्रसंग में यशोदा से गोपियों का उपालंभ एक विचित्र प्रकार के रस की सृष्टि करता है। यह उपालंभ ऊपर से आरोपमूलक होते हुए भी आन्तरिक सौमनस्य और कृष्ण के प्रति वात्सल्य और प्रेम के भावों के कारण विलक्षण लगता है। उपालंभ से क्रुद्ध होकर कृष्ण को ताड़ना देने के लिए उद्यत यशोदा को गोपियाँ कठोर और निर्मम कहकर फटकारती हैं।

सूर ने गोचारण लीला का जैसा विशद और मार्मिक चित्रण किया है, वैसा हिन्दी में अन्यत्र दुर्लभ है। हमारे देश में उस प्रकार के काव्य नहीं लिखे गये, जैसे पश्चिम के गोचारण काव्य (पेस्टोरल पोयट्री) हुआ करते हैं। वहाँ ग्राम जीवन को आधार बनाकर गीत,

---

[1] हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० १००

कथा काव्य, काव्य नाटक तथा प्रशस्ति काव्य लिखे गये जिनमें ग्रामीण जीवन की सहजता, उन्मुक्तता और निरलंकृत मानवीयता का चित्रण हुआ है। हमारे यहाँ मध्यकालीन साहित्य में ग्राम जीवन के प्रति प्रायः ही उपेक्षा का भाव दिखाई पड़ता है। सूरदास ने इस ओर ध्यान दिया और उन्होंने ब्रज के ग्रामीण जीवन को बहुत अच्छी तरह प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। यह सही है कि उनकी दृष्टि कृष्ण-लीला पर केन्द्रित रही है, इस कारण तत्कालीन ग्राम जीवन अपनी विविधता और समग्रता के साथ उपस्थित नहीं हो सका है, पर सूर ने लीला के परिवेश के रूप में ग्राम जीवन का जितना भी अंश सामने रखा है वह उनकी संसक्ति और अभिनिवेश के कारण काफी जीवन्त और जाग्रत प्रतीत होता है। सूर ने इस अंश में पशुओं के स्वभाव, चरवाहों की दिनचर्या, कलेवा, छाक आदि के ढंग का स्वाभाविक वर्णन तथा विपिन, चरागाह तथा गोधूलि वेला का बड़ा मनोरम चित्रण किया है। ग्वालों का एक साथ बैठकर पुरइन के पत्ते पर सम्मिलित भोजन करना, कृष्ण का दूसरों की पत्तल से ले लेकर खाना तथा एक दूसरे की गायों की सुरक्षा के लिए बिना भेदभाव के प्रयत्नशील रहना आदि व्यापार ग्वालों के सामूहिक जीवन के सूचक हैं। सूरदास से गायों के रंग रूप का विवरण सुनिए :—

"अपनी अपनी गाइ ग्वाल सब आनि करौ इक ठौरी।
धौरी, घूमरि, राती, रौंछी बोल बुलाइ चिन्हौरी।।
पियरी, मौरी, गोरी, गेंनी, खैरी, कजरी जेंती।
दुलही, फुलही, भौंरी, भूरी हाँकि ठिकाई तेती।।"

कृष्ण गायों के इस झुंड और चरवाहों के साथ वृन्दावन की ओर चल देते हैं। गोचारण के इस सुख के आगे उन्हें रमा सहित वैकुण्ठ भी फीका लगता है।

गोचारण के दिनों में ही कृष्ण की शक्ति और ऐश्वर्य को प्रकट करने वाली कई घटनाएँ भी घटित हुईं। जल, दूध, अन्न और गोधन पर होने वाले उत्पातों को कृष्ण ने दूर किया। उन्होंने बकासुर, अघासुर, धेनुक और कालिय का दमन किया। दावानल शान्त करके गोपों और गोपालों की रक्षा की। गोचारण के सहज आत्मीयतापूर्ण जीवन के बीच घटित होने वाले उत्पातों और उनके निवारण की ये लीलाएँ कृष्ण के व्यक्तित्व में माधुर्य के साथ ही साथ ऐश्वर्य और शक्ति का अद्‌भुत समन्वय करती हैं।

गोपियों के साथ किशोर कृष्ण की प्रेम-लीला तो माधुर्य की चरम स्थिति का सूचक है ही। सूर केवल वात्सल्य और बालक्रीड़ा के चित्रण में ही बेजोड़ नहीं है, बल्कि शृंगार की विविध स्थितियाँ तथा उसकी व्यक्तिगत तथा सामूहिक अन्तर्दशाओं के चित्रण में भी वे सिद्धहस्त थे। यद्यपि उन्होंने शृंगार के चित्रण में पुरानी साहित्यिक परिपाटी के चौखटों को तोड़ा नहीं, बल्कि उसका पुरस्सर अनुसरण ही किया तथापि उनके द्वारा चित्रित शृंगारिक स्थितियाँ कहीं भी निर्जीव और धूमिल नहीं लगती। राधा और कृष्ण के प्रेम का इतना विशद और मार्मिक चित्रण किसी भी भारतीय कवि ने प्रस्तुत नहीं किया। राधा-कृष्ण मिलन के प्रथम क्षण से लेकर कृष्ण के मथुरा गमन तक की लीला संयोग शृंगार की विविध चेष्टाओं, स्थितियों और दृश्यों से भरी हुई है। यद्यपि लीला क्रम या द्वादश स्कन्धी क्रम से संकलित इन संस्करणों में शृंगार के क्रमिक विकास की सभी अवस्थाएँ ठीक-ठीक एक के

बाद एक नहीं मिलतीं, परन्तु श्रृंगार-चित्रण की परिपाटी को जानने वाला व्यक्ति बड़ी आसानी से इन अवस्थाओं के पदों को अलग करके रख सकता है। कवि ने कृष्ण की रूप-माधुरी का तो वर्णन किया ही है. राधा के रूप के चित्रण में भी उसकी तन्मयता कहीं खंडित नहीं होती। प्रथम दर्शन में ही "नैंन नैंन मिलि परी ठगोरी।" प्रेम की ठगोरी, ढगलाडू, ठगमूलि, ठगमोदक का बार-बार उल्लेख प्रथम दर्शन से उत्पन्न उस मानसिक स्थिति का द्योतक है, जिसे आचार्य लोग प्रेम वैचित्य कहते हैं। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि राधा और कृष्ण का प्रेम तारक-मैत्री या प्रथम दर्शन से उत्पन्न आकस्मिक प्रेम था। वस्तुत: या नित प्रति के जीवन के बीच धीरे-धीरे स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ। आचार्य शुक्ल के शब्दों में इसे हम "जीवनोत्सव" के रूप में पाते हैं। निरन्तर देखते रहने की इच्छा (प्रेमा) उस व्यक्ति की चिन्ता (अभिलाष) उसकी आसक्ति (राग) आसक्ति का आधिक्य (प्रणय) वियोग न सह सकने का भाव (प्रेम) साथ रहने की आकांक्षा तथा उस व्यक्ति के साथ क्रीड़ा (संयोग) य श्रृंगार की क्रमिक स्थितियाँ हैं। इन स्थितियों के बीच-बीच में सूर ने सखी, मंडन, उपालंभ, शिक्षा, परिहास, दूती, अभिसार आदि का भी यथावसर नियोजन किया है। आचार्य शुक्ल ने ठीक ही लिखा है—"हिन्दी साहित्य में श्रृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया तो सूर ने।" वियोग पक्ष में अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उत्कंठा, उन्माद, विपर्यास, व्याधि, जड़ता आदि स्मरदशाओं का भी निरूपण किया है। जैसा मैंने पहले ही कहा कि यद्यपि उन्होंने परिपाटी का तिरस्कार नहीं किया, पर रूढ़ परिपाटी उनकी मौलिक उद्भावनाओं और कथ्य की संवेदनीयता के कारण पूर्णत: अन्तर्भुक्त हो जाती है। उसका अलग अस्तित्व नहीं रहता।

सूर के संयोग वर्णन में कहीं-कहीं स्थूलता और नग्नता अवश्य आ जाती है, किन्तु इसे आज की नैतिकता के चश्मे से देखना कवि के साथ अन्याय ही होगा। सूर की प्रतिभा का सही निदर्शन विरह-गीतों में दिखाई पड़ता है। विरह वर्णन में कवि-मानस का जैसे सायुज्य हो गया है। सूर के विरह की सबसे बड़ी विशेषता यही अनुभूतिजन्य सच्चाई है, जिसके कारण एक ही भाव के पद बार-बार दुहराये जाते हैं, पर कहीं भी कृत्रिमता प्रतीत नहीं होती। कवि का चित्त जैसे स्वयं इसी प्रकार की एक निजी विरह-वेदना अपने हृदय में संजोये था, जो गोपियों के आँसुओं में उमड़ चली। यह विरह वर्णन कहीं से भी ऊहात्मक और छिछला नहीं लगता। विरहिणी राधिका की गंभीरता, सहनशीलता और तीव्र से तीव्र दु:ख की अवस्था में भी उनकी संस्कारी और मर्यादित प्रतिक्रियाएँ इस विरह को विशिष्ट बना देती हैं। कृष्ण के वियोग के लिए अपने भाग्य को दोषी बताना, कभी भी उनके आचरण पर व्यंग्य न करना, उलाहना न देना, तीव्र व्यथा को मौन सह जाना तथा प्रिय के सुख के लिए निरन्तर शुभेच्छा से भरी होना राधा के चरित्र की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो इस विरह को गरिमा और गौरव से मंडित बना देती हैं। ऊपर से नितान्त संयत और मर्यादित रहने वाली राधा भीतर ही भीतर कितनी उन्मथित है। जाते समय फेंटा पकड़ कर रोका भी नहीं, न पवन हो सकी, न रथ की पताका न तो उन चरणों के नीचे की धूलि ही। राधा की ये भावुक प्रतिवेदनाएँ उनके चरित्र को संयत और मर्यादित के साथ ही साथ मानवीय और जीवन्त भी बना देती हैं।

राधा की पीड़ा इतनी व्यापक और 'गहिर गभीर' हो उठती है कि सम्पूर्ण प्रकृति उसी में डूब जाती है। प्रकृति के उपादान केवल उद्दीपन के रूप में ही यहाँ चित्रित नहीं हुए हैं बल्कि वे विरहिणी के दुःख के सहचर और सहभोक्ता के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं। जहां भी विरहिणी को प्रकृति की घटनाओं और दृश्यों में अपनी मानसिक स्थिति का प्रतिविम्ब दीखता है वह सहानुभूति द्रवित होकर प्रकृति को अपनी आशीष और शुभेच्छाओं से नहला देती है, किन्तु जहाँ उसे तारतम्य या विषमता दीखती है, वह प्रकृति की कृतघ्नता पर आक्रोश भी व्यक्त करती है, तथापि संवेदना और आक्रोश दोनों ही स्थितियों में उसके भीतर विद्यमान विरह की तीव्रता में कोई भी अन्तर नहीं आता। गोपियों की शुभेच्छा और खीझ के ये वर्णन पाठकों को कहीं भी हास्यास्पद या निरर्थक नहीं लगते क्योंकि इन असम्वद्ध प्रलापों और असामान्य चेष्टाओं के माध्यम से व्यक्त, विरहपीड़ा का तीव्र प्रवाह अपनी तरंगों में तर्कवुद्धि को वहा ले जाता है। विरह में ही 'भ्रमरगीत' प्रसंग भी है और चन्द्रोपालंभ भी। ये दोनों ही पद्धतियाँ प्राचीन संस्कृत कवियों द्वारा विरह-वर्णन में अपनाई जाती रही हैं। सूर की विशेषता यह है कि उन्होंने इन वर्णनों में परिपाटी का निर्वाह मात्र नहीं किया, वल्कि इन्हें अपनी भाव प्रवणता और अभिव्यक्ति वक्रता के द्वारा महत्वपूर्ण वना दिया। सूर का भ्रमरगीत तो वचनभंगिमा और वक्रोक्ति वैभव का भांडार ही है। किन्तु इन चमत्कारिक उपलब्धियों ने उनके मन की सान्द्र विरह पीड़ा को कहीं से भी खंडित नहीं किया।

सूर ने समाज की उपेक्षा की; ऐसा प्राय: कहा जाता है सूरदास ने लोकोपयोगी साहित्य नहीं लिखा, पर लोक जीवन की उपेक्षा नहीं की। उन्होंने कृष्ण-जीवन के उन पक्षों पर जोर नहीं दिया जो उनकी लोकरक्षकता को प्रस्तुत करते हैं। तुलसी का मानस सत् और असत् के बीच संघर्ष का जो चित्रण करता है, वह किसी भी काल के लोक जीवन के लिए प्रेरणा हो सकता है, उनके द्वारा चित्रित आदर्श लोक जीवन के लिए संवल बन सकते हैं, पर तत्कालीन संस्कृति और समाज के विभिन्न तत्त्वों का सही चित्रण तुलसी की अपेक्षा सूर के काव्य में ज्यादा मिलता है। उत्तर मध्यकालीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन के लिए जायसी के पद्मावत के बाद सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काव्य सूरसागर ही है। इससे लोगों को आश्चर्य हो सकता है, पर तत्कालीन वस्त्र, आभूषण, भवन निर्माण, शासन, ललित कलाओं संगीत, नृत्य, वाद्ययंत्र आदि तथा लोकसंस्कृति के अनेक उपादानों, रहन-सहन के तरीकों, अन्ध विश्वासों, लौकिक व्रत उपवासों, तीज त्यौहारों, टोने-टोटकों और जन्म-मरण और विवाह आदि पर किये जाने वाले लौकिक रीति-रिवाजों का जितना विस्तृत उल्लेख सूरने किया है, तुलसी ने नहीं। तुलसी की दृष्टि आदर्शों पर रही है, वे मूल्यों के कवि हैं। समाज के विभिन्न पक्षों के ब्योरे पर उनका ध्यान नहीं गया। यहाँ उपर्युक्त तमाम बातों की विस्तृत जानकारी देना संभव नहीं है। फिर भी एकाध उदाहरण लेकर इसे समझा जा सकता है। सूरदास ने ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया है, जो उनकी मुसलमानी-शासन विषयक जानकारी सूचित करते हैं। जैसे :—

सिकदार [१०-३२९,] परगना हाकिम। नकीब [१-१४१,] बादशाह से मिलने आये लोगों का नाम पुकार कर बुलाने वाला अधिकारी। आवरजा [१-१४२] जमाखर्च की बही।

अहदी [१-६४,] कोतल सैनिक, वलपूर्वक मालगुजारी वसूल करने वाले सिपाही] पटवारी [१-१८५], जगात [१०-१५०६, जकात टैक्स] मसाहत [१-१४२ तहकीकात] सिरोपा [५८७, खिलअत] खवास (२४७६, राजकीय नौकर,) मोहरिल [१-१४३, मुर्हरिर] दस्तक (१-१४३ हुक्म नामा, कुर्की) कुतवाल (१-६४, कोतवाल) गुजरान मुसाहिब (१-१४२ पालित पार्षद) आदि ।

मुगलकाल की एक वड़ी दिलचस्प घटना है कि हुमाऊं ने एक रोज के लिए एक भिश्ती को वादशाह बनाया था, जिसने चमड़े के सिक्के चलाये । गोपियाँ कृष्ण पर कुब्जा के अधिकारों पर व्यंग्य करती हुई कहती हैं कि वह चमड़े का दाम चला रही हैं ।

“सिर पर सौति हमारे कुब्जा
चाम के दाम चलावै” [४२७६]

यह ऐतिहासिक घटना सूर के जीवन काल में ही घटी और उन्होंने इस मजेदार व्यंग्य को कुब्जा पर फिट कर दिया । सूरदास ने शाही मुद्रा से अंकित उन फ़रमानों का भी जिक्र किया है जो शासन द्वारा किसी को सौंपे गये अधिकारों के प्रमाण स्वरूप दिये जाते थे । इस तरह के प्रमाणपत्रों को उस जमाने में ‘छाप’ कहा जाता था । सूर ने इस शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है ।

१—‘मांगत छाप कहा दिखराओ को नहि हमको जानत ।
सूर स्याम तब कह्यो ग्वालि सों तुम मौकों क्यो मानत ।’१०८८।

२—‘कहा दिखावहु छाप’ । १०-१५०७ ।

तत्कालीन शासन सम्वन्धी ये तथ्य सूरसागर में जिस प्रकार अनुस्यूत हो गये हैं उससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सूर की दृष्टि सामाजिक पक्ष की अवहेलना नहीं करना चाहती । सूर के पदों की इतनी मार्मिकता और प्रभावोत्पादकता का एक बड़ा कारण उनकी गीतात्मकता है । सूर के गीतों में अकवरकालीन इमारतों की भव्यता नहीं, शाहजहाँ के ताजमहल की मसृणता और कोमलता है । ये गीत कवि-मन की सान्द्र अनुभूतियों से लवालव भरे हैं । विरह के गीतों में अंधे गायक के मन की समूची निर्जनता और एकाकीपन की पीड़ा मुखरित है । भावों की गहराई, अन्विति और संगीत इन गीतों का प्राण तत्त्व हैं । जहाँ शब्द अतीन्द्रिय पीड़ा की तीव्रता को संभाल नहीं पाते, वहां भी सूर की संगीतात्मकता इन गीतों को उच्च विन्दु से उतरने नहीं देती । सूर संगीत के आचार्य और कलाकार थे । उन्होंने सूरसागर में अनेक स्थानों पर राग रागिनियों और ‘सप्तक सुरसंधान, [१५३९] का उल्लेख किया है । वे “संगीत-रीति” [१-२०५] के जानकार थे । राग-रागिनी, नृत्य की गतियों और अनेकानेक वाद्य यंत्रों का उन्होंने न सिर्फ उल्लेख किया है वल्कि उन उल्लेखों से उनकी विशेषज्ञता भी प्रकट होती है । सूर ने कृष्ण-लीला के पदों को गाने के उद्देश्य से ही लिखा था । इन्हें वे प्रतिदिन स्वयं गाकर सुनाते थे । शास्त्रीय और लोकसंगीत दोनों ही पद्धतियों में ये गीत लिखे गये हैं । असावरी, गौरी, मालवा, कान्हरा, हिंडोला, [२२७९] कामोद (८०९) कर्णाटी गौरी [३११] मल्हार [२२७९] धमार [२४२९], ध्रुवपद [२४४७] दादरा, “सारंगनट पूर्वी मिलि के राग अनूपम गाऊं” (पृ० ३११) बंगाली

[२३९७] विलावल [२४०६] केदारो [१०-१९७] मारू (२८४०) सुहवी सारंग टोड़ी भैरवी केदार (२२७९) आदि उल्लेखों से प्रकट हो जायेगा कि संगीत सूर की आत्मा में किस तरह वसा हुआ था। यही नहीं, सूर ने अनेक बार नये-नये प्रयोगात्मक रागों के निर्माण का भी उल्लेख किया है। वे यंत्र और यंत्री के सम्वन्धों के भी पूर्ण जानकार थे।

भाषा के तो वे महान् पारखी और निर्माता थे ही। सूर के पहले दो ढाई सौ वर्षों से व्रज भाषा में साहित्य लिखा जा रहा था, मगर व्रजभाषा को उसका परिनिष्ठित और सशक्त रूप तो सूर ने ही प्रदान किया इसमें संन्देह नहीं। सूर की भाषा अभिव्यक्ति की सूक्ष्मताओं से भरी हुई लचीली और संगीतमयी है। यह भाषा तत्सम शब्दों के प्रयोगों की बहुलता के बावजूद लोकतत्त्वों से विहीन नहीं है। परिनिष्ठित भाषा के बीच-बीच में ग्रामीण शब्द, मुहाविरे, लोकोक्तियाँ बेलबूटों की तरह टंकती चली जाती हैं। अरबी, फारसी और तुर्की शब्दों के प्रयोग से उन्हें एतराज न था, वशर्ते ये शब्द उनके कथ्य की अभिव्यक्ति और गरिमा में सहायक हों। उक्ति वैचित्र्य, वक्रोक्ति-भंगिमा, अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग सूर की भाषा को अद्‌भुत गठन, कसाव और लोच दे देते हैं। उत्प्रेक्षा के तो वे सिद्धहस्त प्रयोक्ता थे ही। वार्तालाप, वचन-वक्रता, परिहास, व्यंग्य-विनोद की संस्कारिता उनकी भाषा का एक विशेष गुण है। भक्तमाल के कवि ने भाषा और अर्थ को इसी अद्‌भुत संयोग की ओर संकेत करते हुए कहा था—

"उक्ति चोज अनुप्रास वरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अद्‌भुत तुक धारी॥
प्रतिविम्बित दिवि दृष्टि हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रचना परकासी॥
विमल बुद्धि गुन और की जो यह गुन श्रवननि धरै।
सूर कवित सुन कौन कवि जो नहि सिर चालन करै॥"

तंत्र-साधना

भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'

तंत्र भारतीय जीवन, संस्कृति और साधना का प्रयोगपक्ष है, जिसे भ्रमवश अधिकांश विद्वानों ने और तो और विंटरनीट्ज जैसे महापण्डित ने भी शाक्तों का साहित्य मान लिया है। तंत्र का प्रयोगात्मक प्राधान्य वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य आदि सभी साधना प्रणालियों में है और सच तो यह है कि तंत्र के बिना साधना का ककहरा भी नहीं खुलता। वैज्ञानिक सत्यों और सिद्धान्तों का जिस प्रकार प्रयोगशाला में परीक्षण-निरीक्षण हो चुकने के बाद ही उनकी सत्यता पर मुहर लगती है, उसी प्रकार तंत्र की कसौटी पर कसे जाने के पश्चात् ही साधना की युक्तियुक्तता एवं प्रामाणिकता सिद्ध होती है। तंत्र के संबंध में फैली हुई अनर्गल अप्रामाणिक किंवदन्तियों के कारण इसके प्रति जन साधारण में अनास्था या अनादर का भाव परिव्याप्त है और इसे 'तंतर-मंतर', झाड़-फूंक, ओझा-डायन का पर्यायवाची मान कर तांत्रिक शब्द के प्रति कुत्सा का भाव जुड़ गया है। तंत्र के प्रति उपेक्षा का यह भाव हमारे अज्ञान का द्योतक है और सर्वथा अक्षम्य।

प्राचीनता और व्यापकता की दृष्टि से वेदों के बाद तंत्रों का ही स्थान है। यह कहना अनुचित अथवा अप्रासंगिक नहीं होगा कि बौद्धों के बहुत पहले से इस देश में तंत्रों का प्रभाव जम चुका था। भगवान् शंकराचार्य ने जहाँ-जहाँ मठ स्थापित किये, वहाँ-वहाँ भी साधना के मूलाधार के रूप में तंत्रों की प्रमुखता अक्षुण्ण रही और कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक साधना के मूल प्राण रूप में तंत्र अनादि काल से किसी-न-किसी रूप में चले आ रहे हैं। वैदिक संस्कृति की आचारमूलक परम्परा का शनैः-शनैः ह्रास होता गया है; यद्यपि औपनिषदिक साधना एवं विचारधारा के प्रति आस्था बढ़ी है।

दर्शन, ज्ञानविज्ञान, मनोविज्ञान, प्राणिविज्ञान, कामविज्ञान, मनोविश्लेषण, तत्वज्ञान, आत्माभिसूचन, औषधि, रसायन, दूरदर्शन, दूरस्वन, अर्थात् जीवन के प्रायः सभी आवश्यक अनिवार्य विषयों को लेकर तंत्र में अपार साहित्य विद्यमान है। इस प्रकार तंत्र को ज्ञान-विज्ञान का विश्वकोश कहा जाना चाहिए। तंत्र निराधार हवाई उड़ान नहीं भरा करते; यद्यपि वे प्रयोग के क्षेत्र में सूक्ष्मातिसूक्ष्म लोकों में सहज भाव से विचरण करते हैं और साधक को लोक-लोकान्तरों का दर्शन कराते हुए लोकातीत अद्वय स्थिति में प्रवेश करा देते हैं। तंत्र चिन्तन का आश्रय नहीं लेते, वे प्रयोग और अनुभव के सहारे मानव-मन को ऊँचे से ऊँचे और गहरे से गहरे में पहुँचा कर उस स्थिति में प्रवेश करा देते हैं, जिसमें तत्त्व को तत्वज्ञान चिन्तन के सहारे पहुँचना चाहता है। एक का मार्ग अनुभव का है दूसरे का चिन्तन का। तंत्र में कल्पना या अनुमान का कोई स्थान नहीं है—वहाँ प्रयोग और अनुभव की सीढ़ियों के साधक सिद्धि के शिखर पर पहुँचता है, अपने आपको उद्घाटित करता हुआ, खोलता हुआ, अपने पिण्ड के भीतर ही ब्रह्माण्ड के विविध स्तरों, लोक-लोकान्तरों का दर्शन

करता हुआ वह उस स्थिति में पहुँच जाता है जहाँ शिव और शक्ति का पूर्ण 'सामरस्य' है। सत्य जीवन में अनुभव का विषय है सहज चिन्तन का नहीं; तंत्रों की यही मान्यता है।

इसी दृष्टि से तंत्र का निजत्व है, वैशिष्टय है, अपनी स्वतंत्र सत्ता है। तंत्र का अभिप्राय है जीवन की कला, अध्यात्म की प्रयोगात्मक व्यावहारिक सौन्दर्यानुभूति। रहस्य के लोक में भी तंत्र प्रकाश लेकर चलता है—वह कभी रहस्य की रहस्यमयता से अभिभूत या परास्त होना नहीं जानता। जीवन और जगत् को खोल-खोलकर देखने का अर्थ है जीवन और जगत् की समस्त संभावनाओं को स्वीकार करके चलना और उन्हें अपनी आँखों देखना, अपने अनुभव से परखना। परिकल्पना या हाइपोथेसिस तंत्र में है नहीं। जीवन और जगत् में आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि एवं उपभोग के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि जीवन और जगत् के प्रत्येक तत्त्व को अधिकृत कर हम उसे अपने अधीन लावें और व्यावहारिक दृष्टि से उस पर अपना शासन स्थापित करें। तंत्र का यही प्रयोगात्मक-'प्रैगमैटिक' पक्ष है। प्राकृतिक और आध्यात्मिक शक्तियों का पोषण और दोहन तंत्र द्वारा ही संभव है। इस प्रकार तंत्र पूर्ण जीवन के उच्चतम विकास का सहज साधक है।

लक्ष्य को लेकर तंत्र और उपनिषदों में कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही 'तत्त्वमसि' का प्रतिपादन करते हैं। शिव और शक्ति की अभिन्नता के द्वारा तंत्र भी हमें उसी अद्वय अवस्था में पहुँचा देते, जिसमें उपनिषद् आत्मा-परमात्मा की एकता द्वारा पहुँचाते हैं। कुलार्णव तंत्र में द्वैताद्वैत विलक्षण स्थिति में गगनोपम आनन्द स्थिति का जो उल्लेख है, वह उपनिषदों की ब्रह्माकारकारित वृत्ति से भिन्न नहीं है। जीवन की कला के रूप में तंत्र आत्मोद्घाटन की प्रक्रिया मानते हैं। इस पिण्ड के भीतर ही ब्रह्माण्ड का सारा रहस्य, सारा तत्त्व, सारा दृश्य, सारा लोक-लोकान्तर समाया हुआ है। इस पिण्ड के अंदर ही काशी है, मथुरा है, अयोध्या और प्रयाग, बदरीनारायण और रामेश्वरम् हैं। इसके लिए बाहर भटकने या भरमने की आवश्यकता नहीं। तंत्र व्यावहारिक विज्ञान हैं और आत्म-ज्ञान की उपलब्धि के लिए वे कोरी कल्पना का सहारा नहीं लेते—पुण्य की एक-एक पंखुड़ी को भलीभाँति देखकर पूरे फूल का अनुभव लेते हैं। यही इनका वैशिष्ट्य है। उपनिषद् की भाँति तंत्र भी 'जीवोब्रह्मैवनापरः' के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं परन्तु इस सिद्धान्त के व्यवहार पक्ष पर तंत्र का विशेष बल है, जब उपनिषद् इसके चिन्तन-पक्ष पर और विचार पक्ष पर विशेष बल देते हैं। तंत्र जीव को पशुत्व से उठाकर शिवत्व में स्थापित करता है, सान्त से मुक्त कर अनन्त में प्रतिष्ठित करता है। तंत्र शक्ति का आधार लेते हैं जो शिव से अभिन्न है, परन्तु शिव शक्ति का अतिक्रमण करता है। शक्ति है गति, शिव है शान्ति। शिव शक्ति के बिना शव है। परन्तु स्वतः शिव शान्त अद्वैत परमास्थिति है इसीलिए शिव की छाती पर शक्ति-स्थिति के ऊपर गति। स्थिति का आधार न हो तो गति हो कैसे सकती है? शिव अस्तिनास्ति से परे हैं—सदाशिव रूप में—वही परात्पर सत्य हैं, कूटस्थ सत्य हैं। शक्ति शिव में समाहित है, शिव शक्ति में अधिष्ठित हैं—अतएव परस्पर पूरक हैं—अर्धनारीश्वर रूप में। शक्ति के द्वारा शिव अपने को विश्व में अभिव्यक्त करते और पुनः शक्ति के द्वारा ही अपने आप में विश्व को लय कर लेते हैं। सृष्टि और प्रलय उनकी डमरू के दोनों छोर हैं जिन्हें एक साथ वे 'डिमडिमाते' हैं।

शक्ति सृष्टिरूपा है, शिव में ही उसका निवास है। विश्व के विविध लीला विलास में शिव और शक्ति की क्रीड़ा ही व्याप्त है और प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक नारी (पशु, पक्षी, कीट, पतंग, वृक्ष, लतादि) में शिव और शक्ति का ही लीला विलास चल रहा है। तंत्र हमारी इन्द्रियों को उन्मुक्त कर इसी चेतना और आनन्द से परिप्लुत कर देता है। प्रकृति में सर्वत्र अखण्ड भाव से जो नर और नारी का हावभाव विलास खिलखिला रहा है उसके मूल में शिव और शक्ति की लीला ही तो चरितार्थ हो रही है। वह व्याप्त भी है, परात्पर भी है। एक ही साथ इमनैंट (सर्वव्यापक) भी है, ट्रांसेंडेंट (अतिक्रान्त) भी है। कुछ भी उससे रहित नहीं है, परे नहीं है। वही शिव और शक्ति उपनिषद् की ईश्वर और माया है, पाश्चात्य दर्शन का 'बीइंग' ओर 'बिकमिंग' है। यह विश्व स्वयं विश्वनाथ का शरीर है इसलिए यहाँ कुछ भी अशुभ, अप्रिय, अमंगल नहीं है, कुछ भी घोर नहीं है क्योंकि अघारे का लीला स्थल है। यहाँ श्मशान का देवता भी साक्षात् शिव हैं। फिर भी शिव व्यक्ताव्यक्त से अतीत है क्योंकि परे हुए बिना लीला का संचालन कैसे होगा और व्याप्त हुए बिना उसमें माधुर्य और सुषमा का सन्निवेश कैसे होगा ? इसीलिए वह दोनों है, और दोनों से परे भी, द्वन्द्व भी, द्वन्द्वातीत भी, चर-अचर में व्याप्त भी, इनसे परे भी। उस परात्पर तत्त्व के संबंध में तंत्र और वेदान्त एकमत हैं। तात्त्विक दृष्टि से 'वह' परात्पर है परन्तु शास्त्र दृष्टि से वही अपने नाना लीला विलास से सृष्टि में क्रीड़ा कर रहा है। वह है—इतना ही नहीं, सब कुछ 'वहीं' है 'वही हैं'—इसी ज्ञानबोध को तंत्र विश्व के नाना रूपों, विलासों, क्रियाओं द्वारा चरितार्थ करता है—यही है तंत्र का विनियोग पक्ष।

शक्ति की स्वतंत्र सत्ता नहीं है, वह सदा शिव की आश्रित है। और जैसे शक्ति के बिना शिव की सत्ता नहीं, वैसे ही शिव के बिना शक्ति का उल्लास नहीं। तंत्र हमारे मन और इन्द्रियों को संस्कार मुक्त कर परात्पर की ओर उन्मुक्त करता है—उसका मार्ग मनोवैज्ञानिक एवं ऐहिक है जब कि वेदान्त का मार्ग चिन्तन का और आमुष्मिक है। अर्थात् जो चिन्तन के क्षेत्र में वेदान्त है, विनियोग के क्षेत्र में वही तंत्र है—तंत्र वेदान्त का प्रयोगात्मक रूप है। तंत्र किसी संप्रदाय विशेष का द्योतक नहीं है—वह समस्त विविध आध्यात्मिक साधनाओं की पृष्ठभूमि है। शैव, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य सभी आध्यात्मिक साधनाएँ तंत्र के आधार पर ही अधिष्ठित हैं और उसी से प्रेरणा और शक्ति ग्रहण करती हैं।

तंत्र में शिव और शक्ति की प्रधानता इसलिए है कि तंत्र मानव जीवन के सभी स्तरों—शारीरिक, ऐन्द्रिय, प्राणिक, मानसिक, बौद्धिक, आत्मिक आदि-आदि को पूरी तरह भलीभाँति स्वीकार करता है और इनमें से एक-एक को खोल-खोलकर उसमें अध्यात्म का प्रकाश देता है, उसका उन्नयन-उन्मीलन करता है। तंत्र सब कुछ स्वीकार कर चलता है। वह मानव के 'सु' और 'कु' से अपरिचित नहीं रहना चाहता, वह दोनों को ग्रहण करता है और इन्हें अध्यात्म की ओर उन्मुख ही नहीं करता, प्रज्वलित और प्रतिभासित भी करता है। तंत्र हमें जीवन के प्रत्येक व्यापार में, शरीर के प्रत्येक स्तर में दिव्यता प्रदान करता है और 'देवंभूत्वा यजेद्देवं' का भाव स्थापित करता है जिसके परिणामस्वरूप हम स्वतः अनुभव करते हैं :

"अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्द रूपोऽस्मिनित्यमुक्तस्वभाववान् ॥"

इस निष्फल स्थिति में पहुँचने के पहले सफल स्थिति की सभी अवस्थाओं से साधक को गुजरना ही पड़ता है। नान्या पंथा विद्यतेऽयनाय। शक्ति की लीला प्रायः तीन रूपों में देखने को मिलती है—रचना, पालन, संहार। इन तीन रूपों में उसके नाम हैं ब्राह्मीशक्ति अथवा सरस्वती, लक्ष्मी और शिवानी। विकास की प्रक्रिया भी इन्हीं से परिचालित होती है। सब कुछ उस आद्याशक्ति-महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती-महामहेश्वरी के आधार पर ही स्थित है और उसी के इशारे पर नाच रहा है—अन्ततः उसी की गोद में जाकर चिरनिद्रा में सो जाता है। शक्ति ही एकमात्र शाश्वत है, और कुछ भी नहीं। जैसे-जैसे हमारी प्रकृति की जड़ता झड़ती जाती है वैसे-वैसे हम अपने अंदर शक्ति की लीला विहार का साक्षात्कार करने लगते हैं। क्योंकि यहाँ सब कुछ माँ का खेल ही तो है। वहाँ जड़ में भी तो चेतना सोया हुआ खेल रहा है। तमस् के आधिक्य के कारण ही वह स्पष्ट दीखता नहीं।

साधक के जीवन में साधना पथ पर अग्रसर होते समय भगवती की जो कृपा होती है, इसे तंत्र स्वीकार करता है। कृपाशक्ति ही मुख्य पूरक हैं। आध्यात्मिक जीवन में यही आकर्षण शक्ति है। सत्चित आनन्द के केन्द्र में यही शक्ति नित्य क्रियाशील है जो इच्छा और ज्ञान के रूप में व्यक्त होती है। इच्छा है अनन्त, क्रिया है सान्त। इच्छा जब क्रिया में व्यक्त होती है तभी स्थिति में गति आती है—यही है आदि शक्ति महामाया का लीलाविलास। "चित्तकृपा समरनिष्ठुरता" का यही भाव है। जब जीव आकर्षणों-विकर्षणों के बंधन से मुक्त होकर साधन पथ में अग्रसर होता है तो साक्षात् भगवती ही उसका हाथ संभाले आगे लिए चलती हैं और वह इस कृपाशक्ति का निरंतर साक्षात्कार करता रहता है। संधान में चलने का अर्थ है भीतरी इच्छा की प्रेरणा एवं उद्वेलना। यह प्रेरणा या उद्वेलन आध्यात्मिक शक्ति का उद्बोधन है। पिपीलिका मार्ग और विहंगम मार्ग का यही रहस्य है। एक में अपना प्रयास, दूसरे में कृपाशक्ति का चमत्कार। कृपाशक्ति दोनों में अनुस्यूत है और अपने ढंग से अपना कार्य सम्पन्न करती हैं, साधक की शक्ति और सामर्थ्य को देखते हुए। लालित्य (सुंदरता), शुचिता (पवित्रता) और प्रसन्नता (आनन्द) से वह साधक के जीवन को सराबोर कर देती है और उसका अन्तःबाह्य सब ज्योतिर्मय, आनन्दमय, अमृतमय हो जाता है और वह अनुभव करता है कि जो कुछ है वह सब आनन्द स्वरूप है, अमृतमय है—आनन्दमेव अमृतं यद्विभाति। यही कृपाशक्ति का साधक के जीवन में चमत्कार है जो कृपाशक्ति से ही संभव है। तंत्र साधनपथ को इस प्रकार आरंभ से अन्त तक साधक के लिए सुकर बनाता रहता है। यदि अभीप्सा पवित्र है और संकल्प दृढ़ है तो वह कृपाशक्ति अपना चमत्कार दिखाती ही है। जहाँ अभीप्सा और संकल्प में ढुलमुलपना या लचीलापन है वहाँ कठिनाइयों का आना भी स्वाभाविक है। इसके लिए तंत्र तीन मार्गों का निर्देश करता है। 'दिव्य आचार' है उन साधकों के लिए जिनकी प्रकृति में उदारता है जो सहज भाव से इस साधनपथ पर अग्रसर हो रहे हैं। इन साधकों के लिए बाह्याचार की शुचिता का आग्रह नहीं होता। वह प्रकृत्या उच्चतम आध्यात्मिक जीवन का अधिकारी है। दूसरे प्रकार के वे साधक हैं जिनके अंदर अभी पवित्रता और दिव्यता का भाव भलीभाँति उद्बुद्ध नही हुआ है—इन्हें कहते हैं 'पशु'। 'पशुभाव' के साधक

को साधना के पथ में घोर श्रम करना पड़ता है—वे तमस् प्रधान प्रकृति के होते हैं। 'वीर भाव' के वे साधक हैं जो रजस् प्रधान हैं और जो प्राणों की निम्नतम माँग के आग्रह का पूरी शक्ति से प्रतिरोध करते हैं। तंत्र में वीर भाव की बड़ी प्रशंसा है क्योंकि इस भाव के साधक पूरी शक्ति के साथ, सभी कठिनाइयों, विघ्न-बाधाओं, आकर्षणों, प्रलोभनों और फिसलनों को ठेलकर साधनपथ में पूरे उत्साह से आगे बढ़ने की शक्ति रखते हैं। दिव्य साधक को इन कठिनाइयों, प्रलोभनों और विघ्न-बाधाओं का शिकार नहीं होना पड़ता क्योंकि उसके पावन व्यक्तित्व के समक्ष ये सब नतमस्तक होकर रास्ता दे देते हैं। अस्तु, तंत्र-साधना वस्तुतः वीराचार की साधना है, जिसमें साधक भागवती शक्ति के सहारे साधनपथ के समस्त विघ्नों एवं बाधाओं को सिर पर पैर रखकर अपने उद्देश्य की संसिद्धि में प्राणपन से लगा रहता है। वीरभाव ही वास्तविक तंत्र साधना का मूल भाव है—दिव्य भाव में सतोगुण की और पशुभाव में तमोगुण की प्रधानता है परन्तु वीरभाव में रजोगुण की प्रधानता होने से वह सक्रिय है, धैर्य और साहस का प्रयोगक्षेत्र है। तंत्र में इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध का तिरस्कार नहीं है अपितु इनका शोधन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह का भी उन्मूलन नहीं, संचयन-नियमन है और जिस प्रकार पारद शोधित हो जाने पर अमृत का-सा गुणशाली हो जाता है उसी प्रकार मानव प्रवृत्तियों को परिशोधित कर साधक उन्हें साधना के पथ में प्रवृत्त कर देता है—वह काम से काम को, क्रोध से क्रोध को, राग से राग को वश में कर लेता है—'रागेन वध्यते जीवो रागेनैव प्रमुच्यते'। इस साधना में उसकी अन्तर्दृष्टि खुलने पर सभी पुरुष में शिव और सभी नारी में शिवानी के दर्शन होते हैं और स्वयं में भी वह शिवपार्वती का युगनद्ध दर्शन करता है—स्वयं शिवस्वरूप होकर पार्वती की और पार्वती रूप होकर शिव की उपासना करता है और उसका समस्त जीवन, श्वास-प्रश्वास उपासना हो जाता है, जिसका संकेत शंकराचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध श्लोक में दिया है—

> **"आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्।**
> **पूजा ते विविधोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः ॥**
> **संचारप्रदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिराः।**
> **यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम् ॥"**

तंत्र के अनुसार शिवत्व की उपलब्धि ही मुक्ति का स्वरूप है, जिसमें आनन्द-तत्व की प्रधानता है। यह आनन्द जीवन और जगत् से पलायन द्वारा नहीं, बल्कि उसे स्वीकार कर उसके परिशोधन में है। इस प्रकार पशु-भाव का वीर-भाव में और फिर वीर-भाव का दिव्य-भाव में रूपान्तर हो जाता है और जो कुछ भी असत्य, अशिव, असुन्दर प्रतीत होता है वह साधक की दृष्टि में रूपान्तरित होकर, दिव्य होकर सत्यं शिवं सुन्दरं हो जाता है। तंत्र शरीर, मन, बुद्धि, प्राण की एक-एक क्रिया, एक-एक हलचल को स्वीकार करता है, उनकी उपेक्षा या तिरस्कार नहीं करता, उन्हें उचित मार्ग पर लगाकर साधक के संपूर्ण जीवन प्रवाह को दिशाविशेष में मोड़ देता है। इन सभी में प्राणों का आग्रह और प्राणों की माँग साधक को काफी समय तक चंचल करती रहती है इसलिए वह घबड़ाता नहीं, बहुत ही धैर्य और साहस से वह प्राणों की हलचल को उसके आवेग-प्रवेग को संयमित-नियमित

करता रहता है—भले ही इस दिशा में उसकी साधना की प्रगति बहुत ही शिथिल और धीमी या लंबी क्यों न हो। प्राणों का रूपान्नर दीर्घकाल लेता है। इस पर विजय पाने में समय लगता है क्योंकि प्राण ही हमारे अवयवों में सबसे अधिक 'हठीला' है। प्राणिक संयमन के बिना साधक अपने साधनपथ में मुक्त विचरण नहीं कर सकता। इस प्रकार तंत्र हमारी सारी प्रवृत्तियों के समुचित संशोधन एवं परिमार्जन के द्वारा उनके सम्यक् संचरण-विचरण की व्यवस्था करता है। साथ ही साथ विवेक द्वारा उनसे उपरति की प्रेरणा भी देता है। तंत्र का मार्ग भोग से होकर योग का मार्ग है। वीर आचार में इन्द्रियाँ इन्द्रियार्थों में रमण करती हुई भी उनसे मुक्त हैं, दिव्य भाव में आत्मिक प्रकाश प्राणिक माँगों को प्रज्ज्वलित कर उनमें दिव्य चेतना और दिव्य आनन्द का उन्मेष कर देता है। इसे ही प्राणों का रूपान्तर या दिव्यीकरण (divinisation) कहते हैं। तंत्र सावना में साधना के सभी साधनों को रूपान्तरकरण हो जाता है और वह इतना घनीभूत होता है कि साधक, साधन और साध्यकी एकता या अभिन्नता हो जाती है—यही इस साधना की विशेषता है। साधना के जिस मार्ग से भी किसी ने सिद्धि प्राप्त की, उसे इस मार्ग पर आना ही पड़ता है। जालन्धर नाथ की एक उक्ति का इस प्रसंग में स्मरण होता है—'द्वैतं वाद्वैतरूपं द्वयत उत् परं योगिनां शंकरं वा'—अर्थात् परमार्थ तत्त्व द्वैत भी है, अद्वैत भी है और वह द्वैताद्वैत विकल्प से अतीत है। स्वरूपतः दोनों में कोई भेद नहीं है। प्रह्लाद ने कहा है—'नमसाम्यं नमोमहं तुभ्यं महं नमोनमः। यहाँ 'त्वं' और 'अहं' का साम्यभाव उपलब्ध हुआ है।

श्री त्यागराज स्वामी की जीवनी

श्री रंगम् आर० कण्णन्
कर्णाटक संगीत विभाग, श्रीकला संगीत भारती,

कर्नाटक संगीत क्षेत्र में श्री त्यागराज स्वामी का नाम बहुत प्रसिद्ध है। कर्नाटक संगीत में शिक्षा पाने वालों को शुरू में निम्न प्रकार की चीजें सिखायी जाती हैं :—स्वरावली, जण्ट और घाटु वरिसें, अलंकार, गीतम् इत्यादि। ये आज से ५०० साल पहले श्री पुरन्दर दास स्वामी नामक एक बहुत बड़े भक्त और विद्वान् के द्वारा बनायी गयी थीं। इसी वजह से श्री पुरन्दरदास स्वामी को कर्नाटक संगीत क्षेत्र में 'संगीत पितामह' कहते हैं। वे बड़े भक्त थे। ऐसी मान्यता है कि उन्होंने भगवान् पर ५ लाख कृतियाँ बनाई थीं। इनके पश्चात् महाश्रेष्ठ और राम के परम भक्त श्री त्यागराज स्वामी ने करीब २४००० कृतियाँ बनाईं। आजकल कर्नाटक संगीत-क्षेत्र में इन्हीं की कृतियाँ विशेष प्रसिद्ध हैं तथा शास्त्रीय संगीत के कार्यक्रमों में इनका सर्वाधिक प्रयोग होता है।

सन् १७५९ ई० में दक्षिण के तंजौर जिले के तिरुवारूर नामक एक तेलुगु ब्राह्मण कुटुम्ब में श्री त्यागराज स्वामी का जन्म हुआ। इनके माता का नाम शान्ता देवी तथा पिता का नाम राम ब्रह्म था। तिरुवारूर क्षेत्र के भगवान् का नाम श्री त्यागेशन है। इसी नाम पर श्री राम ब्रह्म ने अपने पुत्र का नाम रख दिया। वे भगवान् त्यागेशन के अनन्य भक्त थे। त्यागराज के दो बड़े भाई थे जिनके नाम जप्येशन और रामनाथन थे। बचपन से ही त्यागराज अधिक बुद्धिमान दीखते थे। अपने पिता की भाँति त्यागराज भी रात दिन राम भजन में लगे रहते थे। राम ब्रह्म ने अपने पुत्र को ८ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार कर एक योग्य गुरु के पास शिक्षा पाने के लिए भेजा। थोड़े ही दिनों में त्यागराज ने अपनी मातृ भाषा तेलुगु और संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त कर लिया। इसी समय उन्हें वाल्मीकि रामायण का पाठ सुनने का अवसर मिला जिससे वे श्री रामचन्द्रमूर्ति के अनन्य भक्त हो गए।

श्री राम ब्रह्म ने अपने पुत्र की उन्नति के लिए तिरुवारूर को छोड़कर पास के तिरुवैयार क्षेत्र को अपना निवास स्थान बनाया। बीच-बीच में त्यागराज को अपनी माता से पुरन्दर दास, भद्राचलम्, रामदास आदि महापुरुषों की कृतियाँ सीखने का मौका भी मिला। अपने पुत्र को संगीत सम्बन्धी पाठ बड़ी खुशी के साथ सीखते देखकर, रामब्रह्म ने सोचा कि उनको एक बड़े संगीत-विद्वान् के यहाँ शिक्षा पाने के लिए भेजना अच्छा होगा। उस समय तंजौर जिले में श्री सोंटि वेंकटरमणय्या नामक एक बहुत बड़े संगीत-विद्वान् थे। उनके पास त्यागराज संगीत विद्या पाने के लिए भेजे गए। अपने गुरु के पूर्ण अनुग्रह के कारण त्यागराज शीघ्रातिशीघ्र संगीत विद्या में काफी ज्ञान प्राप्त कर स्वयं श्री रामचन्द्रमूर्ति पर कृतियाँ रचने लगे।

सदा राम की ओर अपना मन लगाए रहन के कारण उनका ध्यान दूसरी ओर नहीं

गया। इस बीच में इनका विवाह भी हो गया। भिक्षाटन द्वारा जो कुछ मिलता था उससे पूर्ण तृप्त होकर वे अपना जीवन बिताने लगे। अपने पिताजी की मृत्यु के बाद, उनको भाइयों से अनेक प्रकार के कष्ट मिले। जप्येशन अपने भाई त्यागराज को कुछ काम न करके केवल भिक्षाटन से जीवन यापन करते देख अधिक बुरा मानने लगे। जप्येशन ने सोचा कि जब तक उनका भाई राम भजन के कार्य में लगा रहेगा तब तक वह दूसरों का काम करके पैसा उपार्जन नहीं करेगा। त्यागराज अपने पिता जी से मरते समय प्राप्त जो राम पट्टाभिषेक (राज्याभिषेक) की मूर्तियाँ थीं, उनकी बड़ी भक्ति श्रद्धा से पूजा किया करते थे। पूजा में बैठ जाने पर इनके मन में जो भाव कविता के रूप में निकलते थे उसे राग-ताल में बद्ध कर गाते वह राम की मूर्ति के आगे आत्मविभोर हो जाते थे। इनके शिष्य वहीं पर बैठकर स्वामी जी की कविताएँ सुनते-सुनते ताड़ पत्र पर लिख लिया करते थे और बाद में उन्हें स्वयं अभ्यास करके गुरु जी को सुनाया करते थे। इतिहास से हमें मालूम होता है कि इस प्रकार भजन करते समय एक दिन श्री नारद मुनि एक ब्राह्मण का वेश धारण करके त्यागराज स्वामी के सामने प्रकट होकर 'स्वरावर्णम' नामक एक संगीत-शास्त्र सम्बन्धी पुस्तक देकर अंतर्ध्यान हो गए।

राम की मूर्ति घर में रहने के कारण ही त्यागराज स्वामी हमेशा भजन में लीन रहते हैं, ऐसा सोचकर जप्येशन ने एक दिन विग्रह को कावेरी नदी में फेंक दिया। विग्रह को घर से गायब होने के कारण स्वामी ने अन्न-आहार छोड़ दिया और पागलों की तरह सदा आँसू बहाते हुए राम ध्यान में लीन रहने लगे। फलस्वरूप वह थोड़े ही दिनों में बीमार पड़ गए। इनकी इस हालत को देखकर स्वप्न में श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न होकर जप्येशन के कार्य के सम्बन्ध में, और कावेरी नदी में पड़ा हुआ विग्रह के स्थान को बताकर अंतर्ध्यान हो गए। आँख खुलते ही स्वामी जी कावेरी नदी की ओर दौड़कर गए और भगवान् के बताये हुए स्थान पर विग्रह पाकर उसे घर ले आए और पहले से भी अधिक भक्ति और श्रद्धा से पूजा करने लगे।

त्यागराज स्वामी के शिष्यों के द्वारा उनके भक्तिमय संगीत को सुनकर बड़े-बड़े विद्वानों और राजाओं ने स्वयं स्वामी जी से ही उन कृतियों को सुनने की इच्छा प्रकट की। इस प्रकार दक्षिण में इनकी कीर्ति फैलती गई। अनेक राजाओं से स्वामी जी को राजसभा में आने का निमंत्रण मिला। तंजोर के राजा श्री शरबोजी ने भी स्वामी जी को निमंत्रण भेजा और साथ-साथ अपने सम्बन्ध में एक कविता बनाकर लाने के लिए भी आज्ञा दी। इस कार्य के लिए राजा ने स्वामी जी को अपने खजाने से काफी धन-धान्य देने की आज्ञा दी। धन को मिट्टी से तुच्छ समझकर स्वामी जी ने राजा के निमंत्रण को अस्वीकार कर दिया। इससे राजा ने क्रोधित होकर अपने सेवकों को आज्ञा दी कि वे त्यागराज स्वामी को जबर्दस्ती बुला लाएँ। राजा के सेवक स्वामी को लाने के लिए तिरुवैयार गए ही थे कि इधर राजा को अचानक पेट में भयंकर दर्द शुरू हो गया। स्वामी जी की निन्दा करने के परिणामस्वरूप ही यह पेट का दर्द हुआ है, ऐसा समझकर राजा ने स्वयं तिरुवैयार जाकर स्वामी जी से क्षमा माँगी। स्वामी जी के आशीर्वाद से राजा तुरन्त

अच्छे हो गए। इसके पश्चात् स्वामी जी क्षेत्राटन करने के लिए चले। क्षेत्राटन करते समय उन्होंने अनेक कृतियाँ रचीं। इस बीच अनेक अद्भुत घटनाएँ भी घटीं।

एक बार एक नव दम्पति को रात के समय एक गाँव में ठहरना पड़ा। अंधेरे में पति अचानक रास्ते के एक कुएँ में गिर पड़ा। इस दुर्घटना को देखकर उसकी स्त्री रोने लगी। उसी समय त्यागराज स्वामी अपने शिष्यों के साथ उस रास्ते से निकले। स्वामी जी को जब यह खबर मिली तो वे तुरंत कुएँ के पास गये और उन्होंने अपने शिष्यों से लाश को कुएँ से बाहर निकालने को कहा। उसके बाद स्वामी जी कुछ कृतियाँ गाने लगे जिससे वह पुरुष तुरंत जीवित हो उठा।

इसी प्रकार दूसरी बार जब स्वामी जी अपने शिष्यों के साथ जंगल के रास्ते से जा रहे थे तब चोरों का उपद्रव हुआ। स्वामीजी श्री रामचन्द्रमूर्ति का गुणानुगान करने लगे। तब श्रीराम और लक्ष्मण ने शिकारियों का वेश धारण करके चोरों को भगा दिया और स्वामी जी की रक्षा की।

इस प्रकार जीवनपर्यन्त राम के गुण गाते-गाते सन् १८४७ ई० में पुष्य बकुला पंचमी प्रभवा तिथि पर उन्होंने अपना पार्थिव शरीर छोड़ा और राम में लीन हो गए। स्मारक के रूप में तिरुवैयार में कावेरी नदी के तट पर एक समाधि बनाई गई। अनेक वर्षों से उसी समाधि स्थल पर श्री त्यागराज आराधना महोत्सव बड़े पैमाने पर मनाया जा रहा है।

श्री त्यागराज स्वामी द्वारा रचित कृतियों में 'घन राग पंचरत्नम्', 'कोउर पंचरत्नम्', 'उत्सव संप्रदाय कृतियाँ', 'नौका चरित्रम्' आदि बहुत प्रसिद्ध हैं। इनमें से पंचरत्नम् नामक ५ घन रागों (नाट, गौल, आरभी, वराली और श्री) में बनाई गई कृतियों को आराधना महोत्सव के दिन गाना अत्यन्त आवश्यक माना जाता है।

स्वामी जी की कृतियों में भगवद्गीता का पूरा सारांश है। स्वामी जी के कुछ शिष्यों ने तान वर्णों के समान संगीत शिक्षापयोगी कुछ कृतियाँ बनाने की प्रार्थना की जिसके फलस्वरूप उन्होंने ये 'घन राग पंचरत्नम्' कृतियाँ बनायीं। तान वर्ण जैसे इनमें भी स्वर साहित्य के अनेक चरण होते हैं। अर्थ भाव, मुक्तक साहित्य, राग भाव, लय विशेष इत्यादि अंश ही पंचरत्न कृतियों के विशेष भाग हैं। श्री त्यागराज स्वामी का जीवन साधक और कलाकार की अनन्यता का एक मात्र प्रतीक है। आज के संगीतज्ञों और संगीत प्रेमी जनों को चाहिए कि वे उनके जीवन से प्रेरणा लेकर संगीत का उच्चतम भाव अपना कर इस कला को सार्थक करें।

INDIAN THOUGHT AND TECHNOLOGY

S. P. DUBEY

Deptt. of Religion,

McMaster University, Canada.

The purpose of this article is to bring out the relation between Indian religio-philosophical thought and technology. Although she developed elaborate techniques in many fields, Indian society has never been very similar to the technological society of the modern world. In order to understand the relationship between the present stage of the Indian tradition and the developing technology around it we shall examine the history of the tradition. In the first place the classical Indian approach will be considered. By classical I mean here all the Vedic and non-vedic traditions prior to the age of commentaries. Next will be examined the idealistic views of the Vedānta and the Buddhism which were concerned more with the other-worldly. And in the end will be stated India's present position in relation to the Western technology. The 'present' here extends from the late nineteenth century to the present date.

Being an ancient seat of culture and civilization, India has given birth to many religions and philosophies. The six systems of Hindu philosophy, alongwith the non-vedic philosophies, represent manyfold growth of the Indian mind. As far as religion is concerned, Hinduism is the most popular religion of that sub-continent. In addition to Hinduism, Buddhism, Jainism and Sikhism are the other three religions which grew and developed in the land. Several other religions also contribute to the religious life of the Indian society. Christianity reached India in the first century A.D. and is at present claiming several millions of followers. Some archaeological excavations and scholarly investigations tend to prove that Christianity was a direct offspring of Buddhism which spread in the Near East countries before Christ[1]. Islam also could not delay in hunting the golden bird. It dashed to India with bare swords in the hands of conquerors. Inspite of the formation of an Islamic nation (Pakistan) out of India, Moslems are second only to Hindus and amount to fifty millions or above. Zoroastrians, Jews, Iranians, Greeks, Parthians, Bacterians, Scythians, Huns, Turks etc. are other religious and cultural races which went to India and formed the multiple but unitary current of Indian life. With the ocean-like infinitely absorbant capacity India retained her fundamental traits through the ages inspite of occasional intakes and pollutions.

Due to physical and spiritual prosperity in ancient days Indian mind developed techniques in all possible fields. Mention may be made of highly developed grammatical techniques in the *Astādhyāyī* of Pāṇini, sexual techniques in the *Kāmasūtras* of Vātsyāyana, political techniques in the *Arthasāstra* of Kautilya, war techniques described in the epics of *Mahābhārata* and *Rāmāyana* and Yogic techniques in the *Yogasūtras* of Patañjali. India gave to the world the technique of numerals and the games of cards and chess. So great was the superiority of India in every respect, that it drew to her borders the hungry sailors of Europe, and thereby indirectly brought about the discovery of America (And in return the world reduced her to slavery and poverty).

The general charge against Indian religious thought that it is mainly pessimistic is not justified fully. Religion has to be, to certain extent, pessimistic. But Indian thought has from the very beginning been positivistic and realistic towards the world and its contents. The dawn of Indian culture which is also the present occupation of Indian mind begins from the the time of the *Ṛg Veda*. In the hymns of the *Ṛg Veda* the Vedic poet always concerns himself with the grandeur of the Nature and progress of the world. In his prayers to gods he always prays for wealth, health, arms and victory. In the *Brāhmana* period this mental desire takes the concrete shape in the form of rituals and sacrifices. It was believed that anything worldly or other-worldly could be obtained by the ritualistic technique. All the minute details were worked out in order to get the exact specific result. In other words, for the first time technique finds its clear expression here in the sense Ellul defines[1]. In the *Atharva Veda* we come to the stage of applied technique in all the existing sciences. Here we find advanced techniques in the field of medicine, surgery, genetics, alchemy, astrology, mathematics, chemistry, physics, magic and several other sciences. A good deal of war technique also was developed. There are references to fire-arms, bombs, aeroplanes (even automatic) in Vedic as well epic literatures. The German mind was attracted towards these advanced techniques and it has studied a considerable amount of this literature. The question may be asked here as to why India is not making use of such materials for progress in modern age. The reason for neglecting our own hereditary treasure is obviously existential. The Western techniques have been introduced to us ready-made. Moreover, after centuries of foreign rule and exploitation India is not in a position to afford the researches re-oriented towards the ancient field. However, efforts are being made towards that direction. The recent publication of a wonderful book '*The Vedic Mathematics*'[2] by late Sañkarācārya of Puri is encouraging. It consists of sixteen formulas which bring out the answer of any mathematical problem in one line avoiding all the intermediary stages. It is completely based on Vedic sources.

---

[1] The doctrines of trinity, of incarnation of God, similariatties of the service in the temples and the Catholic churches, from the mass to the chant and benediction are few points for such contention. For details see *The Complete Works of Vivekananda*, Vol. II, p. 511.

In the Upaniṣads we find two tendencies (positive and negative) running throughout. The hierarchical presentation of the Reality always gives first importance to Matter. The

---

[1] J. Ellul, *The Technological Society*, p. xxv : 'Technique is the totality of methods rationally arrived at and having absolute efficiency in every field of human activity !

[2] Published by Banaras Hindu University Press, 1964.

Taittirīya Upaniṣad defines the Absolute (*Brahman*) as Matter (Annam)[1]. The Upaniṣad goes on analysing the definition by stating that verily from Matter all these things are born, by matter are they sustained and in Matter are they absorbed. Though the emphasis of the *Upaniṣads* goes on to the spiritual aspect of the Reality, nevertheless the material aspect is not ignored or rejected altogether. In fact matter has been recognised as the basis for spiritual growth.

In the epics and the ethical codes we find a balanced view of life. A thoroughly systematic approach towards the material as well as spiritual life has been made here. The rules for laymen as well as for ascetics have been formulated. The duties and policies of the rulers; the behaviour and involvements of the ruled, the pattern of living of the priests, the etiquettes in the family and the society were chalked out in great details. The ascetic life also was regularised. The 'oughts' for the monks were prescribed. The stages in spiritual life were distinguished. In other words, the *varṇāsramadharmas* were introduced. Both the individual and the social lives were classified. The individual life was divided into four stages. The stage of studentship, the period of the householder, the time for forest-dwelling and the riped time for wandering asceticism were recognised. The social life also was classified in four categories—the teacher or the priest, the ruler or the soldier, the trader or the businessman and the worker or the servant. The class system was based on mental tendencies and physical activities. Birth played little role in class-distinction. Both the individual and the social lives were supposed to run having in mind four ends of human life or the *puruṣārthas*. They are: righteousness (*dharma*), wealth (*artha*), enjoyment (*kāma*) and spiritual freedom (*mokṣa*). All these three classifications give man an equal opportunity to progress himself from lower and narrower state to higher and wider levels of existence without competition. India and originally accepted such social systems in order to transcend society, as the rider puts reins on his horse and stirrups on his own feet in order to ensure greater speed towards his goal. This was and is the reason for the integrity and harmony of Indian life through the ages.

---

[1] *Taittirīya Upaniṣad*, III. 2.

The *Bhagavadgītā* is the climax of Indian technique. It is a treatise on human action with divine technique. It defines Yoga as 'technique in action[1]. It recomends the full active life of man in the world with the inner life anchored in the Eternal Spirit. It is therefore a mandate for action. Performance of action without desire for the fruit[2] is the highest imperative of the *Gītā*. The technique lies in getting freedom from action while doing it. The action is performed in the best possible way. But the act and the actor are not identified. The technological monism described by Ellul presupposes the unconcious identification or marriage of the man and the machine. But the actionism of the *Gītā* is a theory according to which man skillfully performs the act, yet he is not identified with it. Like the actionist of the *Gītā*, the modern technician is also in a sense unconcerned with the fruits of action. But the difference between the two is fundamental. While the former is indifferent towards the result because he would be getting freedom (liberation) by doing so, the latter is unaware of the result because he is bound to be so. The one is the theory of apparent action but ultimate freedom whereas the other is the doctrine of apparent freedom but ultimate bondage.

The doctrine of *lokasaṁgraha* is virtual participation in the world in order to continue the process. It maintains that freedom does not lie in running away from the responsibilities of social life. Freedom is more conceptual than material. It is the attitude of freedom which is more important. As a social being we have to think and act for the benefit of the society and set ideals for others. Kṛṣṇa is acting as a human being to set ideals. He clearly says that there is no freedom from action. Inactive life is an impossibility[1]. The only way out to get rid of the snare is to perform the act actively. Freedom lies in action. Once we become unconcerned with the result of the action, we don't have to either enjoy or suffer the consequences. We may take ourselves to be mere instrumental as the modern technicians do. The moment we get rid of the consciouness of agentship, we no longer remain bound with the good or bad result of the mechanical process. This is the concept of freedom in the *Gītā*. It is renunciation in action. It is a middle path between esoteric and exoteric ways of living. It is a kind of spiritual realism which one can practice even in the battlefield and yet enjoy the peace of the cave-dweller. It can keep our mind balanced in most extreme circumstances. The twentieth century technological society needs the technique of the *Gītā*.

---

[1] *Gītā* II. 50: yogah karmaṣu kauśalam.

[2] *Ibid.* II. 47: karmaṇy evā' dhikāras te mā phaleṣu kadācana.

The path of the *Gītā* can be said to be the representative Hindu view of life. The use of the term 'Hindu' should not be misunderstood here. It is not a term representing a sect. In fact Hinduism can not be categorised as a religion. It is a way of life rather than a defined religion. Its spirit is to live and let live. 'We must not treat others the way in which we ourselves don't like to be treated'[2] is the basic motto of Hinduism. It is an open society based on eternal humanitarian principles.

The positive and realistic approach to the life advocated in the *Gītā* is present in almost all the leading literatures of India. The six systems of Hindu philosophy are also in the same tune. Sāṅkhya and Yoga, Nyāya and Vaiśeṣika, Mīmāṁsā and Vedānta (with the only exception of Advaitism of Śaṅkara) all admit the reality of the phenomenal world and develop their doctrines accordingly. So far as the heterodox systems are concerned, all except Mahāyāna Buddhism, Jainism and Hīnayāna Buddhism are realistic. It is interesting to note that inspite of great emphasis on the ethical doctrine of *aparigraha* (non-accumulation of wealth or property other than absolutely necessary) in their philosophy, the Jains are very rich people and have a good hold on modern Indian trade and industry.

---

[1] *Gītā*, III. 5.

[2] **ātmanaḥ pratikūlāni pareṣām na samācaret.**

Why, inspite of its realistic attitude towards the world and technical approach towards the life, did Indian thought not produce technological society ? The answer lies in the fact that the Indian mind never ascribed absolute value to the worldly life. It is like a man sitting on the ground under open sky and mostly gazing towards the stars. On the other hand the mind of the world which produced the technological society is like the vulture always keeping its eyes on the bones in the slaughter-house while soaring in the sky. Most of the religio-philosophical systems of India found the prosperities of the world as misery in disguise. Two typical examples may be cited in this connection from the Upaniṣads. In the Kaṭha Upaniṣad the child Naciketas rejects immense wealth, long life, kingdom of earth etc. etc. offered by Yama, the god of death, and sticks to his quest for knowing the true nature of the Self[1]. The other example is that of a women, who is supposed to be more worldly-minded. Maitreyī, wife of sage Yājñavalkya, refuses to take not only her share from husband's property, but also questions the pleasure of all other so-called perfect things of the world and thus gives way to the famous statement of Yājñavalkya on the nature of Self[2].

This negative or sceptical attitude towards the pleasures and perfections of the world found its full expression in Buddha for the first time. Buddha discovered that everything is suffering. Not only the expressed miseries, but the so-called pleasures also are suffering. The pain in getting pleasant things, the care in preserving them, and the worries in losing them—all are of the nature of suffering. Though Buddha personally led his earlier life in a very royal and luxurious way which might be ambitious even for the present society, he renounced that life once for all and propounded the doctrine of compassion for all human beings, nay, for all living beings. Why did Buddha turn away from such a comfortable life is not easily explained by the sociological theories such as the one maintained by Durkheim[1]. Though social surroundings determine to a great extent man's thought and action, they are not the sole determining factors. The four sights of the Buddha (old age, diseased man, dead man and an ascetic) are seen by us almost everyday but we don't feel any challenge to our ways at all. It was the tender heart of Buddha who searched far and deep the fact of suffering and discovered the twelve-fold causal chain of suffering (*pratītyasamutpāda*)[2] and the eight-fold path[3] for its removal. The teachings of the Buddha were so striking and appealing that they influenced the mind of the age to a large extent. In addition to the personality of the Buddha, another decisive historical event in the spread of Buddhism was emperor Asoka's acceptance of Buddhism (3rd century B.C.) after the blood-shed in Kalinga war. Thereafter Buddhism became a state religion and due to the missionary spirit of Asoka it spread outside the boundaries of India even. The great dialectician Nāgārjuna gave Buddhism a metaphysical turn and propounded the theory of Śūnyatā (wrongly translated as void) which caused much confusion and led people to declare the world as void.

---

[1] *Katha Upaniṣad,* I. I. 22-29.

[2] *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad,* II. 4. 1—12.

More effective than the Buddhist theory was the absolutism of Śaṅkara. Śūnyāvāda was replaced by Māyāvāda. The genius of Śaṅkara performed two functions. It synthesised different trends of traditional Vedic and Upaniṣadic literature and at the same time drove away Buddhism with the weapons of the Buddhist armoury itself. Śaṅkara propounded the view that the Brahman (the Absolute) is the ultimate Reality, the individual self is one with the ultimate Self and the phenomenal world is nothing but appearance. Though he gave a concession to the world by assigning practical reality to it, after the realisation of the Brahman it was supposed to be valueless. This devaluation of the world caused much harm to the social progress. People started condemning the world even without making an effort to understand the meaning of either Śaṅkara or of the nature of the Real. And this became the philosophy of the mass age in India in due course. Instead of making gradual progress towards spiritualism in the light of four ends and stages described earlier, persons rushed up to ascetic life. If Buddha opened the realm of spirit to all castes at once, Śaṅkara opened it for all ages. Once a boy monk of ten, when asked why he entered the ascetic life so early, replied that knowing that this is the final stage he could not make delay. Śaṅkara's tremendous active and practical life, though very short, could not attract the Indian mind as compared to his spiritual doctrine. Śaṅkara's absolutism stayed since 9th century as the most influential view in India. It was only in the 19th century that Western technological materialism entered India and a group of people became sceptical towards the worth of the spiritual outlook.

---

[1] E. Durkheim, *Elementary Forms of Religious Life.*

[2] (i) ignorance, (ii) predisposition, (iii) consciousness, (iv) mind-body, (v) sense-organs, (vi) contact, (vii) emotion, (viii) craving, (ix) attachment, (x) coming to be, (xi) rebirth, (xii) old age and death.

[3] (i) right belief, (ii) right aspiration, (iii) right speech, (iv) right conduct, (v) right mode of living, (vi) right effort, (vii) right mindedness, (viii) right rapture.

The change of outlook was not accidental. It was due to political, social and economic conditions prevailing in the country. Continuous Moslem attacks and British exploitation made the Indian pocket empty. Public was economically paralysed. Political pressures at that moment of poverty compelled many to change their religions and standpoints. In this background the introduction of technology produced horror and cheer both. Those who were depressed economically and non-discriminating mentally welcomed technology. But those who were more far-sighted doubted the utility of technology for India as well as for the world at large in the long run. Swami Vivekananda, Sri Aurobindo, Rabindranath Tagore, Mahatma Gandhi and Vinoba Bhave are a few great names in modern India who understood the disaster of technology and all of them tried to give either a synthetic and compromising solution or an alternative to technology.

Swami Vivekananda realised very acutely the dialogue going on in the Indian mind at that time and tried to give a solution to the problem. He notes the dilemma :

> "On the one side, new India is saying, 'If we adopt Western ideas, Western language, Western food, Western dress, and Western manners, we shall be as strong and powerful as the western nations ;' on the other, old India is saying, 'Fools ! By imitation, other's ideas never become one's own ; nothing, unless earned, is your own. Does the ass in the lion's skin become the lion ?'
>
> On the one side, new India is saying, 'What the Western nations do is surely good, otherwise how did they become so great ?' On the other side, old India is saying, 'The flash of lightning is intensely bright, but only for a moment ; look out, boys, it is dazzling your eyes. Beware !"[1]

Have we not then, Swamiji asks, to learn anything from the West ? And in the spirit of great poet Kālidāsa who said that everything old is not good as everything new is not bad or vice versa, Vivekananda replies, yes, there are many things to learn from he West : but there are fears as well. In the union and intermingling of the ancient Indian spiritualism and modern Western technique the danger is this : "In this huge wave of Western spirit are washed away all our most precious jewels, earned through ages of hard labour ; there is fear of falling into its strong whirlpool ; there is fear of going to imitate the impossible and impracticable foreign ways, rooting out as they do our national customs and ideals, we lose all that we hold dear in this life and be undone in the next !"[2]

In order to avoid such dangers, Vivekananda suggested brilliantly that "we must always keep the wealth of our own home before our eyes, so that every one down to the masses may always know and see what his own ancestral property is. We must exert ourselves to do that; and side by side, we should be brave to open our doors to receive all available light from outside. Let rays of light come in, in sharp-driving showers from the four corners (quarters) of the earth; let the intense flood of light flow in from the West—What of that? Whatever is weak and corrupt is liable to die—what are we to do with it? If it goes, let it go, what harm does it do to us? What is strong and invigorating is immortal. Who can destroy that?"[1]

---

[1] *The Complete Works of Swami Vivekananda*, Vol. IV, p. 477.

[2] *Ibid.* p. 406.

Vivekananda thinks that though India and the West had different traditions, it is now time for them to unite. He says: "The history of the past has gone to develop the inner life of India and activity (i.e. the outer life) of the West. Hitherto these have been divergent. The time has now come for them to unite....... Let your life be as deep as the ocean, but let it also be as wide as the sky."[2]

The Hindu Monk (as was he famous in West) has a firm faith in the younger generation, the modern generation. The younger generation has tremendous energy to undertake and fulfil any hard task. But this energy has to be controlled. He suggests the method of self-control prescribed in the Yoga system. He warned them against uncontrolled life and becoming slaves of desire. He very painfully noted the technological ways of fulfilling desires: "With our arts and sciences improved and multiplied, our desires cannot be fulfilled (either). On the other hand, we are struggling to perfect means for the fulfilment of desires, and desires are increasing."[3]

Sri Aurobindo Ghosa presented an integral view of the East and the West on the one hand and of the noumenon and the phenomenon on the other. He dreamed of a comprehensive integral human society. For this end he suggested to pour

---

[1] *Ibid.* p. 406-7.

[2] *Comp. Works of Vivekananda,* Vol. II. p. 511.

[3] *Comp. Works of Vivekananda,* Vol. I. p. 489.

Indian spirit in Western matter and Western matter in Indian spirit. He criticised extreme positions held by both. He states: "In Europe and in India, respectively, the negation of the materialist and the refusal of the ascetic have sought to assert themselves as the sole truth and to dominate the conception of Life. In India, if the result has been a great heaping up of the treasures of the Spirit,—or of some of them,—it has also been a great bankruptcy of life; in Europe, the fullness of riches and the triumphant mastery of this world's powers and possessions have progressed towards an equal bankruptcy in the things of the Spirit".[1]

Unlike Swami Vivekananda, who worked life-long for the uplift of the society, Sri Aurobindo became a secluded Yogi though was active in his earlier career. Like Vivekananda and Aurobindo, Rabindranath Tagore visualised the limits and dangers of technology and realised the need of spiritualism for mankind. He admits that science brings our thoughts to the utmost limit of man's territory yet it cannot transcend its own creation made of a harmony of logical symbols. He very aptly remarks that in science 'the chick has come out of its shell, but not out of the definition of its own chickenhood'.[2] Regarding passion and desire for technological objects he states: "It is well known that when greed has for its object material gain then it can have no end. It is like the chasing of the horizon by a lunatic. To go on in a competition multiplying millions becomes a steeplechase of insensate futility that has obstacles but no goal. It has for its parallel the fight with material weapons—weapons which must perpetually be multiplied, opening up new vistas of destruction and evoking new forms of insanity in the forging of frightfulness. Thus there seems now to have commenced the last fatal adventure of drunken Passion riding on an intellect of prodigious power."[3]

---

[1] Sri Aurobindo, *The Life Divine*, p. 11.

[2] Rabindranath Tagore, *The Religion of Man*, p. 120.

[3] *Ibid:* p. 99.

In the mythological episode of God Śiva and the demon Bhasmāsura we find the exact counterpart of the situation described by Tagore. The demon was granted the boon by Śiva that on whosoever's head he would put his hand, the fellow will be burnt. The demon wanted to test the truth of the boon first on Śiva himself. The poor God started running and at last was saved by the goddess Umā. She made the demon dance as a condition of marriage with her by putting his hand on the head. Technology has served humanity for long and has got the blessings of destroying the mankind. God save the man!

Tagore is very perceptive when he warns man (both of the East and the West) against any concession to science and technology so far as their evil part is concerned. He asks us "once again, let us, the dreamers of the East and the West, keep our faith firm in the Life that creates and not in the Machine that constructs—in the power that hides its force and blossoms in beauty, and not in the power that bares its arms and chuckles at its capacity to make itself abnoxious. Let us know that the Machine is good when it helps, but not so when it exploits life ; that Science is great when it destroys evil, but not when the two enter into unholy alliance."[1]

And, giving his elderly advice and timely warning, Tagore, like Aurobindo, goes to the other shore of the river in his 'golden boat'.[2] It was Mahatma Gandhi who instead of preaching doctrines gave a practical solution of the problem. Gandhiji was the greatest social scientist of India who propounded the theory which may be called *Rāma-Rājya* or the Kingdom of Righteous Rule which steers clear between capitalism and communism. He foresaw the dehumanizing force of technology working through both capitalism and communism, hence he tried to avoid both. He did not approve the idea of accumulation of wealth and power in few hands, either capitalists or the State. He wanted to abolish rank or the difference between the highest and the lowest. But he did not accept Marxism for the purpose. When Marxism raised its head as a proletarian programme, Gandhiji proposed the conception of the dignity of the human nature and a moral force and tried to inoculate the society against the revolutionary application of Marxism to a certain extent. He agreed with Marx that exploitation of the mass by the cpaitalists (and even by the intellectuals) must be stopped. But in Marx's programme he smelt the dehumanizing character of technology. Marx encouraged technique in order to bring equality while Gandhiji rejected it for a similar purpose. The only common point between the two is the extreme concern of both for the downtrodden[1]. Otherwise they not only differ in the methods adopted but also in their ultimate goal. They differed in their approaches to life and the universe. Gandhiji was more concerned with emotional equality whereas Marx was concerned with material equality. Gandhiji adopted the means of truth and non-violence in order to achieve equality, both physical and supra-physical, whereas Marxism makes room for violent revolution.

---

[1] *Ibid.* p. 101.

[2] One of Tagore's poem work.

Gandhiji firmly believed that technological society is a violent society. It robs man's spirit as well as matter. Man loses his individuality and becomes a tool in the hands of either industries or the State. The substitution of complicated social machineries is violence against truth and humanity and is the result of the domination of technology in human affairs. He knew that technology and the State are natural allies,[2] hence he opposed both. Centralised power of the State could do no good to the mass. In his view, State represents violence in a concentrated and organised form. The individual has a soul but the State is a soul-less machine and it can never be weaned from violence to which it owes its very existence. His idea was that a small group of people or families should cooperate with each other forming a kind of village republic;

---

[1] R. N. Bose, *Gandhian Technique and Tradition*, p. 41-42.

[2] See J. Ellul, *The Technological Society*, Ch. IV.

these republics must in turn voluntarily cooperate with one another to form a nation and nations similarly must form a world-community.[1] Since such cooperatives will be at peace with all the rest, neither exploiting, nor being exploited, we shall have the smallest army imaginable.[2]

Gandhiji had definite and strong views on technology. He was not against machine as such. He was against its indiscriminate use and multiplication. He very clearly said: "What I object to is the craze for machinery, not machinery as such. My object is not to destroy the machine but to impose limitations to it."[3] He did not give much value to technique. Technique was a relative thing for him. It was relative to the objects that we want to achieve. Gandhiji desired that technology should produce machines which people could use in their own homes, and not in big factories. He wished a village to remain a village and at the same time produce standard articles and small things. He emphasised small-scale village industries which serve the man and not master him. Charkha or the spinning wheel is the symbol of Gandhian technique which represents human values as well as economic stability. In such a programme each one could fulfil his basic necessities. There was no scope for labour exploitation or dehumanization of any sort.

Due to his various activities, Gandhiji could not devote full time to put his ideas into tangible shape in every sphere. His foremost disciple Vinoba Bhave took the task of giving a concrete shape to the Gandhian way of social revolution and reconstruction. He has a definite practical programme which is known as Sarvodaya (upraising of all). It also aims at the spiritual foundation for human society. It tries to eliminate the sense of private property and class which are the root causes of violence ideological as well as technological. The concept of Bhoodan—presentational distribution of landed property—is aiming at transforming Indian society and through it the world society at large. Behind its practical fold is present the idea of spiritual discipline to humanize man in the context of his social and existential situation.

---

[1] Dr. J. G. Arapura, '*The Human Situation*' (3rd series) in the *Panchashila* Jl. Bombay, Nov., 1956.

[2] Gandhiji in '*Yoynge India*' April 3, 1924.

[3] *Ibid.* Nov. 13, 1924.

We may conclude, after reviewing the whole span of Indian religious and spiritual thought, with an optimistic note. India is aware of the dangers of technology; and once we become aware of the danger, the force of danger starts reducing because we start taking precautions directly or indirectly. The fast-growing technological monster will not be able to convince and convert deep-rooted spiritualistic mind of India. On the other hand India is discovering means to regain her vitality in order to face the situation.

CULTURAL CONFUSION

N. K. DEVARAJA

The term confusion connotes a condition of disorder; cultural confusion is a state or condition of the communal or national mind. Inasmuch as the concept of culture has reference to the perception and pursuit of values, cultural confusion implies absence of order or intelligible connection in the perceptions and responses relating to value phenomena. These latter phenomena, in our view, constitute the peculiar field or subject matter of philosophy. Hence cultural confusion may be equated with the failure of the natoinal mind to create a philosophy that would beacon its way to effective response and action relating to different values.

Man is essentially a value-conscious and a value-pursuing being. He constantly breathes, lives and moves in a field of values; both the physical and the social environment have meaning to him as bearers, sustainers and promoters of different values and disvalues. Heat and cold, rain and drought,no less than moral and aesthetic approbation and disapprobation, affection and apathy, regard and contempt affect human beings as consumers, appreciators and cherishers of various values. A state of cultural confusion exists when the acts of appreciation and cherishing as well as those of disparagement, disregard and neglect, fail to proceed smoothly due to uncertainty, doubt or suspicion concerning the true and the worthwhile in the actors' minds.

The point of this definition or description of cultural confusion may be illustrated by a simple example. A father in medieval Europe and also in medieval Arabia and perhaps India, knew definitely that it was desirable and proper to inculcate in his children a firm faith in the existence and majesty of God, conceived as the Creator and ruler of the physical universe no less than of the human world ; it is by no means easy for the modern man, conversant with the findings and trends in the physical sciences and with the far-reaching changes in the organisation of society brought about by technology on the one hand and by socio-political upheavals engendered by revolutionary, utopian ideologies on the other, to be so thoroughly convinced of the theological dogmas under reference. Nor is the modern man at all persuaded that there exists an other world where the ultimate goal of life is likely to be realized.

Taken in the wide sense of crisis in man's feelings and convictions regarding values, the phenomenon of cultural confusion is not confined to India. Ever since the rise of science and the propagation of concepts and theories opposed to theological dogmas, the western mind has been in a state of unrest and agitation in regard to life's central direction and concerns; it has, as it were, lived with a split personality ever since Copernicus and Gallilco espoused the cause of the new, helio-centric astronomy. The latest expressions of the cultural conflict raging in the European mind are provided by the revival of the Christian outlook in neo-Thomism and in various existential philosophies on the one hand and by the emergence of humanistic ideologies on the other. It may be observed here that, during the last few centuries, the western nations have also produced a number of ideologies relating to the organisation of society and government. These ideologies have on the one hand given rise to several movements and revolts aiming at re-organisation or transformation of social and political institutions ; on the other they have accustomed the western man to live by rule of law and by fairly developed norms of socio-economic and political behaviour.

In India the course of cultural development during the last hundred and fifty years has been altogether different ; the now emerging cultural chaos and unrest is also different in important respects from the cultural crisis being experienced in the West. Further, greater confusion seems to prevail in our socio-economic and political conduct which compares unfavourably with the orderly functioning of the western societies, particularly the democratic societies.

The renaissance experienced by Europe during the fifteenth and sixteenth centuries was a movement in the direction of secularism and humanism ; these tendencies of the western cultural consciousness continued to be strengthened by the growing forces of science and technology. The increasing production of wealth and the growing efficiency of social, political and economic organisations in western countries also contributed to the growth and development of secular consciousness and ideals. In contemporary Europe and America religion, understood in the sense of the pursuit of detachment and holiness, has ceased to be a significant factor in the life of the citizens. At best, religion is equated with the moral ideal of service to humanity or one's fellow-beings.

In India a sort of renaissance began in the nineteenth century in the form of revival of interest in ancient philosophical religion or religious philosophy, such as the Advaita Vedānta. This renaissance or revival of interest in ancient religious culture gave a new impetus for growth and progress to the Indian people. The religious revival of the nineteenth century also involved re-interpretation of ancient ideals. Such religious leaders as Raja Rammohan Roy, Dayananda, Vivekananda and Tilak interpreted traditional philosophies in a way calculated to arouse the Indian people to greater effort for the improvement of their earthly existene and national status.

Philosophical Hinduism, which came to the fore in the writings of the nineteenth century reformers, was more or less rational in content. The Advaita Vedāntic philosophy in particular, that was emphasised and preached by Vivekananda and Tilak, did not seem to be opposed to western science. Consequently the Indian intelligentsia did not suffer any crisis in the field of religious values comparable to that experienced by Christian intelligentsia in Europe and America. While Christianity had been primarily a religion of faith, Vedāntic

Hinduism had been in the main a rational and a philosophical creed. This was the secret of the popularity and appeal that Vivekananda achieved at the Parliament of Religions held at Chicago in 1893.

However, the momentum of self-confidence and pride in respect of ancient religio-philosophic heritage generated in the Indian mind by such illustrious leaders as Ramakrishna-Vivekananda, Tilak and Gandhi had largely spent itself up by the time our country gained her independence. Having attained independence through prolonged struggle and suffering, our countrymen began to be tempted by and cherish other values from the beginning of the fifties onwards. The government started launching the Five Year Plans for the eradication of poverty, and a high standard of living became the watchword and the most important value with the intelligentsia all over the country. The Gandhian ideal of plain living and high thinking came gradually to be forgotten and ignored in actual life, though the leaders that counted still paid lip homage to the teachings of the Father of the Nation. Growing interest in the acquisition of wealth and the attainment of higher standards of living engendered among the intelligentsia a renewed consciousness of the superiority of the western nations. It also tended to make them sceptical and apathetic in regard to the claims of their ancient religio-philosophical heritage which now seemed powerless to lead them to their cherished goal of prosperity. Both the attitude of the Indian Government and the news of growing affluence in western countries including the United States have gradually led our educated men and women to believe that a prosperous India can be built up only through science and technology, and not through adherence to the traditional philosophies of life and world negation.

Thus the new craze for science and technology, and for higher standards of living through the promotion of industrial growth of the country, have tended to alienate the Indian people particularly the middle and upper class intelligentsia from their moral and spiritual heritage. This, along with the rising prices of the commodities during the recent years, has led to a state of moral crisis and chaos in the country. While there are still a large number of educated men and women, and quite a few leaders in the academic and political fields, paying verbal homage to the ancient ideologies and ideals, there are hardly any who care to translate those ideals in actual life. So far as their outward behaviour is concerned, the teachers and students of ancient Indian philosophy and religion do not differ significantly from those who pursue the physical or the bio-social sciences. Similar modes of social etiquette and behaviour and similar demands as regards the standards of comfort and luxury, prevail among people belonging to same income groups, irrespective of their occupations and religious or philosophical affiliations.

We are now in a position to understand the sort of cultural confusion that prevails in contemporary India. Man wants to live rationally, seeking rational justification for the ends or values that he cherishes and pursues. One of the functions of philosophy is to furnish rational basis for the acceptance and gradation of the goals or values approved by a society. It follows from this that the changing values and norms in a society necessitate reconstruction and revision in the philosophy or philosophies of life as well. The nineteenth century reformers in India achieved such reconstruction by re-interpretating the ancient religio-philosophical tradition. That reconstruction served the purpose of instilling into the Indian mind the desire and the will to liberate themselves from the foreign yoke. However, the reconstructed versions of the Vedānta have not been able to lend rational support to the demands and aspirations of the new generation that has taken birth and matured in the new industrial India. While accepting several or most of the goals and values from the western world, the modern Indian has not been able to imbibe from the west either their socio-cultural and political attitudes or their new, humanistically oriented philosophical outlook. During recent two decades India has successfully borrowed from the west, in addition to their science and technology, the external forms of their socio-political and economic institutions; but it has not been successful in developing the reflective and emotional attitudes and habits that lend meaning and strength to those institutional forms. Despite the democratic set-up of our political and civic life, by and large the people of India continue to be caste-ridden and feudal in outlook and behaviour. Further, the new goals and norms of behaviour, subconsciously entertained by the new generation, remain rationally unexplained. This means that the new values emerging in the national consciousness are not finding any support and justification in terms of a national philosophy, i.e. a philosophy integrated with the national tradition.

A philosophical outlook, in so far as it touches on the perception and pursuit of values, grows out of the living consciousness and habits of response of a people. During the past few decades the life and consciousness of the Indian people have suffered a radical change. These changes are not properly comprehended by the conceptual pre-suppositions and postulates of the philosophies of life created in ancient and medieval India. Even the reconstructed versions of those philoslphies fashioned by such illustrious reformers as Vivekananda and Tilak, Tagore and Gandhi are unable to do justice to the needs and aspirations of the new generation in India. A workable philosophy of life cannot establish itself in the minds of the people merely by condemning the attitudes and values characteristic of the new age; it can persuade the new generation to observe distinctions and norms in their pursuit of different goals only by *conceding* the claims of the new values. The true function of a valid philosophy of life consists, not in condemning or disowning the values that have come to prevail at a particular moment in history, but in imparting to the people the sense of discrimination by training their preferences in respect of the prevalent values. There is a good deal of truth in the observation that the reasoning employed by us is largely an attempt at rationalization. An acceptable philosophy of life should accomplish two things: it should lend rational support to the characteristic values of a society or civilisation; it should also enable the people to rationally discriminate between the lower and the higher forms and types of values. As a rational enterprise, philosophy is concerned to invent premises that would serve both as presuppositions and as criteria for defending and evaluating the different expressions of values.

The present writer is a believer in the essential continuity of the past and the present traditions in values. While conceding that the premises or presuppositions of most of the older philosophical systems have by now become more or less out of date, he yet believes that the value-intuitions lying behind those presuppositions and postulates continue to be largely relevant and meaningful to us today. This is as much true of the more fundamental moral and religious values as of the aesthetic values. Just as a sensitive reader of modern masterpieces such as the Anna Karennina, the Ulysses and the Four Quartets can yet enjoy the writings of Kālidāsa and Bāṇabhaṭṭa, Dante and Shakespeare, even so a modern man can appreciate the moral insights of a Manu and the ideal of the Sthitaprajña delineated in the *Bhagavadgītā*. But the modern student of literature may not be able to accept the postulates whereby ancient critics and moralists sought to justify their perceptions of values in their respective fields. Some of those postulates may appear to us today to be too speculative, others may seem to be too inadequate. It is the perennial privilege and continuing task of philosophy to furnish new generations of sensitive individuals and communities with new premises and postulates such as would enable the latter to comprehend and organise both their inherited and new perceptions. It seems to me that the cultural confusion prevailing in the present-day India can be eradicated and overcome only by the creation of new, powerful philosophies of life which, while preserving the best moral and religious insights of the ancients, would not hesitate in making radical departures from traditional metaphysical schemes. Unless and until this is done, the Indian national mind would continue to live in a philosophical vacuum as it were, or to suffer from a split personality, being impotent to bridge the gulf between the demands of traditional philosophies on the one hand and those of modern sensibility and the modern aspirations on the other.*

---

*Paper contributed to a Seminar on 'Cultural Confusion in Modern India' held at Vishvabharati, Santiniketan, in March, 1967.

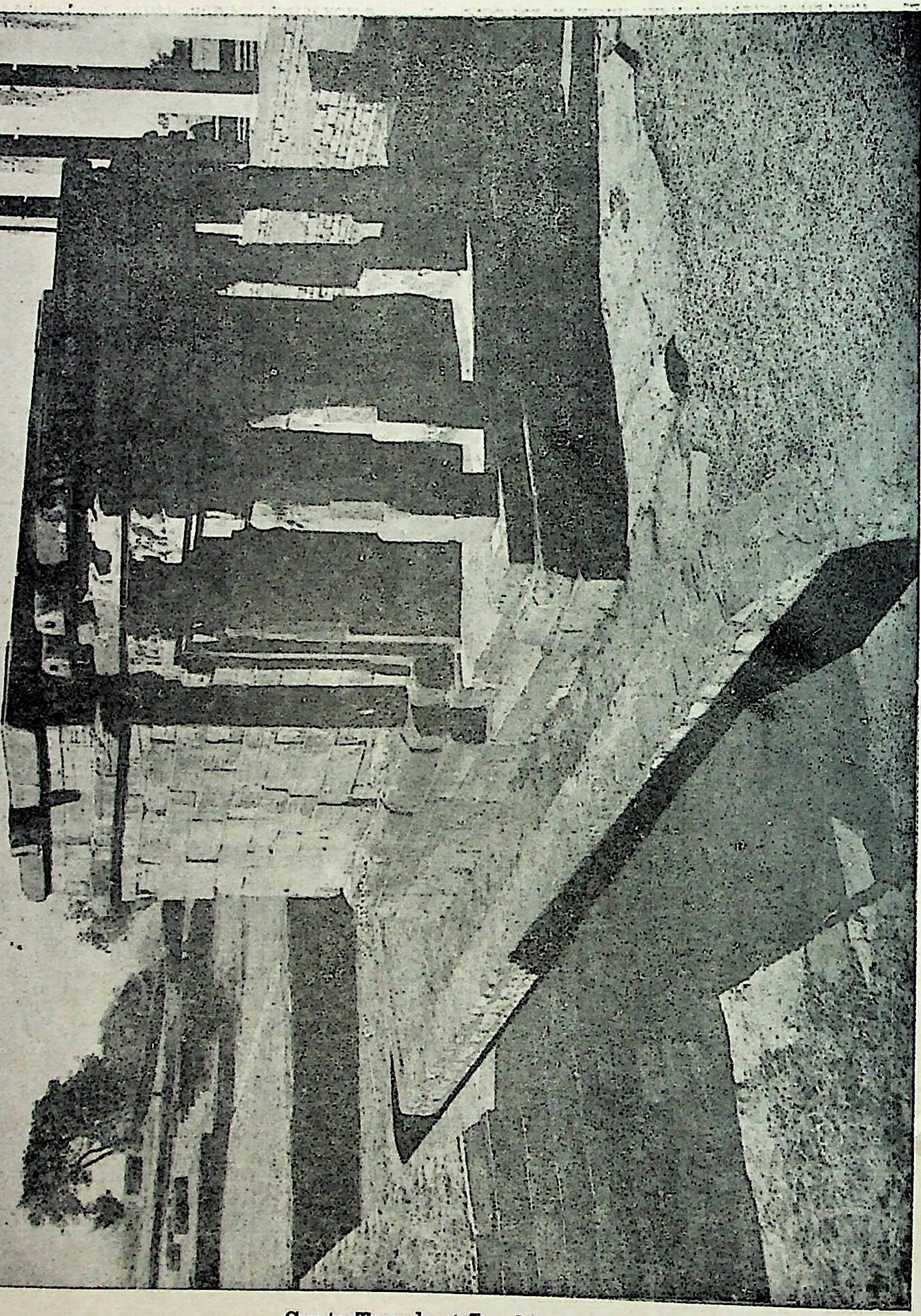

Gupta Temple at Sanchi
C. early 4th cent. A.D.

GUPTA TEMPLE ARCHITECTURE

P. K. AGRAWALA,

Lecturer, History of Arts, College of Fine Arts.

All the temples that can be dated in the Gupta period on one account or the other, have some common architectural and sculptural features typical of the age, and were for the first time recognised as such by Cunningham. No archaeological stratification could help us in dating these temples, as not a single Gupta temple has been discovered in course of systematic excavations. Our main guide other than art style, is inscriptions and they again are available only in a few cases. Cunningham had noted during his archaeological surveys as early as 1874-7, incorporating two season's tour in Bundelkhund and Malwa, a number of "undoubted specimens of the architecture of the Gupta period." In his own words: "The most striking characteristics of the Gupta style are the following:—

1. Flat roofs without spires.
2. Prolongation of the door lintel beyond the ends of the jambs.
3. Statues of the river goddesses Ganges and Jumnā guarding the entrance door.
4. Continuation of the architrave of the portico as a moulding all round the building.
5. Pillars with massive square capitals ornamented with half seated lions back to back, with a tree between them.
6. Bosses on the capitals of a peculiar form, like beehives with short side horns.
7. Deviation in plan from the cardinal points."
8. In the portico frontage, middle intercolumniation being larger as compared to the side ones.

These fundamental observations by Cunningham in finding the set architectural norm underlying the building pattern and distinguishing characteristics of the early Gupta period represented by Sānchī, Eraṇ, Tigowā and Udaigiri, have remained largely unmodified up till now. But valuable discoveries have successively added to our knowledge of various architectural, sculptural and other details, general and peculiar forms and their associations with and contributions to subsequent Indian architecture. Besides a few modifications and changes in the order of their chronology, a comprehensive attempt is still wanting to explore their links with preceding architecture, gradual evolution of their different component parts by comparative analysis, and sculptural wealth. The great mass of the literary material has also to be corroborated with and interpreted in the light of existing monuments.

It is no exaggeration, the whole of North and Central India was filled in the course of several centuries with shrines of brick and dressed stone masonry. The farthest limits of the movement itself are traceable in the east up to Dahparabatiyā on the Brahmaputra in Assam, in the northwest up to the Panjāb and Sind, in the west up to coastal regions of Saurāshṭra and in the south up to Kṛishṇā Basin. But the influence of the art of Madhyadeśa is patent in every details of sculpture and architecture, whether to the west or to the south.

Early stages in the evolution of the Hindu temple from a primitive hut shrine to the flat-roofed porticoed Gupta temple could only be traced and illustrated summarily from the Śuṅgan reliefs, at Bharhut, Sānchī, Mathurā and Bodhgayā. At present, from them only we have to explain how the architect might have worked out the model which combined various elements from more than one source.

An early Gupta temple showing the simplest type of a small flat-roofed pillared shade or maṇḍapa for enshring an object of worship is at Mukundurrā. (*Refer* V. S. Agarwala, "A new temple at Darrā," *JUPHS.*, Vol. XXIII, 1950, pp. 196 f.). It stands on a raised plinth measuring 44′ × 74′ with stepped approaches from the left and right corners of the front side. The cella or sanctum (*garbhagṛiha*) consists of four square

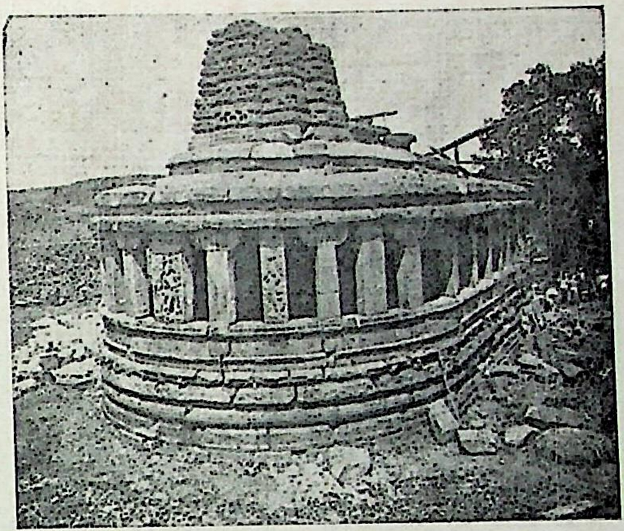

Durga Temple, Aihole
With apsidal plan and Moderate spire

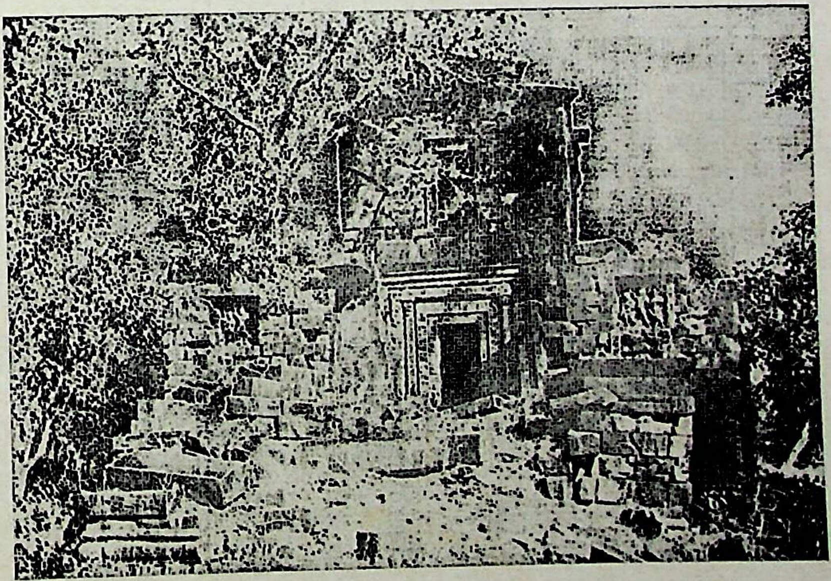

Pārvatī Temple, Nāchnā Kuṭhārā
Double-storeyed

pillars, 5 ft. apart from each other. The flat topped roof covered by a single stone slab of moderate size is carved with a big full-blown lotus in the centre showing two bands of petals and a band of floral scroll work. On each of the three sides of the sanctum stand two pilasters. On the front side also, at a distance of 5′, in a line with the sanctum pillars, were erected two square pillars which supported the capital and lintels and were covered with a flat top stone, so that on all sides of the temple a continuous circumabulatory path was provided.

Percy Brown also noted the archaic construction of this temple and observed that "this example consists of the remains of a pillared portico of immense blocks, suggesting such a giant handling of stone that only its precise cutting and fine carving save it from being characterised as cyclopean. While there is something not unattractive in the ingeneous chamfering which breaks up the mass of the pillar shafts a decorative treatment remotely related to the Buddhist railing pillar the fabric in its entirety has a definitely archaic flavour, recalling the massive strength and dexterous simplicity of the 'sturdy Dorians' in Greek architecture. It shows little knowledge of construction, the only problem solved being that of placing one stone on another, the first step in the art of masonry building." (*Indian Architecture*, p. 50, 3rd Ed.).

Obviously the design of the temple presents extremely simple type, showing closer affinities with the known shrine represented in Bodhgayā reliefs. As pointed out by Prof. V. S. Agrawala, the architectural feature of square flat top of the sanctum is similar to the square parasol of the Bodhisattva images found at Maholī and Mathurā, which were placed above free standing images. (*Studies in Indian Art*, p. 227). Though the presence of the devoloped *pradakshiṇā-patha* may be a little misleading, but its matter-of-fact plan and open sides, its simple design of pillars, undeveloped front and main stress on scroll-decorations, all point to the fact that the Durrā temple should be earlier than any of the other Gupta temples.

The earlier group of Gupta temples is represented by those structural examples as at Sānchī, Tigowā, Eraṇ and Udaigiri. These may be dated in the period of Samudragupta and Chandragupta II. To the period of Chandragupta II may be assigned a series of excavated shrine chambers at Udaigiri, one of which bears an inscription of his time. This class may be termed as the 'pre-Śikhara' type. Though these examples are possessed of a generical formula of a flat roof and pillared portico, they greatly differ in details of plan and elevation. A certain scheme of evolution in their dimension and other elaborations can be detected which may help us in appreciating the zealous labours on the part of the Gupta architect who advanced the style to a zenith in a limited period of two or three generations.

The full credit goes to the Vidiśā craftsmen for devising the first standard model type for the Gupta temple. These gifted and creative artists backed by the technical efficiency of centuries, set at work sparing no trouble or skill to comply with the orders of their enthusiastic and devout royal patrons. They overcame tactfully some architectural problems as may be seen in the partly rock-hewn and partly constructed temples at Udaigiri when compared to the structural temple built down the hill only five miles away at Sanchi.

Notwithstanding the inexperienced stage of masonry techniques evident from the instances, 'the rock-cut facades, especially the doorways, are richly carved,' and display the early stage in the evolution of the Gupta entrance. The much evolved entrance of the Bīnā Cave represents an ornamental doorway with a plain frame surrounded by three courses of rich mouldings. On the door there are five cusped bosses with small circular panels, each containing a figure. Some caves show two figures of *dvārapālas* on either side of the door, finely carved with bell-capital pilasters supporting the river goddesses mounting their vehicles (which is here only crocodile). The Amṛita Cave, the largest and perhaps latest of the Udaigiri cave group, presents a far more spacious and evolved conception with its richly ornamented pillars and doorway.

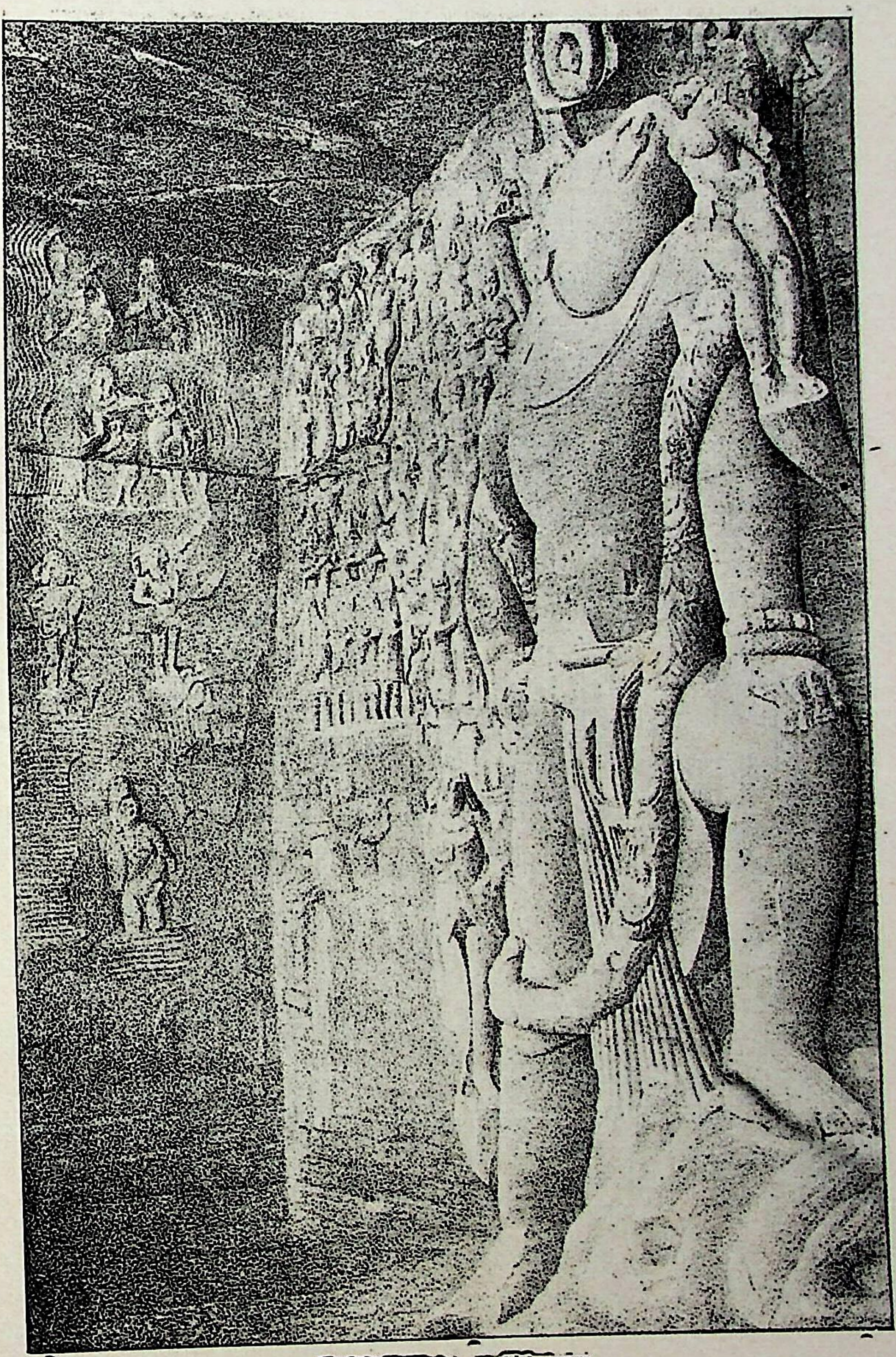

Maha Varaha at Udaigiri
Dated to the reign of Chandragupta II

Side by side, at Sānchī, they had erected the most typical and 'the oldest structural temple' (Cunningham, *ASR.*, X, p. 62) of its class, which is described shortly. Though very unpretentious building, consisting of a single flat roofed chamber with a pillared porch in front, despite its moderate size, and with no pretentious claims for high ornamentation, is well balanced and fully lithic in forms. The pillars with massive square capital and campaniform above the octagonal shaft, are externally the most attractive member of the architecture. "The flat roof", says Cunningham, "the square form, and the stern simplicity of this structural temple, all point to the rock-hewn cave as its prototype ; and in the neighbouring hill of Udaigiri we have actual rock-hewn examples of this very style."

Tigowā, about 150 miles apart the Vidiśā group, at one time a village of temples, but almost all of which have now disappeared owing to the deliberate spoliation in the 19th century, fortunately preserves another early Gupta temple. It is a stone-building, 12′9″ square, covered with a flat roof, The portico, supported on four pillars with the middle intercolumniation of 2′9″, leads through a ornate entrance doorway into the 8′ square cella enshrining a Narasiṁha image. (*ASR.*, IX, p. 45). We see, here, a definite advance from the Sānchī temple ; to the Gaṅgā-Yamunā figures on their mounts surmounting the side pilasters of the door ; the pillars possessing instead of simple reeded bell capital of the Aśoken column type as at Sānchī, show fluted bells like Udaigiri type which belongs to the second stage.

Finest part of the shrine is its entrance door framed by pilasters on each side which form supports for the river-goddesses on their respective mounts. Above them is the lintel, over which a line of thirteen square "bosses", the device which represented in the wooden prototype the ends of the beams. These projecting bosses here are quite plain, a feature particularly pointing to its archaic conception.

At Eraṇ or ancient *Airikina*, among several Gupta temples, the oldest one is that dedicated to the Narasiṁha Incarnation of Vishṇu. It is much damaged, and only some portion of the front was standing *in situ* when Cunningham saw and excavated the site. (*ASR.*; X, pp. 88 f.).

The other two temples at Eraṇ itself are those of Vishṇu and Varāha the latter dated to the reign of Toramāṇa (A.D. 500). The Vishṇu temple, as we now see it, according to Cunningham, is later by at least two or three centuries than the Narasiṁha temple. He observed that the early portico, as well as the body of the building was left unfinished, and it is not improbable that it may have fallen down, and afterwards re-built as we now see it. Its flat roof is the only early feature, but much more massive than that of the Sānchī and the Tigowā temples, rising 3 feet 3 inches above the capitals of the protico pillars.

The Vishṇu temple at Deogarh is a gem of Gupta art and architecture. It is an inspired work of some great architect and resourceful builders with a wealth of beautiful sculpture and reliefs. It provides a glorious record of Gupta genius and is a landmark in the evolution of Gupta temple architecture. We are here face to face with a happy symbol of pulsating art and a religious establishment finest of its class. Interest not only lies in the excellence of its figure sculpture both in their design and in execution but the marked achievement in the vertical form of architecture.

The temple stands on a high plinth, accessed by a flight of steps on four sides. It was laid out on the usual square plan, divided into nine squares, the central one being occupied by the sanctum itself. There were originally on the same terrace revealed by the excavation carried out by Sahni (*APRH, BMNC.*, March 1918, pp. 7 f.) four smaller shrines one on each corner, hence it is the earliest known *pañchāyatana* example in North India. The terraced basement is adorned with a continuous row of sculptured rectangular panels framed by short pilasters on all the four sides. No doubt, this feature rendered the temple terrace an attractive part of the monument providing ample space for carving religious and mythological scenes in

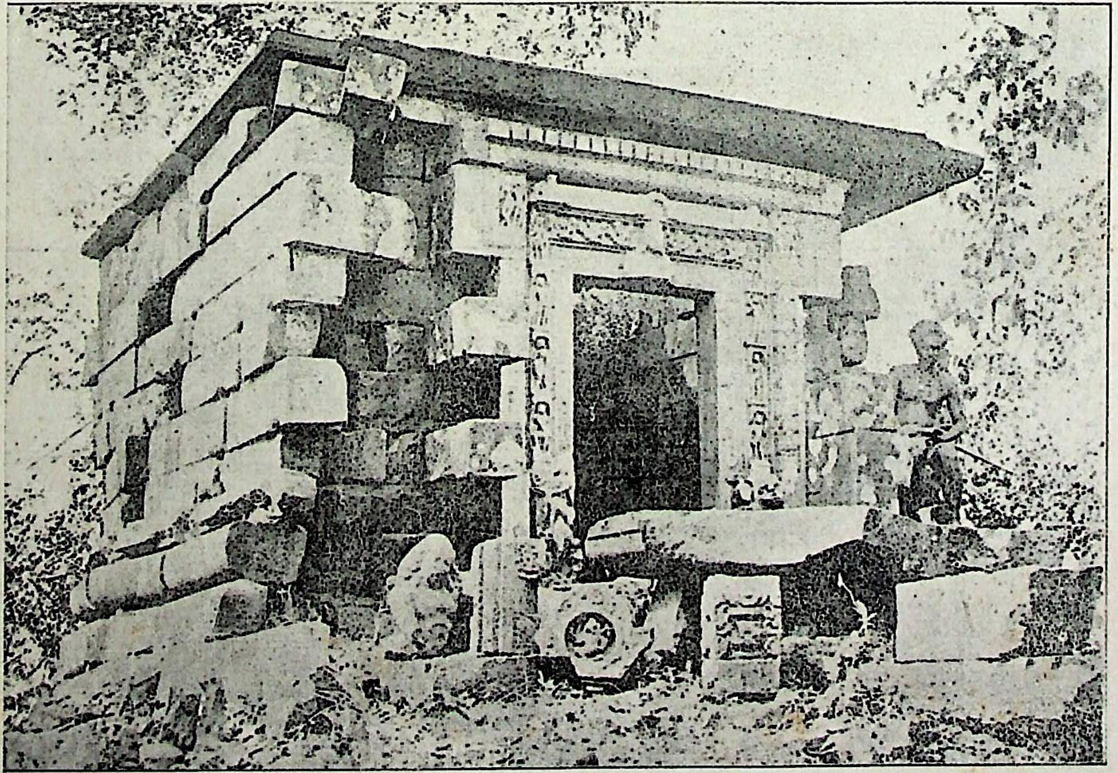

Flatroofed
Śiva Temple, Bhumra

stone, a number of which are preserved on the face of the Deogarh plinth (*jagatīpīṭha*).

The *Garbhagṛiha* is of moderate size, measuring 18′6″ square outside; and 9′9″ square inside with the four walls 3′7″ thick. While the western wall of the main shrine is pierced by a highly carved doorway, the other two sides and the exterior of the back wall consist of three large ornate panels, each framed between two pilasters, lintel and a sil. "In each case, the two inner facets of the frame-work exhibit a foliated scroll rising from an auspicious conch placed head downwards and a band of rosette-and-leaf pattern respectively. This combination reminds of the auspicious *śaṅkha* and *padma* motifs associated with doorways referred to in literature of the Gupta period." (Vats, *Gupta Temple at Deogarh*, p. 13). These big *rathikā* panels (5′ × 4′) show a group of three scenes carved in high relief from Vaishṇava mythology, viz., *Gajendramoksha*, *Nara-Nārāyaṇa-tapasyā* and *Anantaśāyī Vishṇu*.

To protect these side niches and the entrance were according to Cunningham, Fuhrer, Banerji and Brown, four small porches, or a covered gallery all round. But Vats in his monograph on Deogarh disagrees with them on certain grounds. He is of the opinion that there were no such porticos on each side, and 'too much has evidently been made of what remains of the beams of the entablature and the shading canopy'. (Ibid., p. 6). According to him the entablatures above the doorway and niches were carved with a simple frieze of arched window pattern, projecting on strong cantilever beams (17″ × 12″ to 14″ × 12″ in section) four on each side, a deep and continuous flat canopy which effectively shaded the reliefs on the doorway and panels on the remaining sides without causing any obstruction to the view. The stones of the canopy, as well as the cantilever beams, are deeply embedded into the walls and gradually taper along their upper surface only. (Ibid.) Though it is difficult to accept the possibility of projecting porches altogether improbable, it is apparent that there was presumably an architectural experiment to protect the sculptures. Whether it was in the form of porticos or simple continuous projecting canopy, it is not possible to ascertain.

The exquisitely carved entrance of the temple is not only its best preserved portion but also the inspired work of some great artist. Its frame (11′8″×10′9″) enclosing the doorway proper (measuring 6′11″ × 3′4″) shows an excellent scheme of several decorative motifs, viz., male and female attendants, garland-bearing woman and *kīchaka* dwarf, each occupying one fourth portion of the jamb and continued upwards in the form of *śākhā*, with some other like *mithuna-śākhā*, *chaitya*-arch and foliated friezes and designs. In the lower part of the lintel above (*lalāṭa*) in the centre it bears the figure of a four-armed Vishṇu seated on the serpent Śesha which helps in the identification of the temple as a Vaishṇava shrine. On its two side corners, the figures of the Gaṅgā and Yamunā are shown standing on their vehicles, a crocodile and a tortoise respectively, a feature pointing to its early date. Noteworthy are a frieze of five arches, a decoration with lion-heads and a fine string-course.

Cunningham assigned 'a comparatively early date to the temple' on the basis of the excellence of its sculpture, though he was not inclined to place it 'earlier than A.D. 600'. Daya Ram Sahni, on the basis of a two-lined early Gupta epigraph discovered by him, dated it to the early Gupta period, while R. D. Banerji concluded that it could not be much earlier than 575 A.D., as the *Sikhara* according to him made its beginning only towards the close of the sixth century A.D. Percy Brown assigned it to c. 500 A.D., and Vats to the early part of the sixth century. However, besides the style of the sculptures and ornate carving our particular guide in dating this shrine is the short longish Brāhmī inscription, placed palaeographically in the last quarter of the 5th century or the first quarter of the 6th century A.D., recording the monument as "the gift of Bhāgavata Govinda at the holy feet of the Lord of Keśavapura." The Bhāgavata Govinda known from a Basārh Seal and a Gwālior inscription was the second son of

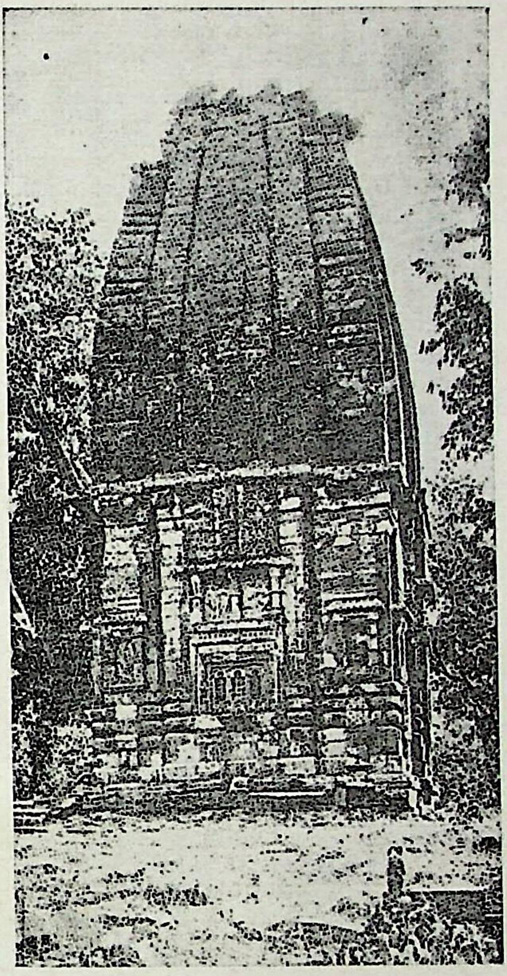

Mahādeva Temple at Nāchnā Kuṭhārā
Showing medieval Śikhara

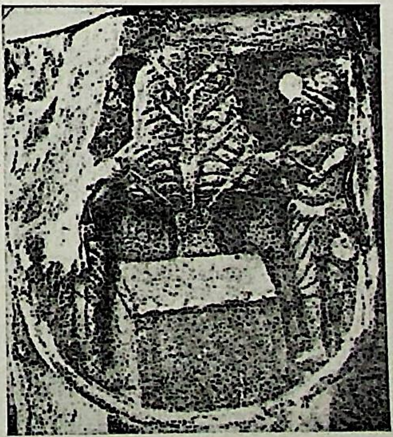

Stone-slab under tree
From Bedhgaya reliefs. I cent. B.C,

Chandragupta II from his wife Mahādevī Dhruvadevī (V.S. Agrawala, *Studies in Indian Art*, p. 225) In this light, the erection of the temple could be placed in the later part of Chandragupta's reign or somewhere early in Kumāragupta's reign, when Govindagupta himself had ruled in Malwa as governor.

The date may well range from A.D. 400 to 430 A.D. For several reasons, we believe, the Deogarh temple in the chronological chart of the existing Gupta temples should belong after the group of Udaigiri cave-shrines, Sānchī and Tigowā temples. The position of the Deogarh shrine among Gupta-temples is conspicuous as it represents the first known *śikhara*-type in Northern India. It had opened with its moderate spire a new epoch in temple architecture and paved the way for lofty *śikhara* temples being erected at least a few decades before the poet could imagine in the Māndsore inscription a temple *śikhara* as towering as a hill peak (*vistīrṇatuṅgaśikharaṁ śikhariprakāśam*, *CII.*, III, p. 81).

Other early temples inspired from the Deogarh temple have unhappily disappeared; their achievements could be gathered from fragmentary door-frames and various architectural members noticed and reported from time to time by various writers. They may be noted as follows:

(1) A large figure of the Gaṅgā standing on her crocodile. From Besnagar, carved in masterly manner on a stone fragment originally from a temple doorway. It is apparent that it stood on the right end of the lintel, which must have belonged to a temple of the Gupta age. (Cunningham, *ASR.*, X, p. 41).

(2) Remains from Jānkhaṭ village show the *makaravāhanā* Gaṅgā figure, which evidently was placed above the lintel level of a temple, presumably in the early Gupta style.

(3) Four pillars from Bilsaṛ, two of them bearing inscriptions of Kumāragupta, of which one is dated

in Gupta Era 96 (=A.D. 415). (*ASR.*, XI, pp. 17-18).

(4) Fragments of an *āmalaka*, the crowning member of a *śikhara* temple, unearthed near Chittor at Nagarī, and datable to the fifth century.

(5) Ruins of a temple exposed at Baigrām in the Dīnājpur district, Bengal. "According to the copperplate inscription dated 128 G.E. (447-48 A.D.) found at the site the remains represent the temple of Lord Govindasvāmin, erected by one Śivanandin, for the maintenance of worship and repair of which some land was purchased and made over by Bhoyila and Bhāskara, the two sons of the builder." (*Ep. Ind.*, XXI, p. 81).

(6) Inscriptions incised on pillars also testify the existence of Gupta temples, at Gaḍhwā, Bhītarī, Kahaum (Cunningham, *ASR.*, Vol. I, p. 94, 99 ; X, p. ii ; XI, p. 17) of the time of Kumāragupta I and Skandagupta. At Kahaum, the two temples were in ruins, when Cunningham, visited the place. But Buchanan had opportunity to see them before their total destruction and described them as pyramidal in form, with two apartments one over the other, as in the great temple at Bodhgayā. Cunningham from his excavations of the site could only learn that it was of small dimensions and consisted a room 9 ft. square with walls only 1 foot 6 inches in thickness. The building therefore, was only 12 feet 6 inches square on the outside.

The culmination of the simple Gupta plan may be seen in the Bhūmarā and Nāchnā Kuṭhārā temples. They represent a type, not true Gupta but rather Gupta-Vākāṭaka or Vākāṭaka. In both the cases the architect appears to be concerned more with the provision of a covered path of circum-

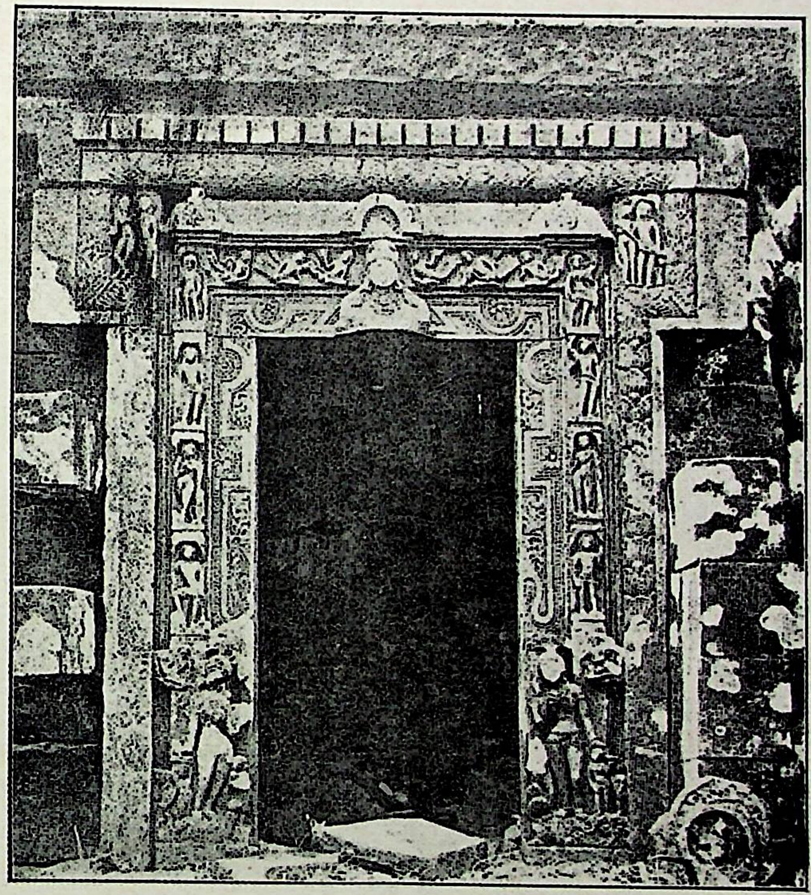

Doorway
Śiva Temple, Bhumra

ambulation than with the *śikhara*. From its style as well as the mason's marks in the Śiva temple at Bhūmarā, R.D. Banerji considered it to be the earlier of the two (*The Age of the Imperial Guptas*, p. 137). Prof. Saraswati who differs from the above view, takes the Pārvatī temple at Nāchnā Kuṭhārā on the basis of its simplicity of design and decoration, earlier (*Classical Age.*, p. 507). However, it is not possible for us to class these two examples with the early Gupta group of temples. As to the Bhūmarā temple it should be noted that it exhibits only two features to be called early : the flat roof and the large ashlar masonry. Otherwise the position of the Gaṅgā and Yamunā at the bottom of the jambs, indistinct pilasters in the doorframe, closed *maṇḍapa* with an additional carved portal with similar goddess figures, a miniature shrine on each side of the staircase, elaborately decorated figures in friezes and in *chaitya*-window niches, and evolved workmanship and bodily ornaments of the enshrined *Ekamukhī Liṅga*, all point to a date later than the Deogarh and other connected instances.

The possibility is that it was constructed perhaps in the time of Parivrājaka Mahārāja Hāstin (A.D. 475-510) who mediated (*ASR.*, XXI, p. 96) on the feet of god Mahādeva in the village of Amblodā (=Bhūmarā), and in its building the evolved Gupta plan, techniques and sculptural schemes were availed of. It is also possible that originally it was an early Gupta monument which was rebuilt in the time of Mahārāja Hāstin when the new liṅga, doorframes, cloister, front *maṇḍapa*, plinth decorations and other embellishments were added. A special feature of the Vākāṭaka plan may be regarded in its having a covered gallery round the sanctum which we see here introduced for the first time, and also which is present in the other example of this territory.

The Pārvatī temple at Nāchnā Kuṭhāra, is of a similar design, better preserved than the previous instance. Here the actual disposition of the sanctum (15′-6″ square outside), inside the larger chamber (33′ on the outside) serving as the covered path of circumambulance could be observed. The temple is curious from the conventional imitation of rock work on all the outer faces of its walls. The inner chamber is dimly lighted by two trellises, formed of simple square loop-holes one in each side wall, receiving light through corresponding trellis in the cloister wall. There is an upper storey, quite plain inside and outside, covered by a flat roof of slab pointing that no *Śikhara* ever was intended. The richly carved doorway of the sanctum is a little more evolved than of the other Gupta temples, and show human figures in pairs on each jamb, ending with but prominent figures of the Gaṅgā and Yamunā. Here also, as in the case of Bhūmara temple, in front of the entrance on the extended plinth there is a open *maṇḍapa* nearly 12′ square, reached by a flight of steps.

There is no sign of a *śikhara* though there is a small chamber above the sanctuary, this itself proves that the architect never intended to build a spire over the shrine. In the same direction the flat roof of the upper chamber indicates that there was no *śikhara.* Also no remains of a staircase could be traced which might have led the visitor in earlier times to the upper storey; the fact indicates that probably one of the purposes in building the upper room was to raise the height of the temple as if to make it visible even from a distance.

The Pārvatī temple due to its upper storey has been a curious one in eyes of scholars, and has often been compared with other such shrines of the Chālukyan territory, viz., the Lāḍ Khān, the Kont-Guḍī, and the Megutī temples at Aihole, having an upper storey in each case (Cousens, *Chalukyan Temples*).

The other two temples standing *in situ* in their restored medieval from belonging to the Gupta period and rebuilt in the 9th cent. were discovered by Banerji at Śaṅkargaḍh and by Cunningham at Nāchnā Kuṭhārā. Both of them, with their original superstructure in its unaltered form are to be placed in the early Gupta spire class represented by the Deogarh shrine. However, Banerji puts the Śaṅkargaḍh temple earlier than the

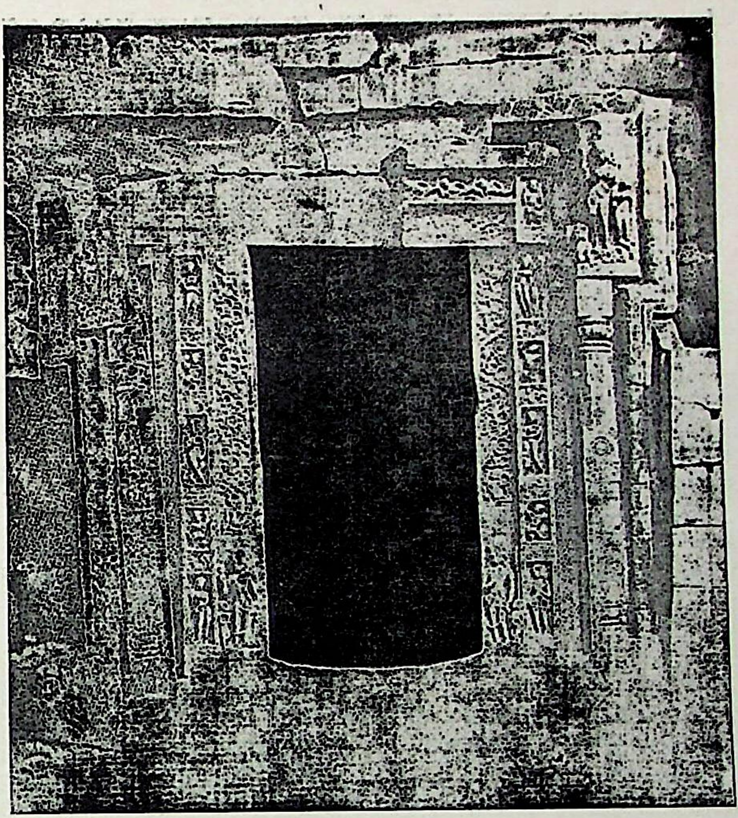

Carved Doorway,
Pārvatī Temple at Nāchnā Kuṭhārā.

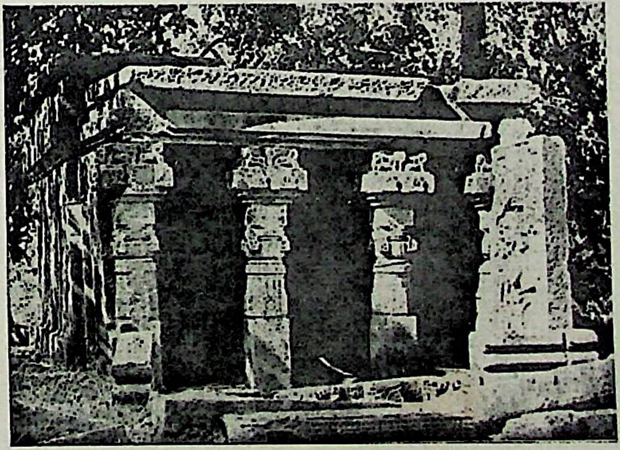

Kañkālī Devī Temple at Tigowa

later Nāchnā Kuṭhārā shrine which belonged to the early Gupta group of temples, as its gateway will point out from its comparison to the one at the same place and also at Deogarh. It shows the river-goddess figures on the top of the door-jambs and follows a similar scheme of ornamentation.

The great Mahābodhi temple, which was seen by Yuān Chwāng, is also of the same group, rebuilt in subsequent periods more than one occasion, the present *śikhara* is datable to the 10-11th century.

The brick temples starting from that at Bhītargāon form a class of their own. It is, however, noteworthy that the Bhītargāon temple with its original scheme of super-structure is the only surviving example in brick from which an idea could be formed of the temple *śikhara* as it looked like in about 500 A.D. There had existed other Gupta brick temples, as revealed from the excavations at Baigrām in Bengal and Daharbatiyā in Tejpur, Assam, which are broadly to be placed earlier than the Bhītargāon example; but not much of them remains to give idea of their superstructure.

The remarkable life-sized Gaṅgā and Yamunā images discovered at Ahichchhatra were fixed at the two sides of the steps leading to the upper terrace of the Śiva temple there. Their prominent position occupying the full vertical spaces of the door-jambs on either side represents the transitional phase and exhibit how the goddesses once located at the top descended to the bottom of the frame in later temple entrances. As such we see them in very high relief on the exquisite stone doorframe at Dah Parbatiyā in Assam surviving from Gupta brick temple. This portal has been regarded by art-critics as one of the best specimens of its class in the Gupta period. It is closely connected with the Deogarh doorway in its details and displays a step further in the elaborate scheme of carving, namely the number of bands is increased to five; behind the halo of the goddesses now with increased number of attending figures there appear two flying geese, etc.

The temple of Bhītargāon is remarkable for several acounts. Not only the oldest brick temple in existence, it is a unique specimen of the brick architecture of the Gupta period for its tower. Standing on a considerably high plinth, it is built on the principles of a square plan similar to other early shrines, but with a doubly recessed corners a marked feature of importance perhaps making its first appearance at Deogarh. Thus the building projects on the three sides in the middle of the cella and on the front, i.e., east with a small anteroom and the entrance steps. The sanctum or *garbhagṛiha* (15′ square) and the anteroom or porch (7′ square) are connected with a passage. The two, the inner and the outer, passages are covered with round or semicircular vaults, and the two rooms with pointed domes. Above the sanctum there is an upper chamber of less than half its size, which was perhaps originally covered by a vault of the same construction. Cunningham was locally informed that sometime in the 18th century the spire was struck by lightning when the top portion was damaged and the upper room became exposed to the sky.

The exterior, though much ruined is the most striking feature of the Bhītargāon temple both for its architectural proportions, and profuse decoration of carved brick-work and skilfully moulded terracotta panels. The walls rise in bold moulding, their upper portions being decorated with a series of rectangular niches of terracotta panels alternating with ornamental pilasters. A double cornice separates the body of the shrine from the rising pyramidal *śikhara* beautified with the tiers of *chaitya*-niches in superposed horizontal courses. As Percy Brown puts it, "It is in the architectural treatment of its surface that the builder has shown his skill in overcoming the disadvantages of flatness and want of shadow, inherent in structures composed of small elements such as brick. Variety has been obtained by introducing at the right intervals prominent string-courses, broken by recessed planes with sunk panels all arranged in excellent relation, not only to one another, but to the scheme as a whole." (*Op. cit. p. 41*).

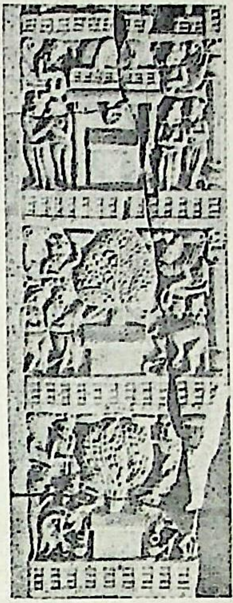

Early "Shrines"
From Sanchi reliefs

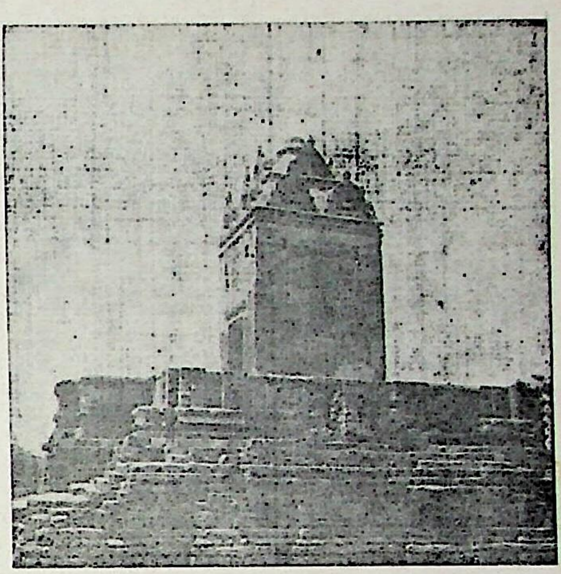

Gupta Temple at Gop Hallar, Distt. Kathiawad

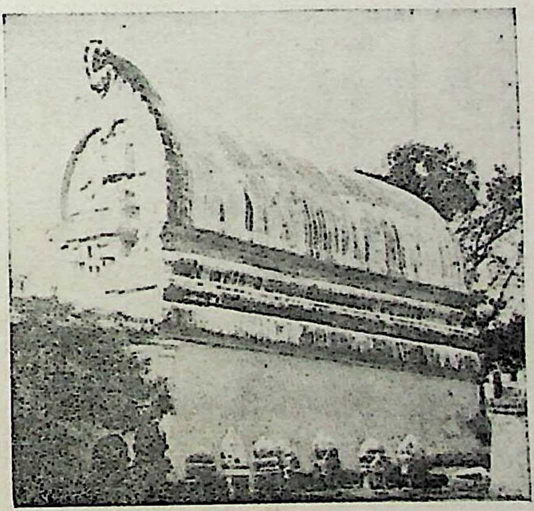

Temple at Chezerala
Apsidal plan with *gajaprishṭha* roof

Cunningham and Banerji place it very late, the former in the 7-8th century and the latter not before the medieval period. If not as early as the 4th cent. as Vogel would put it, Percy Brown appears somewhat justified in placing its construction during the fifth century A.D. In timescale the Bhītargāon temple could not be far removed from the Deogarh temple, 'with which it bears some general resemblance'. We, however, propose to assign it to about 500 A.D. or better a decade earlier.

वीणा

डॉ० लालमणि मिश्र

वीणा संस्कृत साहित्य का महत्त्वपूर्ण शब्द है। आचार्यों ने इसके लक्षण और व्युत्पत्ति के लिए बहुत बड़ा श्रम किया, जिसके फलस्वरूप प्राचीन युग से ही वीणा का महत्त्व बहुत अधिक हो गया था। 'वीणा' शब्द की व्युत्पत्ति नान्यदेव के 'भारत भाष्य' के अनुसार इस प्रकार है—

"[1]वीयन्ते गम्यते ग्रामा स्वराश्चोतायानया।
अतो वीणेति व्युत्पत्ति ज्ञानाद्वा धातवो यतः॥"

जिस वीणा में ग्राम और स्वरों का आगमन अच्छी तरह से सुखावह हो, वह वीणा यन्त्र अपने आप में पूर्ण है। वीणा शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञानपूर्वक वा धातु से निष्पन्न होती है, जिसका यह अभिप्राय समझना समीचीन होगा कि जिस वीणा यन्त्र को बजाने से ज्ञान का प्रादुर्भाव हो, वही वीणा शब्द अपने अर्थ को अपने-आप में समाहित करता है। इस प्रकार नान्यदेव की यह वीणापरक व्युत्पत्ति बहुत ही प्रशंसनीय है। किन्तु मेरे संशोधित पाठ के अनुसार 'वा' की अपेक्षा ज्ञानपूर्वक 'वी' धातु से वीणा की व्युत्पत्ति मानना अधिक युक्तियुक्त है।

वीणा वाद्य की सुमधुर ध्वनि के सुरम्य स्वर से ब्रह्मा बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उस प्रसन्नता में लोक को असाधारण वल प्रदान किया। वाग्देवता सरस्वती ने वीणा को सर्वात्मना स्वीकार किया। तत्पश्चात् नारद ने वीणा अपने गले का हार वनाया और वीणा की संज्ञा नारदीय पड़ी। इसके वाद वीणा किन्नरी के रूप में आवर्त्तित एवं परिवर्त्तित हुई। किन्नरी शब्द का मूल सम्वन्ध किन्नरों के द्वारा निर्मित होने के कारण "किन्नरैः परिनिर्मिता" पद से ज्ञात होता है। देवताओं के पास किन्नर लोग वीणा वादन के लिए बहुत समादरणीय होते थे। उक्त वीणा उनका प्रसिद्ध वाद्य यन्त्र था जिसके कारण उसका नाम किन्नरी पड़ा—

[2]अभ्यस्य नारदात्सम्यक् किनरैः परिनिर्मिता।
किन्नरीति प्रसिद्धा या मत्प्रसादेन तापरैः॥

जब वीणा धनुष की आकृति की बनती थी तब उसे पिनाकी[3] कहा जाता था। पिनाकी को रावण बहुत बजाता था। इस कारण उसकी संज्ञा अर्थात् पिनाकी को ही रावण हस्ताख्या कहते थे—"अयं रावणहस्ताख्यां लोके ख्यातिं गमिष्यति" रावण अनेक

---

[1] वीयते गम्यते ग्रामः स्वराश्चोतानयानया।
अतो वीणेति व्युत्पत्तिः ज्ञानाद्वीधातुतो यतः॥

[2] तापरैः=सा परैः।

[3] पिनाकीति च यो जनाः।

शास्त्रों में निष्णात था। उन शास्त्रों में संगीत भी उसका एक प्रमुख विषय था। संगीत में वीणा और भी उसके लिए महत्त्वपूर्ण थी। यों तो रावण के यहाँ संगीत की धूमधाम मची रहती थी किन्तु वीणा से बढ़कर उस कार्य में उसका कोई अधिक प्रिय न था। इस कारण वीणा अर्थात् पिनाकी को रावणहस्ता इस नाम से लोग विश्रुत करने लगे—'एवमेतत् पुरा वृत्तं वीणा वाद्य मनोहरम्'—नान्यदेव !

अव भगवान् शंकर की लीला का अवलोकन कीजिए जिन्होंने ताण्डव नृत्य से संसार को उथल-पुथल कर दिया था। वे ही वीणा के श्रुतिमधुर निनाद से प्रमुदित होकर वीणा-वादक को भुक्ति और मुक्ति देने के लिए अनायास ही प्रस्तुत हो जाते हैं—

श्रुतेन त्र्यम्बकोपन भुक्तिमुक्ती प्रयच्छति।

भारतीय जन-जीवन की कलित-कामना को पूर्ण बनाने के लिए प्राचीन ऋषि-महर्षियों ने जीवन के चार लक्ष्य निर्धारित किये हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इहलौकिक जीवन को यापन करने के लिए अर्थ और काम बड़े महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। अर्थ की महत्ता इसलिए सर्वाधिक है कि यह काम, धर्म और मोक्ष तीनों का पूरक है। अतः भुक्ति (भोग) देने के कारण भगवान् आशुतोष इहलौकिक जीवन को सुखमय बनाते हैं और वीणावाद्य की मधुर ध्वनि से आर्कषित होकर उसे मुक्ति प्रदान करते हैं। एतदर्थ वीणावाद्य भुक्ति-मुक्ति देने के कारण बहुत ही श्रेष्ठ वाद्य है।

भगवान् शंकर कें गणाधिप नन्दी ने भी वीणा वाद्य के श्रुतिमधुर स्वर से प्रसन्न होकर वीणा की प्रशंसा की है। इनके अतिरिक्त वीणावादकों के पारलौकिक सम्मान की कामना याज्ञवल्क्य ने भी की है। उनका कहना है कि जो तीन वर्ष वीणा (अतंद्रितः) तन्द्रा रहित होकर बजाता है वह वायुभूत होकर रव (आकाश) रूप में ब्रह्मको प्राप्त करता है। यदि गीतज्ञ गीत के द्वारा परम पद को प्राप्त नहीं करता तो रुद्र का अनुचर होकर उसी के साथ (वीणावादक के साथ) आनन्दित होता रहता है—

यो[1] वाते दशहन्येतां त्रीणि वर्षाण्यतंद्रितः।
स ब्रह्म परमम्येति वायुभूत रव मूर्तिमान्॥

× × ×

गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम्।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते॥

जो कल्पनातीत है और पञ्चकण्ठ या कण्ठ के सुमधुर स्वर से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता, उस वस्तु की प्राप्ति दारवी, तन्द्रवीणा से सुखपूर्वक की जा सकती है—

[2]यत्किञ्चिन्मनसा गम्यं पञ्च कण्ठेन दुष्करम्।
दारव्यं तन्द्रवीणायां सुखेन प्रतिपद्यते॥

---

[1] वायुभूत=वायुभूतः।

[2] यत्किञ्चित् मनसा गम्यं यच्चंकण्ठेन दुष्करम्।
दारव्यांतन्द्रवीणायां सुखेन प्रतिपद्यते॥

इस प्रशस्ति में पञ्चशब्द की अपेक्षा यच्च शब्द सर्वाधिक प्रशंसनीय है क्योंकि यच्च शब्द का सम्बन्ध समग्र कण्ठ स्वर के कल-कल ध्वनि का द्योतक है जिस वीणा के योग से गायक गाते समय अपरलोक को प्राप्त करता है जिसकी प्राप्ति योगीगण बहुत साधना के अनन्तर करते हैं। वह आनन्द वीणावादक को सहज ही प्राप्त हो जाता है।

आह परपुर प्रवेशं कृत्वा योगेन गायिनो निपुणः।
तत्कलाभिदभिनो योगीव मनोनुरञ्जयति ॥

वीणा की ध्वनि पीयूष रसधारा को वहाने वाली है। इस अमृत लहरी का वही पान कर सकता है जो योग्य वीणावादक हो। इस प्रकार विश्व विश्रुत वीणावादक होने के कारण नारदमुनि जो मुक्ति के अभिलाषी हैं वे वीणारूपी मुक्ति द्वार को कैसे छोड़ सकते हैं—

[१]मुक्ति द्वार तयापन्ने कथमपि नारदोमुनिस्त्यजति ।
यकोष्टमपि श्रवसोर्विकरति पीयूषरसधारां ॥

जो वीणा नाना प्रकार के क्वणन से सम्पन्न है और मधुर आलाप के द्वारा हृदय को प्रमुदित करने वाली है जिस वीणा को सरस्वती ने स्नेहाधिक्य के कारण पुत्री की तरह अपने अंक में स्थान दिया है उसकी जितनी वर्णना की जाय, अल्प है—

[२]अविकल क्वणसंपन्नां करमधुरालाप जनित हृदय मुदम् ।
पुत्रीमिवाङ्कनिहितां यामिह न जहाती भारतीं स्नेहात् ॥

वीणा का अपार महत्त्व है। विद्या की अधिष्ठातृ देवी सरस्वती के शोभन लक्षणों में 'वीणा पुस्तक धारिणी' का महत्त्व बहुत ही आदरणीय है। वीणा के साङ्गोपाङ्ग गुणों का विवेचन करते समय वीणा के आभ्यन्तर एवं बाह्य गुणों का महत्त्व दृष्टिगोचर होता है। वीणा गुण (रज्जु) मय है। इसका अभिप्राय यह है कि वीणा का शरीर रज्जुओं से तना हुआ है। उसका शरीर अचेतन वस्तुओं से ही निर्मित हुआ है किन्तु वह अपने कलालाप से स्थाणुओं को भी प्रसन्न कर देती है। इसलिए मनुष्य, ऋषि, महर्षि क्या उसके महत्त्व के गान में सक्षम हो सकते हैं, कदापि नहीं, शंकर से भिन्न इन्द्र भी वीणा की महती प्रशंसा में समर्थ नहीं हो सकते—

गुणामय शरीर बन्धां द्रवयतीं स्थाणुमपि कलालापैः ।
गौरीं वा वीणां वा शक्रः स्सोतुं न शंकरादपरः ॥

शक्रः के स्थान पर शक्तः प्रयोग और अधिक अच्छा प्रतीत होता है क्योंकि गौरी यानी पार्वती या वीणा की प्रशंसा शंकर से अधिक कौन कर सकता है।

---

[१] यकोष्टमपि=यत्क्रोडमपि, श्रवसोर्विकरति=श्रवसोर्विकिरति ।

[२] भारती°=भारती ।

कर्णाटक संगीत के संत त्यागराज

डॉ० एम० आर० गौतम

सोलहवीं शताब्दी में विजयनगर राज्य के पतन के बाद राजनीतिक दृष्टि से दक्षिण भारत अराजकता के कारण विघटित होने लगा था। भारतीय समुद्रतट पश्चिम से आने वाले विदेशी जहाजों के फहराते हुए झण्डों से सुसज्जित हो रहा था मानो भारत में आक्रमणकारियों के प्रवेश को अनुसूचित करता हुआ पश्चिम की नई गुलामी का संकेत दे रहा था।

फलतः, देश में जो सांस्कृतिक ह्रास उत्पन्न हुआ और जीवन के मौलिक आदर्शों में जो क्रान्ति हुई, उसका ललित कलाओं पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। कला के क्षेत्र में रचनात्मक नवनिर्माण का अभाव-सा हो गया और आज खोई हुई परम्परा को पुनः पाने के लिए हमारे चित्रकार एवं शिल्पी अजन्ता की गुफाओं से प्रेरणा लेते हैं।

किन्तु सौभाग्य से दक्षिण भारत में राजनैतिक क्षेत्र के इस उलट-फेर के फलस्वरूप समाज को एक नई चेतना भी प्राप्त हुई। आध्यात्सिक एवं संगीत जगत् में जनजागरण हुआ। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि समाज में आध्यात्मिक एवं संगीत की प्रवृत्तियाँ युगपत् प्रवृद्ध होकर एक अनुपम योग को प्राप्त हुईं। इस प्रदेश में कई संत गायक कवि हुए जिन्होंने लोकप्रिय शैली में उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण गीतों की रचना कर अपनी अमृतवाणी से संगीतकला को संवृद्ध कर जनजीवन में समाज का पुनरुत्थान किया। इस सांस्कृतिक आन्दोलन के नेतृत्व का श्रेय श्री पुरन्दरदास को देना चहिये किन्तु अध्यात्म एवं संगीत के इस संयुक्त आदर्श शक्ति प्रवाह को परिपुष्ट कर अग्रसर करने का श्रेय सन्त त्यागराज को विशेषतः प्राप्त है।

कहा जाता है कि अध्यात्म एवं नैतिक आदर्शों के अवमूल्यन के कारण इस युग में मानव के मोक्षार्थ सरल, सुगम एवं उत्तम साधनस्वरूप भक्ति की भागीरथी भारत में अवतरित हुई। इस युग में संगीत की मूल प्रवृत्ति में भी कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। शास्त्रीय संगीत के अत्यधिक जटिल एवं सूक्ष्म प्रकारों का स्थान अपेक्षाकृत सरल एवं सुबोध रोचक अभिव्यक्ति ने ग्रहण किया। फलतः कई एक सरलतर माध्यम आविष्कृत हुए। संस्कृत ग्रन्थों की प्रबन्ध रचनायें कई एक रागों एवं तालों के बहु संख्यक खण्डों के जमाव से परिपूर्ण हैं। रागों के विशेष अङ्गों की ध्यान साधना में कई दिनों तक तो प्रत्येक राग का विस्तार होता था। किन्तु निःसन्देह ही उन बड़े भारी गेय पुराणों में कुछ अनावश्यक विस्तार को छोड़ केवल आवश्यक अङ्गों को ग्रहण किया गया। अतः संगीत ने विपुलता के स्थान पर संक्षेप एवं सूक्ष्मता को अपनाया।

चतुर्दण्डी के गीत, प्रबन्ध, ताय और अलापा के युग ने पद कीर्तन और कृति को स्थान दिया। कृति ने मात्र अपनी विशालता के बल से भारतीय संगीत की आत्मा को अक्षुण्ण परम्परा के रूप में सुरक्षित रखा और इस विस्तृत कला को लोप होने से बचा लिया। इस

संसिद्धि के लिए संत त्यागराज ही, अपने अद्वितीय प्रतिभा के कारण और इस अनुपम देन के हेतु, श्रेय के भागी हैं।

एक लोकमत के अनुसार संत त्यागराज का जन्म सर्वजित में, पुण्य नक्षत्र में, चैत्र शुक्ल सप्तमी, सोमवार २७ तारीख तदनुसार २४ मई, १७६७ को हुआ और कुछ लोगों के मत से वे तिरुवारुर में सन् १७५९ में पैदा हुए। तीरुवैय्यार पांच नदियों के संगम पर एक स्थान है। पंजाब में भी पांच नदियों का संगम है और इसलिये पंजाब उत्तर भारत में अन्न का भण्डार माना जाता है, उसी भाँति दक्षिण में त्यागराज एवं उनके समकक्ष वहाँ के महापुरुषों के कारण तीरुवैय्यार मेधा का स्त्रोत संगम समझा जाता है।

यद्यपि संत त्यागराज अपनी परम्परा में अन्तिम थे और उनसे पूर्व कई एक महान् संगीतकार एवं यशस्वी गायक हो चुके हैं तथापि संत त्यागराज उन सबमें सर्वश्रेष्ठ कहे जाते हैं। उनकी अनुपम प्रतिभा में उमड़ता हुआ भक्ति-भाव, कलात्मक कल्पना, साहित्यिक सुषमा और संगीत की वाह्लादक अभिरुचि का अपूर्व योग था। इन सब गुणों की अपेक्षा उनकी संगीतमय रचनाओं की सर्वश्रेष्ठ विशेषता है उनका श्रीराम के प्रति निर्विकार प्रगाढ़ प्रेम और उनकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति, जिसने इनकी रचनाओं में शास्त्रीय संगीत के रूपक, राग, ताल आदि के संप्रविधान के बावजूद भी इनकी रचनाओं को भगत, स्तुति अथवा प्रार्थना का पद प्राप्त हुआ है।

अपने पूर्ववर्ती आचार्यों एवं समसामयिक गुणीजनों के सभी विशेषताओं को आपने तत्वतः ग्रहण किया। विस्तार में आप पुरन्दरदास तथा क्षेत्रज्ञ के तुल्य हैं किन्तु केवल भक्ति भाव में आप पुरन्दरदास के समकक्ष ठहरते हैं और आपकी काव्यमयी अभिव्यक्ति क्षेत्रज्ञ का स्मरण कराती है। अपने पंचरत्नों एवं कुछ एक गम्भीर रचनाओं में आप पूर्वगामी प्रवन्ध रचयिताओं का अनुगमन भी करते हैं। देवों की भाषा में कलाकृतियों को ढालकर आप मानों अपने समकालीन दीक्षितर का आह्वाहन करते हैं और जब वे माता त्रिपुर सुन्दरी की स्तुति करते हैं तब ऐसा लगता है जैसे तंज्जावर के श्यामा शास्त्री तिरुवट्ियूर में विराज रहे हों।

त्यागराज की रचनाओं में विविधता है। सरल छन्द प्रकारों से लेकर विस्तृत पंचरत्नों तक, जिसमें कि एक पर लम्बे—एक चिट्टस्वरों के जमाव पर उसी स्वरावली में पाठ्य वस्तु भी रहती है, हम एक-एक शिल्पीय प्रयोग, कौशल्य और रचना के दर्शन करते हैं। जटिल समासों, विशेषणों से युक्त शब्द समुदायों से पूर्ण सरल दिव्यनाम संकीर्त्तन से, कतिपय शब्द को लेकर आप संगीत के प्रवन्ध प्रवाह के उत्कृष्ट कलाकृतियों में प्रविष्ट हो जाते हैं। त्यागराज की रचनाओं में काव्य सौन्दर्य की छटा और आध्यात्मिक उत्कर्ष का विशेष महत्त्व है। जब कोई असम्भव योग सिद्ध हो जाता है तब संस्कृत में कहा जाता है—"हेमनः परमामोदः" अर्थात् सोने में सुगन्ध आ गई है। सोना द्रव की दृष्टि से बहुमूल्य वस्तु है किन्तु सुगन्धित पुष्प दुर्लभ है इसलिये यदि सोने में सुगन्ध आ जाय तो वस्तुतः यह एक चमत्कार है। जयदेव, पुरन्दरदास, क्षेत्रज्ञ एवं त्यागराज संगीतकारों की रचनाओं में वस्तुतः सोने में सुहागा पाया जाता है। इनकी रचनायें इतनी अधिक गाई गई होंगी कि

गिनती से वाहर और सैकड़ों बार हमने सुनी होंगी तथापि उनकी ताज़गी में कोई फर्क नहीं आता, प्रत्युत उन्हें बार-बार सुनकर भी कोई थकता नहीं है, वल्कि हर बार कुछ न कुछ नवीन रोचक उपलब्धि होती है—चाहे स्वर रचना में देखिये या साहित्यिक अंश में पाइये; किसी न किसी नई कल्पना अथवा व्यंजना का आस्वाद अवश्य ही होगा। इनकी रचनाओं में कण वस्तु का एक प्रधान तत्व है, विशेषतः पुरन्दरदास तथा त्यागराज में और वह विविध व्याख्या का सुलभ अवकाश भी रखता है। किन्तु वहुधा होता यह है कि रचना के अलौकिक सौन्दर्य एवं सर्वांगी प्रभाव के कारण साहित्यिक पक्ष पर ध्यान जाता ही नहीं है। जैसा कि डॉ० राघवन् ने अपने ग्रन्थ "The Spiritual Heritage of Thyagaraja" में लिखा है—"त्यागराज की रचना का सौन्दर्य इस कदर अद्भुत होता है, जैसे किसी युवती के शुभ्र यौवन की आभा से हमारी आँखें चुधियाँ जाँय और हम उसके मस्तिष्क और हृदय के अनन्त सौन्दर्य को देख न सकें, या फिर किसी कवि की अनुपम शैली व पद विन्यास के चमत्कार में रस विभोर होकर उसकी कविता के उदात्त भावों पर ध्यान न दे सकें, अथवा जैसे किसी उत्तुंग गोपुर के कलात्मक ब्रज देखनें में हमारी दृष्टि स्तम्भित हो जाय और हम देवता की आरती उतारना भूल जाँय।"

किन्तु यदि हम त्यागराज के रचना सौन्दर्य को एक क्षण भूलकर उसके साहित्य पर ध्यान दें तो कोई आश्चर्य नहीं कि हमें उसमें ध्यान निमग्न होने के लिये चिन्तन की रत्नराशि मिल जाय और हम संगीत को बिल्कुल ही भूल जाँय। निःसन्देह त्यागराज की लौकिक एवं लोकोत्तर विषय दृष्टि एवं अनुभव को संक्षेप में कहना एक कठिन कार्य है। काव्यमय कल्पना, विद्वतापूर्ण संदर्भ संकेत, नैतिक मान्यताएं, सिद्धान्तों की स्थापना, औपनिषदीय चिरन्तन सत्य, मिथ्या अभिमान की निन्दा और असत् मार्गों का खंडन तथा अनुपम उपमाएँ, व्यवहारिक ज्ञान, लोकोक्तियों और सर्वोपरि आध्यात्मिक अनुभव एवं भक्ति भाव का प्रतिरूप सौन्दर्य इन सबने मिलकर आपके गीतों में उस प्रभा को उत्पन्न किया है जिसने उस महान् संगीतज्ञ को बौद्धिक एवं आध्यात्मिक स्तर पर प्रकाश में लाया, जिसके मुखारबिन्द से चश्में की तरह गीत फूट निकलते थे।

आपके गीतों से हमें आपकी घरेलू जीवन और परिस्थितियों की झलक मिलती है। त्यागराज के एक वड़े भाई थे जप्येश जिन्हें जीविनीकारों ने कुत्सित रूप में प्रस्तुत किया है, सम्भवतः त्यागराज के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिये। संगीत एवं अध्यात्म से सर्वथा अनभिज्ञ जप्येश अपने छोटे भाई की कला एवं विद्या का अनुचित लाभ लेना चाहते थे। तंजावूर के महाराज त्यागराज को अपनी राज्य सभा में गाते देखने को उत्सुक थे। इस प्रकार त्यागराज को धन सम्पत्ति की प्राप्ति संभव थी, जिसकी जप्येश को लालसा थी। किन्तु त्यागराज ने एकदम इनकार कर दिया। जप्येश ने कुपित होकर त्यागराज के प्रिय श्रीराम की मूर्ति को कावेरी नदी में प्रवाहित कर दिया। त्यागराज ने जब मूर्ति खोने का समाचार पाया तो वे अत्यन्त विह्वल और दीन होकर गा उठे :—

"नेनेन्दु वेदुक्कुदुरा"

इस प्रकार राज सभा में राजस्तुति गाने से इनकार करने और राज दंड से भागी होने की कथानक प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। ऐसे प्रसंग लिंगपुराण के संगीत सम्बन्धी प्रकरणों

में तथा अद्भुत रामायण में मिलते हैं। सुग्रीव तथा विभीषण के प्रति त्यागराज का बार-बार संकेत और उनके वर्णन में जिस प्रकार प्रभु उनके सहायक हो जाते हैं, उनके बड़े भाई के अत्याचांर पूर्ण व्यवहार का द्योतक है।

त्यागराज मूलतः श्रीराम के भक्त हैं तथापि अन्य विभिन्न मतों के देवताओं की स्तुति उन्होंने प्रेम पूर्वक गाई है। जैसे—तीरपति वेंकटरामन् (तेरतीयकरादा) कोदूर के भगवान् सुन्दरेश—(शम्भो महादेव-रागपन्तुपरावली में), तीरुवोत्रीपुर की देवी त्रिपुरसुन्दरी (सुन्दरी नी दिव्य रुपमु, राग कल्याणि दारीनी तेलुसु कोन्टि :—राग शुद्ध सावेरी) कांची में आपने भगवान् वरदराज की स्तुति में कुछ एक रचनाएँ कीं और विनयकुणी राग मध्यमावती में कांची की कामाक्षी पर।

ब्रह्मपुरी में भगवान् सुब्रह्मण्य की स्तुति में आपने गाया—(नी वन्ति देवमुराग तोड़ी) और अन्य देवताओं की स्तुति में आपके वहुत ही गीत हैं।

संगीत एक उत्कृष्ट कला है, इस दृष्टि से संत त्यागराज ने संगीत के लक्षण बताते हुए कई एक गीतों की रचना की है। जीवन की परम सिद्धि, योग एवं आध्यात्मिक उद्देश्य को किस प्रकार संगीत के माध्यम से पाया जा सकता है, संगीत का स्वरूप, व्याख्या एवं अभिव्यक्ति तथा इस कला का क्रियात्मक पक्ष ये सब विषय आपके गीतों में समाविष्ट हैं। इस सम्बन्ध में हम एक ही उदाहरण ले लें जिसमें त्यागराज ने इस प्रश्न पर प्रकाश डाला है कि एक संगीतकार अपनी कला के प्रति किस भाव को धारण करे—यह एक सुप्रसिद्ध कृति है—राग तोड़ी में।

कद्नुव्यरिकि
निडुर निराकरिचि
मद्दुगा दम्वुर वही
शुद्ध मैन मनसुचे, सुस्त्ररामुतो,
वड्डु तप्पण भजिपिंचु।

यह सभी संगीतज्ञों के कल्याणार्थ उपयुक्त है। इसका भाव है :—"नींद को त्यागो, सबेरे उठा करो और प्रथम प्रहर में रियाज करो, स्वर साधो। (हम अपने फायदे के लिये यह भी कहें कि ९ बजे सुबह तक मत सोया करो—देर से उठकर अपने गले में एक आधा स्वर गिरने न दो और न गले को गरमाने के लिये शरीर के अन्य अंगों का व्यायाम करो, इससे स्वर की कमी नहीं पूरी होने की)। अपने घराने की गायकी पर पक्के रहो, एक सुन्दर-सा तम्बूरा लेकर ठीक स्वर मिलाओ और विशुद्ध चित्त से स्वर साधो।"

अपनी कई एक कृतियों में आप संगीत कला की नादयोग के रूप में प्रशंसा करते हैं क्योंकि यह कला प्राणायाम, मनोनिग्रह, शान्त चित्त एवं गहरा ध्यान मांगती है। आपका कहना है कि मन की गतिविधि को जाने बिना और सदा वीणा वादन में आनन्द लेने वाले शिवजी का अभिप्राय जाने बिना कोई मुक्ति नहीं पा सकता।

संत त्यागराज श्रीराम तथा अन्य देवताओं को सम भाव से ही देखते थे। राग गरुड़ध्वनि में प्रस्तुत—"तत्व ने रुगतरमा" इस कृति में कहते हैं—"हे राम क्या ऐसा कभी

संभव है कि इस तथ्य को जाना जाय कि तुम ही ('तत्वमसि') महाकाव्य का (मूर्तिमान) अर्थ हो।"

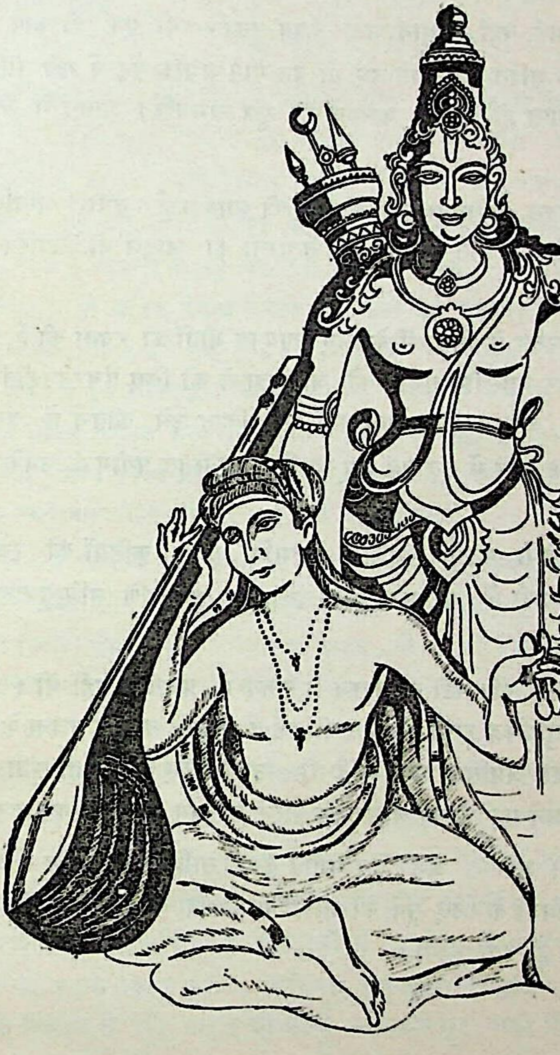

कर्णाटक संगीत के संत त्यागराज

प्रसिद्ध है कि रामायण की कथावस्तु को लेकर कई ग्रन्थों की रचना हुई है जैसे भवभूत्ति का उत्तररामचरित, तुलसीदास का रामचरित मानस इत्यादि। त्यागराज के कृतियों से स्पष्ट होता है कि वे रामायण के अनेक संस्करणों से परिचित थे। ऐसा लगता है कि अलग-अलग संस्करणों से उन्होंने कथानक एवं प्रसंगों को लेकर अपनी कृतियों में उनका उपयोग किया है। उदाहरणार्थ—'मा जानकी चेट्टवेट्टग बालग—महाराज वैथिवी' इत्यादि कृति में वे कहते हैं:—

"हे राम तुम सीता का पाणिग्रहण करने से महान् और प्रसिद्ध हुए क्योंकि इसी हेतु तुम्हें रावण के विजेता होने का यश प्राप्त हुआ। तुम्हारे आदेशानुसार राजमहल को छोड़ वह तुम्हारे साथ बन में गई, अग्नि के पास अपने स्वरूप को त्याग, माया का रूप धारण कर वह रावण के पीछे गई, वहाँ अपमानजनक वचन सुनकर भी, एक ही कोप दृष्टि से रावण को भस्म करने की शक्ति वह रखते हुए भी वह मौन अशोक वन में रही ताकि रावण के वंश का श्रेय तुम्हें प्राप्त हो"---इस कल्पना का सूत्र रामचरित मानस से लिया गया प्रतीत होता है।

इस कृति में न केवल पतिव्रता स्त्री के धर्म की व्याख्या है, तथापि अतिथि-सत्कार का महत्त्व और इस कर्तव्य के प्रति गृहणी की तत्परता का आदर्श भी उपस्थित किया गया है।

त्यागराज ने हर उत्तर के विद्यार्थी के लिए उपयुक्त गीतों की रचना की है, साधारण दिव्य नामसंकीर्तन से लेकर शास्त्रीय संगीत की जटिलताओं को लिए पंचरतनकीर्तनों तक। उन्होंने अलग से यद्यपि वर्णनम् की रचना नहीं की, किन्तु उसे कीर्तन में अंग रूप से समाविष्ट किया। प्रत्येक कृति में छंद एवं लय का विविध विस्तृत प्रयोग ही उनके रचनाओं की अनुपम शोभा है।

त्यागराज ने पश्चिमी पद्धति पर भी यथामति कुछेक कृतियों की रचना की। उदाहरणार्थ राग कुन्तलवराली में 'सर सर समरे' तथा राग सुपोषिणि 'समित्सुवारू यवरुरा' इस प्रकार के दो गीत हैं।

प्रसिद्ध राग गाने की परिपाटी त्यागराज के समय में प्रचलित नहीं थीं। इसलिए अधिकतर उनकी कृतियाँ सुप्रसिद्ध रागों में ही रची गई हैं जिनके नाम वे रचना के बाद देते थे और थोड़ी ही ऐसे हैं जो अप्रसिद्ध रागों में है तो —उनके लिए वे एक ही संज्ञा रखते थे, 'अपूर्व राग' रागों को समझने एवं उनका नामकरण करने का श्रेय तच्चुर श्रृंगराचार का है।

कर्णाटक संग्रीत को आपकी अमर देन संगीत तथा साहित्य की दृष्टि से आने वाले युगों में असंख्य संगीत प्रेमियों के लिए सूर्य की भांति मार्गदर्शक बनी रहेगी और संगीत के सच्चे लक्ष्य का संदेश सदा ही देती रहेगी।

स्वतन्त्र भारत का सन्दर्भ और हिन्दी काव्यचेतना का नया यथार्थ

कैलाश मिश्र
शोध छात्र, हिन्दी विभाग

भारतवर्ष को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुए लगभग दो दशक बीत गये, किन्तु स्वतन्त्रता के सही अर्थों में आज तक भारत स्वतन्त्र नहीं हुआ, क्योंकि स्वतन्त्रता बाह्यारोपित मानव जीवन का कोई निकाय नहीं, वल्कि यह वह आन्तरिक अनुभूति है जिसमें व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता और परिवेश के साथ अपना संतुलन अधिक उपजीव्यतापूर्वक बनाए रखता है। जब आइन्स्टीन यह कहता है कि 'मैं कुछ देर के लिए एक नलसाज अथवा फ़ेरीवाला होना भी अधिक पसन्द करता हूँ, जिससे इस कोलाहल भरी जिन्दगी से इतर कुछ थोड़ी-सी फुरसत प्राप्त कर सकूँ।'—तो उसकी फुरसत का यही अर्थ होता है कि वह अपना वैयक्तिक एकान्त (सालीच्यूड), अपनत्व और व्यक्तित्व अक्षुण्ण रख सके। कथ्य यह है कि ब्रिटिश शासन व्यक्ति की स्वतन्त्रता के अपहरण का एक भौतिक परिवेश था किन्तु पन्द्रह अगस्त उन्नीस सौ सैंतालिस की स्वतन्त्रता का यह अर्थ कदापि न था कि इससे भारत को पूर्णतः स्वतन्त्रता मिल जाएगी अथवा दे दी जाएगी।

जनतन्त्र प्रणाली पर अवस्थित जिस समाजवादी व्यवस्था पर स्वतन्त्र भारत को परिचालित किया गया, उसके सिद्धान्त में कुछ आधारभूत भूलें थीं, जिसमें सबसे पहली 'नेहरू की विदेशी नीति' थी। स्वतन्त्र भारत की सारी योजनाएँ शदियों से स्वतन्त्र देशों की कार्यप्रणालियों पर आधारित थीं और उनका भारतीय जीवन और नैतिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध न था। चमत्कारवादी नेता नेहरू दो संस्कृतियों (पूर्व और पश्चिम) के अनभ्यासित जीवन-बोध के व्यक्ति थे इसलिए उन्हें भारत जैसे स्वार्थी और अनैतिक देश की केन्द्रस्थित वृत्ति का बोध न था। परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण योजनाओं के विस्तार के लिए विदेशी ऋण लेना कोई पाप नहीं समझा गया। विदेशों से पचगुनी तनख्वाह अधिक देकर बुलाए गए इंजीनियर्स को नकली गारे और स्पातों के द्वारा काम कराया गया। विदेशी नक्शों पर आधारित इन योजनाओं में कार्य करने वाले श्रमिकों को कम से कम वेतन देने का प्रयास किया गया। परिणाम यह हुआ कि कृषि, उद्योग और अन्य राष्ट्रीय साधनों के विकास के प्रति भारत की सारी आशाओं पर पानी फिर गया। आशा तो यह थी कि तीसरी पंचवर्षीय योजना के पूरी होते-होते इन योजनाओं में लगे सम्पूर्ण विदेशी ऋण से मुक्त होकर हम भारतीय अपने ही गल्ले और उद्योग के द्वारा अपना भरण-पोषण कर सकेंगे किन्तु स्थिति बिल्कुल विपरीत हो चली है। आज हमारे ऊपर इतना विदेशी ऋण हो गया है कि जिसे भरने के लिए भारतवर्ष को पूरे एक वर्ष की उपज चाहिए।

इस प्रकार प्रशासकीय ढंग पर आधारित भारतीय समाज आज विघटन और पूर्ण संकट की स्थिति में है। उपर्युक्त विदेश नीति के अलावा भारत के पिछड़ेपन का कारण शासकीय वर्ग ही अधिक है जिसने निष्काम भाव से प्रचूषित भारत की सेवा करने के बजाय अपनी भोगवादी लिप्सा को तृप्त करने का ही अधिक प्रयास किया है और इसीलिए

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में और भी विच्छिन्नता बढ़ी है। इस विच्छिन्नता को अवश्य ही समष्टि रूप से नहीं बल्कि व्यष्टि रूप से जीने का प्रयास किया गया है। दिखावे के नाम पर इन स्वार्थी सत्ताधारियों के द्वारा सुरसावत् सर्वग्रासी राजनीतिक सिद्धान्तों का राष्ट्रवादी प्रसार और इसलिए उन्नतिमूलक मिथ्या नारों और भ्रमजालों को फैलाकर सामान्य जन-जीवन को विषादग्रस्त किया गया है। इस शासकीय वर्ग में सेवा का भाव समाप्त होकर 'मंत्रवाद' का षडयंत्र चल रहा है, मंत्रवाद यानी किसी के जहर को अपने सिद्धान्तवादी शासन-सूत्रों से उतारने का प्रयास।

वैयक्तिक धरातल पर इस मंत्रफूक सिद्धान्तवाद का बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। हर व्यक्ति अपने को ही नियामक समझ बैठा है जिससे एक ओर अहंवाद का विस्तार हुआ है तो दूसरी ओर अपनी आत्मकेन्द्रित कुसंस्कारी वासना को समष्टि के अनुपभोग्य धरातल पर उतारने का प्रयास बढ़ा है। यही कारण है कि आज पीड़ा-कुंठा, अतृप्ति, टुटन, घुटन आदि बनकर साहित्य में व्यवहृत होती है। जब तक पीड़ा का समष्टिगत आभास होता है तब तक वह आनन्दप्रद होती है किन्तु ज्योंही वह पीड़ा वैयक्तिक धरातल पर उपभोग्य होती है, कष्टप्रद हो जाती है। यही कारण है कि स्वतन्त्रतापूर्व के वीर गायकों के निनाद—

"मैं नहीं चाहता सुरबाला के गहनों में गूथा जाऊँ।" या

× × × ×

"मुझे तोड़ लेना बनमाली! उस पथ में देना तुम फेंक,
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने, जिस पथ जावें वीर अनेक।"

अथवा,

"क्या हार बनेगा वह जिसने सीखा न हृदय को विधवाना।"

अस्त हो गए। पीड़ा को सहने का सारा आनंद मटियामेट हो गया और स्वतन्त्रता के बाद आने वाले जन-जीवन में चीत्कार-सीत्कार, संत्रस्ति अधिक दिखाई पड़ने लगी क्योंकि अनुभूति का विस्तृत वातावरण सिमटकर संकुचित हो गया। अपनी आदत से बाज न आनेवाले आज के आग्रही पथिक की पीड़ा का चित्रण कीर्ति चौधरी की इन सतरों में पठितव्य है—

"घाव तो अनगिन लगे
कुछ भरे कुछ रिसते रहे
पर बान चलने की न छूटी।"

—कविताएँ, पृ० ३०

पीड़ा और कष्ट सहन के इस एकाकीपन का आभास स्वातन्त्र्योत्तर भारत के प्रत्येक कवियों में दिखाई पड़ने लगा है और यदि अधिक स्पष्ट रूप से कहा जाय तो आज का प्रत्येक व्यक्ति अभिमन्यु बनकर पैदा होता है जिसे जीवन का समस्त उपभोग्य पदार्थ विरासत में ही प्राप्त हुआ है। कुँवरनारायण की कविता 'विरासत' आज के इन अभिमन्युओं का सटीक चित्रण करती है—

"कौन कब तक बन सकेगा कवच मेरा?
युद्ध मेरा मुझे लड़ना
इस महा जीवन समर में अन्त तक कटिबद्ध:

मेरे ही लिए यह व्यूह घेरा,
मुझे हर आघात सहना
गर्भ निश्चित मैं नया अभिमन्यु, पैतृक युद्ध ।

—चक्रव्यूह, पृ० १०३

इस प्रकार आज के भारत की सारी जिजीविषा केवल युग के साथ तादात्म्य करने में व्यय हो रही है । आदिकाल के लेकर आज तक के भारत में स्वार्थपरता, लोभ, अनैतिकता होते हुए भी जो एक सबसे बड़ी विशेषता रही है, वह आज भी है; वह है—संघर्ष करने और झेलने की अद्भुत क्षमता का होना और विभिन्न संघर्षों में विभिन्न तौर-तरीकों से भारत का प्रत्येक व्यक्ति आज भी 'गर्भ-निश्चित प्रारब्ध' वाले अभिमन्यु की तरह लड़ रहा है । इसके लिए हमें प्रशंसा करनी चाहिए ।

धरा का व्यूह-सा यह बृहद् तनाव और उसमें युद्ध करता आज का छोटा-सा अस्तित्व इतना काफी नहीं है कि वह नियति का अतिक्रमण कर सके । किन्तु पैतृक युद्ध में हन्ता और निर्माता की यह मानव-सृष्टि अवश्य ही अन्य पशुओं की विभ्राटता में अधिक संवेदनशील और क्रियाशील है । जीव-सृष्टि का आज तक का चरम विकास मनुष्य है इसलिए मानव-जीवन सृष्टि की सबसे बड़ी समस्या है । बर्ट्रेण्ड रसेल इसके अस्तित्व को ही नकारता है और इसमें उसे आनन्द का आभास होता है । वह कहता है—"शायद बुलबुलों, कोयलों, हिरनों से भरी दुनिया अधिक शानदार और उल्लासमय होती । संसार में हिंस्र पशु उनका लक्षांश भी संहार नहीं करते, जितना मनुष्य ।" किन्तु व्यक्ति का संहारकारी अथवा क्षमाशील जीवन ही सम्पूर्णता में मनुष्य नहीं है बल्कि मनुष्य वह है जो मृत्यु की अन्तिम हिचकी के पूर्व तक वर्तमान रहता है । यही कारण है कि अस्तित्ववाद का सम्बन्ध जितना मानव जगत् के बौद्धिकी से है उतना उपभोगी मानव-जीवन से नहीं । चिन्तन-प्रक्रिया में जीवन का लक्ष्य, जीने की उपयोगिता और जीवन की अस्तित्ववादी इयत्ता जितनी ही संवेद्य है, भौतिक रूप से जीवन उतना ही प्रवहशील और आमर्य-अभीप्सित चिन्त्य पदार्थ है और इसका दर्शन जड़ मृत्यु पर कभी आधारित नहीं । जीवन चेतन है या चेतन का व्यापार है, मृत्यु जड़ है या जड़ का व्यापार है । इस प्रकार चेतन और जड़ की विपरीत अर्थी क्रियाओं का संतुलन सर्वथा असम्भव है । इसलिए शेक्सपियर जब यह कहता है—"जीवन किसी मूढ़ द्वारा कही हुई कहानी है जिसमें गर्जन-तर्जन तो बहुत है किन्तु अर्थ कुछ भी नहीं ।" तो वह जीवन को जड़ तत्वों में ही रखकर देखता है, अस्तित्व को झुठलाकर ही देखता है और यह मानव सृष्टि के लिए सबसे बिघाती बात है । इस सन्दर्भ में विलियम हैजलिट की बातें अधिक संप्रेष्य लगती हैं—"जब यह कल्पना कि कभी हम नहीं थे हमें कष्ट नहीं देती तब यह कल्पना की कभी हम नहीं रहेंगे क्यों कष्ट दे ?" कथ्य यह है जीवन और मृत्यु के बीच का यह जगत् अस्तित्वहीन नहीं । भारतीय चिन्तना में यह बात सबसे पहले गौतम बुद्ध के मन में आयी । मुर्दे को देखकर जीवन पर विचार करके पलायित हो जाना बुद्ध के अस्तित्ववाद की ही देन थी । और राजत्व की अनेक जिम्मेदारियों से पलायित हो जाना उनका व्यक्ति-स्वातन्त्र्य । किन्तु बुद्ध की महानता उस पलायन में नहीं, बल्कि

जीवन को ऐतिहासिकता में ग्रहण से थी। दु:खवाद की कल्पना का जीवन के अस्तित्व को स्वीकार करने की प्रथम वृत्ति है।

स्वातन्त्र्योत्तर भारत में जीवन को नकारने की बात कम ही कही गई है, यह बहुत बड़ी बात है। अनेक प्रकार की विकृत परिस्थितियों में भी भारतीय चिन्तन-प्रक्रिया ने मानव-जीवन को सद्चिद् और आनन्द में ही देखा है: इतना अवश्य है कि युग की दौड़ धूप के अनुसार आज के हिन्दी भारत ने अपने कथ्य को लघुता में प्रकट करने को ठाना है। जीवन को समग्रता में न जी पाने की असमर्थता से उसने विशाल समय देवता को उसके अत्यन्त लघु आकार 'क्षण' में ही प्रधानता दी है किन्तु इस 'क्षण' में ही उसने विराट जीवन को समेटने का भरपूर प्रयत्न किया है। जीवन के सभी तत्वों को आस्तिकतापूर्वक ग्रहण किया है। मानव-जीवन की सबसे अनिवार्य शर्त है—जीवन से प्यार। और जीवन से प्यार करने के अनेक संबल है—'कल्पना', स्वप्न, चाह, निष्ठा और इन सबके प्रति स्वार्थ अथवा लोभ का होना। इस दौर में दो पहलू हैं—(१) बाह्य—जिसमें शरीरेतर बाह्य विकृत दुनिया है जो मानव जीवन को अकारण तंग करती रहती है। (२) अंतरंग—इसमें बाह्य जगत् का वह संवरा, साफ-सुथरा रूप है ज़ो ध्वंसात्मक होते हुए भी ग्राह्य है जिसके लिए मनुष्य जिन्दा रहता है। पहले का सम्बन्ध स्वातन्त्र्योत्तर भारत में विज्ञान से अधिक है और दूसरे का नारी-जगत् से। पहले से संकटकाल की स्थिति प्रादुर्भूत हुई है और दूसरे से चिन्ता की।

वैज्ञानिक युग ने एक ओर मानव-जीवन में 'बसुधैव कुटुम्बकम्' का नारा बुलन्द किया है तो दूसरी ओर प्रत्येक चेतन के सामने प्रश्नवाची-सा पड़ा हुआ है और हर प्राणी को असहाय, अबल और निपट चिन्ताशील बना दिया है। सब कुछ होते हुए भी आज मनुष्य का 'संहार' छोड़कर कुछ नहीं है। उसके नक्शे पर केवल कंकाल, कटी हुई रक्त वाहिनियां, चिथरे हुए मांस के लोथड़े ही लोथड़े दिखाई पड़ रहे हैं। मानव-जीवन के अनेक विकृत टूटे हुए रेखाचित्र आँधियों में बिखरते दिखाई दे रहे हैं। स्वातन्त्र्योत्तर भारत में चीन और पाकिस्तान के अकारण आक्रमण ने इसे सिद्ध कर दिया है। चारों ओर गोला-बारी उफन रही है। हवा की पत्तों के टूटने की आवाजें पत्र-पत्रिकाओं के प्रत्येक पन्ने पर वर्ष की आँधी-सी सनक रही है। ऐसी स्थिति में कोई व्यक्ति स्थितप्रज्ञ और समाधिशील शंकर नहीं बना रह सकता। और इस स्थिति ने युग-बोध को गहरे अर्थों में प्रभावित किया है। 'जीने' या 'जीने के आनन्द' के नाम से आज कुछ भी कहना बहुत ही हास्यास्पद हो गया है। यही कारण है कि आज की कविता से जीवन के आनन्द की सामग्री नष्ट हो जाने से अधिकांश पाठक कविता के आस्वादन से वंचित हो गये हैं क्योंकि उनमें वैज्ञानिक बोध की निहायत कमी है। प्यार करने का युग रीत गया। कोई अस्तित्ववादी प्रश्न कर सकता है कि प्यार किससे किया जाए! और यदि किसी से नहीं, तो प्यारहीन जीवन की मंसा क्या है ?? मौत ही न ??? वास्तविकता तो यह है कि चिन्तन की यह शाश्वतता ही व्यर्थ है। यदि हम प्यार करते है या मेरे पास समय है तो ठीक है किन्तु प्यार के सहयात्री के प्रति लोभ रखने का समय रीत गया है क्योंकि आज का मनुष्य किसी 'उत्तुंग-शिखर' का 'वासी' मनु नहीं बल्कि वह अपनी यात्रा का एक चलता फिरता

मुसाफिर है। प्रयाग नारायण त्रिपाठी की एक लम्बी कविता इस तथ्य को स्पष्ट कर देती है—

"यह यात्रा कब प्रारम्भ हुयी
क्यों ?
किस अर्थ से ?
किन मोड़ों से होकर इस इतिहास तक आया हूं।

× × × ×

लगता है : हर नया मार्ग गन्तव्यहीन
आगे-आगे-आगे प्रतिक्षण बढ़ता जाता है
जिस पर बस चलते जाने का निष्कारण अभिशाप मिला है
मुझको
अंतहीन यात्री को।"

—नयी कविता, अंक ३, पृ० ८३-८४।

इस प्रकार जिस यात्री की कोई मंजिल नहीं उससे जीने का अर्थ पूछना कितना भ्रामक है क्योंकि वह तो जी रहा है, बस जी ही रहा है, वह जीने का अर्थ जानता है किन्तु कह नहीं सकता क्योंकि कह देने का अर्थ एक शाश्वत-सूत्र बनाना है, जब कि आज का कवि एसे सूत्र रचन में असमर्थ है।

युग की इन बमेल स्थितियों के साथ जीवन की सभी ईकाइयाँ बदल गयी हैं किन्तु फिर भी वह वस्तु जो जीवन को जिलाए जा रही है, प्यार ही है यानी आस्थाहीन प्यार। जगत् की किसी गति अथवा अवगति से साहित्य का सीधा सम्बन्ध नहीं होता इसलिए जड़-जगत् के अलावा जो कुछ है वह साहित्य का है। प्रेम या प्यार कुछ इसी प्रकार की वस्तु है किन्तु इसके मापदण्ड बदल गए हैं। प्यार करने की प्रणाली का विवेचन भारत-भूषण अग्रवाल ने 'कागज की नाव' शीर्षक से बड़ी सफलता के साथ किया है—

"कागज की नाव जो हमने बनाई थी
धारा में बहाई थी—
वह डूबने लगी।
आओ,
इन बच्चों की भांति ही
हम भी खुश हो होकर बजाएं क्यों न तालियाँ ?
कोई यह न कह बैठे :
हम नहीं जानते थे खेल की प्रणालियाँ।"

—ओ अप्रस्तुत मन, पृ० १४२।

युग इतनी तेजी से यथार्थ की ओर झुक रहा है कि लगता है कुछ ही दिनों में मानवता, नैतिकता, बोध, मूल्य एवं दृष्टि की सारी मान्यताएँ बदल जाएंगी। दुर्निवार संकट-बोध की स्थिति में ये सारी घटनाएँ होती हैं, हो रही हैं। अपनी लगन और प्रतीक्षा

की आतुरी में कीर्ति चौधरी जैसी सम्मानिता कवयित्री 'अग्निपरीक्षा' देने से इनकार कर देती है—

"पर
बीते दिन वर्ष मास
मेरी इन आँखों के आगे ही
फिर फिर मुरझाए ये निपट कांस
मन मेरे ! अब रेखा लांघो
× × ×
कौन वहाँ आतुर है
किसे यहाँ देनी है
ऊँचा ललाट रखने को
अग्नि की परीक्षा वह !"
—कविताएँ, पृ० २४-२५।

यही नहीं, आज के युग में पुरुष का नारी के साथ दाम्पत्य संबंध टूट चुका है। पुरुष के सजे-धजे कमरे में नारी एक अच्छी खासी तस्वीर के सिवा और कुछ नहीं। गलित-पलित जिन्दगी में नारी प्रेम की अधिष्ठात्री न होकर अब मात्र प्यास की अधिष्ठात्री रह गयी है।

विचार प्रक्रिया में सूक्ष्म तत्वों का प्राधान्य मिट गया है। 'ईश्वर' नाम से मानवमात्र को घृणा हो गयी है। आदर्शवाद आडम्बरवाद हो गया है। पाप-पुण्य की सभी स्थितियाँ समसामयिक होकर अपने दोष से रहित हो गयी हैं। इस प्रकार युग दिन-प्रतिदिन अति-बौद्धिक होता जा रहा है। भावुकता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी मानी जाने लगी है। इसलिए कल्पना, स्वप्न, उदात्तता, आभिजात्य, संभ्रातित्व आदि सभी शब्द अपने अर्थ छोड़कर अस्तित्वहीन हो उठे हैं और आज का जगत् कर्मशील प्राणियों का बंजर, मशीनी संकलन रह गया है क्योंकि भावुकता का नष्ट होना कोई बुरी बात नहीं, बुरी बात है संवेदना का नष्ट होना। अति बौद्धिकता का इससे अधिक भयानक परिणाम क्या होगा ?

भारतीय स्वतन्त्रता का कविता पर सीधा कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न पड़ना ही चाहिए था क्योंकि वास्तविक कविता अखबारनवीसी से कुछ इतर ही मूल्य रखती है। भारतीय स्वाधीनत्व का अर्थ विदेशी साम्राज्यवाद से स्वतन्त्र होना था, संघर्ष से नहीं। गान्धी की हत्या इस आगत संघर्ष की निर्दशिका थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारतीय जन-मानस को असंभावी विविधताओं का सामना करना पड़ा। इन विविधताओं में स्वतन्त्रता-संग्राम में हुए रक्तपात और तज्जनित अवसादपूर्ण वातावरण का एक ओर हृदय-द्रावक क्रन्दन था तो दूसरी ओर विधवा स्त्रियों, बेघरबार के शरणार्थियों के व्यवस्था की समस्या थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही कविता के ओजस् तत्वों का विघटन हुआ और लक्ष्यहीन दिग्भ्रष्ट भारतीय जीवन की विसंगतियों का तुरंत ही गायन करना शायद कविता को मंजूर नहीं था, किन्तु जैसे ही स्वतन्त्रता का विस्मरण काल आया और

स्वतन्त्रता का मात्र ऐतिहासिक महत्त्व रह गया, वैसे ही साहित्यकारों का ध्यान उधर से हट कर जन-सामान्य के क्षत-विक्षत जीवन पर पड़ा यद्यपि शासन सत्तारूढ़ भारतीय नेताओं ने जमींदारी उन्मूलन, देशी रियासतों का विलयन, जनतंत्र पर आधारित शासन की व्यवस्था, भारतीय संविधान की निर्मिति आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए किन्तु इनका उतना उपभोग न हो सका, क्योंकि किसी राजनीतिक व्यवस्था के सफलीभूत होने का आधार उस देश के जन-जीवन की जागरूकता पर निर्भर करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रतापूर्व भारतीय जनों को जो भी आशाएँ थीं, सब मिट गयीं और देश दिन-प्रतिदिन अकाल, भुखमरी, मंहगाई, बेरोजगारी और अनेक आवश्यक आवश्यकताओं तक की कमियों की ओर झुकता गया। प्रयोगवाद और फिर नई कविता का यही युगबोध है। छायावाद की भाँति नई कविता भावनाओं की उस समिधा पर चढ़ने को तैयार नहीं जिनमें व्यक्ति के दैनिक जीवन को अभौतिकी तत्वों द्वारा तौलने का परिश्रम किया जाय और न तो प्रगतिशील कविता की भाँति यह किसी निश्चित 'सिद्धान्त' अथवा 'वाद' के ढांचे में ढलकर अपनी प्राणप्रतिष्ठा करना चाहती है, बल्कि इसका जीवन शुद्ध बोध की वैचारिक प्रक्रिया पर आश्रित है।

देश के बदलते हुए जीवन-मूल्यों के साथ-साथ नई कविता ने अपनी दृष्टि को पैनी की है और स्वस्थ जीवन-दर्शन को पनपाया है। इसन रागात्मकता की बौद्धिक धरातल पर ग्रहण किया है इसलिए रोमानी रंग और वातावरण का प्राकृतिक-अंचल गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिंह, अज्ञेय आदि कवियों में मिलता है किन्तु इसकी पकड़ जीवन-जगत् से दूर चाँद अथवा नीहार जैसे किसी वायवी तत्त्वों द्वारा नहीं होती। प्रकृति का रूपाभास मात्र सौन्दर्यबोध पर अभिभूत होता है और जीवन की तामसी क्रियाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। दुष्यंतकुमार ने इसे बड़े ही निष्पक्ष ढंग से व्यक्त किया है—

"चाँद को देखकर कांपो
तारों से घबराओ
भला कहीं यूं भी दर्द घटता है!
मन की कमजोरी में बहकर
खड़े खड़े गिर जाओ
खुली हवा में न आओ
भला कहीं यूं भी पथ कटता है!"

—सूर्य का स्वागत, पृ० ७३।

गीतों का युग बीत गया, शायद फिर न आए। गीत गाना आज स्वयं एक अस्वस्थता बन गयी है। और इन दो दशकों में यदि गीत लिखे भी गए तो उनमें रोमांस कम, वास्तविकता ही अधिक झलकी है। गेयत्व छंद, राग आदि का आज कोई महत्त्व नहीं और ये सब गीतों के प्रमुख तत्त्व हैं। गीत यदि लिखे भी गए हैं तो या तो बिम्ब के मोह से या जीवन की अनास्थामूलक व्यथाओं से पीड़ित होकर; और दोनों प्रकार के गीत बहुत सुंदर

की आतुरी में कीर्ति चौधरी जैसी सम्मानिता कवयित्री 'अग्निपरीक्षा' देने से इनकार कर देती है—

> "पर
> बीते दिन वर्ष मास
> मेरी इन आँखों के आगे ही
> फिर फिर मुरझाए ये निपट कांस
> मन मेरे ! अब रेखा लांघो
>
> × × ×
>
> कौन वहाँ आतुर है
> किसे यहाँ देनी है
> ऊँचा ललाट रखने को
> अग्नि की परीक्षा वह !"
>
> —कविताएँ, पृ० २४-२५ ।

यही नहीं, आज के युग में पुरुष का नारी के साथ दाम्पत्य संबंध टूट चुका है। पुरुष के सजे-धजे कमरे में नारी एक अच्छी खासी तस्वीर के सिवा और कुछ नहीं। गलित-पलित जिन्दगी में नारी प्रेम की अधिष्ठात्री न होकर अब मात्र प्यास की अधिष्ठात्री रह गयी है।

विचार प्रक्रिया में सूक्ष्म तत्वों का प्राधान्य मिट गया है। 'ईश्वर' नाम से मानवमात्र को घृणा हो गयी है। आदर्शवाद आडम्बरवाद हो गया है। पाप-पुण्य की सभी स्थितियाँ समसामयिक होकर अपने दोष से रहित हो गयी हैं। इस प्रकार युग दिन-प्रतिदिन अति-बौद्धिक होता जा रहा है। भावुकता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी मानी जाने लगी है। इसलिए कल्पना, स्वप्न, उदात्तता, आभिजात्य, संभ्रातित्व आदि सभी शब्द अपने अर्थ छोड़कर अस्तित्वहीन हो उठे हैं और आज का जगत् कर्मशील प्राणियों का बंजर, मशीनी संकलन रह गया है क्योंकि भावुकता का नष्ट होना कोई बुरी बात नहीं, बुरी बात है संवेदना का नष्ट होना। अति बौद्धिकता का इससे अधिक भयानक परिणाम क्या होगा ?

भारतीय स्वतन्त्रता का कविता पर सीधा कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न पड़ना ही चाहिए था क्योंकि वास्तविक कविता अखबारनवीसी से कुछ इतर ही मूल्य रखती है। भारतीय स्वाधीनत्व का अर्थ विदेशी साम्राज्यवाद से स्वतन्त्र होना था, संघर्ष से नहीं। गान्धी की हत्या इस आगत संघर्ष की निर्देशिका थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भारतीय जन-मानस को असंभावी विविधताओं का सामना करना पड़ा। इन विविधताओं में स्वतन्त्रता-संग्राम में हुए रक्तपात और तज्जनित अवसादपूर्ण वातावरण का एक ओर हृदय-द्रावक क्रन्दन था तो दूसरी ओर विधवा स्त्रियों, बेघरबार के शरणार्थियों के व्यवस्था की समस्या थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही कविता के ओजस् तत्वों का विघटन हुआ और लक्ष्यहीन दिग्भ्रष्ट भारतीय जीवन की विसंगतियों का तुरंत ही गायन करना शायद कविता को मंजूर नहीं था, किन्तु जैसे ही स्वतन्त्रता का विस्मरण काल आया और

स्वतन्त्रता का मात्र ऐतिहासिक महत्त्व रह गया, वैसे ही साहित्यकारों का ध्यान उधर से हट कर जन-सामान्य के क्षत-विक्षत जीवन पर पड़ा यद्यपि शासन सत्तारूढ़ भारतीय नेताओं ने जमींदारी उन्मूलन, देशी रियासतों का विलयन, जनतंत्र पर आधारित शासन की व्यवस्था, भारतीय संविधान की निर्मिति आदि अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किए किन्तु इनका उतना उपभोग न हो सका, क्योंकि किसी राजनीतिक व्यवस्था के सफलीभूत होने का आधार उस देश के जन-जीवन की जागरूकता पर निर्भर करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतन्त्रतापूर्व भारतीय जनों को जो भी आशाएँ थीं, सब मिट गयीं और देश दिन-प्रतिदिन अकाल, भुखमरी, मंहगाई, बेरोजगारी और अनेक आवश्यक आवश्यकताओं तक की कमियों की ओर झुकता गया। प्रयोगवाद और फिर नई कविता का यही युगबोध है। छायावाद की भाँति नई कविता भावनाओं की उस समिधा पर चढ़ने को तैयार नहीं जिनमें व्यक्ति के दैनिक जीवन को अभौतिकी तत्वों द्वारा तौलने का परिश्रम किया जाय और न तो प्रगतिशील कविता की भाँति यह किसी निश्चित 'सिद्धान्त' अथवा 'वाद' के ढांचे में ढलकर अपनी प्राणप्रतिष्ठा करना चाहती है, बल्कि इसका जीवन शुद्ध बोध की वैचारिक प्रक्रिया पर आश्रित है।

देश के बदलते हुए जीवन-मूल्यों के साथ-साथ नई कविता ने अपनी दृष्टि को पैनी की है और स्वस्थ जीवन-दर्शन को पनपाया है। इसन रागात्मकता की बौद्धिक धरातल पर ग्रहण किया है इसलिए रोमानी रंग और वातावरण का प्राकृतिक-अंचल गिरिजाकुमार माथुर, केदारनाथ सिंह, अज्ञेय आदि कवियों में मिलता है किन्तु इसकी पकड़ जीवन-जगत् से दूर चाँद अथवा नीहार जैसे किसी वायवी तत्त्वों द्वारा नहीं होती। प्रकृति का रूपाभास मात्र सौन्दर्यबोध पर अभिभूत होता है और जीवन की तामसी क्रियाओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। दुष्यंतकुमार ने इसे बड़े ही निष्पक्ष ढंग से व्यक्त किया है—

"चाँद को देखकर कांपो
तारों से घबराओ
भला कहीं यूं भी दर्द घटता है !
मन की कमजोरी में बहकर
खड़े खड़े गिर जाओ
खुली हवा में न आओ
भला कहीं यूं भी पथ कटता है !"
—सूर्य का स्वागत, पृ० ७३।

गीतों का युग बीत गया, शायद फिर न आए। गीत गाना आज स्वयं एक अस्वस्थता बन गयी है। और इन दो दशकों में यदि गीत लिखे भी गए तो उनमें रोमांस कम, वास्तविकता ही अधिक झलकी है। गेयत्व छंद, राग आदि का आज कोई महत्त्व नहीं और ये सब गीतों के प्रमुख तत्त्व हैं। गीत यदि लिखे भी गए हैं तो या तो बिम्ब के मोह से या जीवन की अनास्थामूलक व्यथाओं से पीड़ित होकर; और दोनों प्रकार के गीत बहुत सुंदर

बन पड़े हैं। इनमें भी बिम्ब विधान की दृष्टि से आंचलिक गीतों का विशेष महत्त्व है। केदारनाथ सिंह की ऐसी ही एक रचना है—

"झीलों के पानी खजूर हिलेंगे
खेतों के पनी बबूल
पछुवा के हाथों में शाखें हिलेंगी
पुरवा के हाथों में फूल,
आना जी बादल जरूर,
धान तुलेंगे कि प्रान तुलेंगे
तुलेंगे हमारे खेत में,
आना जी बादल जरूर ॥

—तीसरा सप्तक, पृ० २१६।

प्रकृति के थोड़े-थोड़े अंचल में रखकर जीवन की व्याख्या करने की शैली इन कवियों की अपनी विशेषता रही है। कुँवरनारायण की 'दो वत्तखें' शीर्षक रचना इसका उत्कृष्ट उदाहरण है—

"दोनों ही बत्तख हैं,
दोनों ही मानी हैं,
छोटी-सी तलैया के
राजा और रानी है";

—तीसरा सप्तक, पृ० २५१।

प्राकृतिक जीवन में आज के मनुष्य की यही छोटी-सी कहानी रह गयी है। बाहर से मनुष्य जितना ही विस्तृत होता जा रहा है उसका अपना आयाम उतना ही संकुचित होता जा रहा है। किन्तु जीवन बुद्धि की परतन्त्रता को सर्वदा स्वीकार नहीं कर सकता। तमाम उत्तरदायित्वों और लादे गए बोझों के बीच 'माघ—१० बजे' की धूप मन को बहका ही देती है—

"यह धूप बहकी-बहकी
कि शराब आसमानी,
ये हवाएँ सरसराती
कि आलस भरी जवानी।"

—तीसरा सप्तक, पृ० २८८।

प्रकृति का यह मोहक रूप मानवमन को सदा आकर्षित करता रहा है किन्तु स्वतंत्रता प्राप्त भारतीय हिन्दी साहित्य में प्रकृति के बीच प्रिय को रखकर कम ही देखा गया है। प्रकृति सर्वत्र मनुष्य को वैशाखी देती रही है, त्रास नहीं क्योंकि त्रास तो वहाँ होता है जहाँ मनुष्य की आध्यात्मिक पीड़ा पर कोई भौतिक बर्फीली पर्त हावी हो जाती है। प्रकृति का सम्पर्क ग्रामीण जीवन में ही अधिक होता है। ग्राम्य जीवन की उपयोगिता के इसी अर्थ में स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ ही दिनों बाद हुई एक बैठक में गांधी जी ने कहा था कि भारत

की राजधानी गाँव में होनी चाहिए। इसका आशय गांधी जी के विचारों में जो भी रहा हो किन्तु इतना तो मान्य ही है कि किसी देश को समृद्ध बनाने के लिए गाँव की जमीन, गाँव का वातावरण और गाँव की प्रकृति का संपन्न होना बहुत आवश्यक है। सद्यः नेहरू को यह बात भला कैसे पसन्द आती, किन्तु गाँधी की मृत्यु के कुछ ही वर्षों पश्चात् जब नेहरू को भारतीय वातावरण का ज्ञान हुआ तो उन्होंने देश की बौद्धिकी और सुमेधा को गाँव की उन्नति में लगाने का परामर्श दिया। आश्चर्य का विषय है कि स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी साहित्य में स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ पूर्व से ही, शहरी अनेक दौड़-धूप के साथ-साथ, देहातों और गाँवों के जीवन-भोग की यह ललक लगनी प्रारम्भ हो गयी थी जो आज तक उसी रूप में चली आ रही है। इस परिप्रेक्ष्य में सर्वेश्वर की 'नये साल पर' शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियों के साथ प्रस्तुत निबन्ध का समापन समीचीन होगा—

"नये साल की शुभ कामनाएँ।
खेतों की मेड़ों पर धूल-भरे पांव को
कुहरे में लिपटे उस छोटे से गांव को,
नये साल की शुभ कामनाएँ।
जांते के गीतों को, बैलों की चाल को
करघे को, कोल्हू को, मछुओं के जाल को,
नये साल की शुभ कामनाएँ।"

—तीसरा सप्तक, पृ० ३३६।

धर्म-रथ

रामजी पाण्डेय

पुराण विभाग, भारती महाविद्यालय

श्री रामचरितमानस में गोस्वामी जी की लेखनी से ऐसे गूढ़ प्रसंगों की रचना हुई है जहाँ उन्होंने जटिल से जटिल दार्शनिक गुत्थियों को भी बड़ी सुगमता से रूपकों के माध्यम द्वारा सुलझाने का सफल प्रयास किया है। ऐसे गंभीर किन्तु सरस प्रसंगों में से यह धर्म-रथ भी है जो अपने ढंग का अनूठा है। 'मानस' के षष्ठ सोपान में राम-रावणयुद्ध के अन्तर्गत इसका वर्णन आया है जो इस प्रकार है—

रावनु रथी बिरथ रघुबीरा। देखि बिभीषन भयउ अधीरा॥
अधिक प्रीति मन भा संदेहा। बन्दि चरन कह सहित सनेहा॥
नाथ न रथ नहिं तन पदत्राना। केहि बिधि जितब बीर बलवाना॥
सुनहु सखा कह कृपानिधाना। जेंहि जय होइ सो स्यन्दन आना॥
सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य शील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजन सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचण्डा। बर बिग्यान कठिन कोदण्डा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुर पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मतिधीर॥

लङ्का (६।८०)

लङ्का की उस समर भूमि में रणकौशल, साज-सज्जा, शस्त्रास्त्रों एवं अन्य उपकरणों से सुसज्जित एक ओर रावण की अजेय राक्षस-वाहिनी, स्वयं रावण जैसा कुशल सेनानायक एवं दुर्धर्ष योद्धा और दूसरी ओर राम का सुकुमार वल्कलवेष्ठित तपःपूत कृश शरीर, युद्ध के सामान्य उपकरण और अशिक्षत वानरी सेना को देखकर सामान्य प्रेक्षक भी यह अनुमान लगा सकता था कि विजयश्री किस पक्ष का वरण करेगी ? ऐसी स्थिति में विभीषण जैसे भावुक और प्रेमी के लिए इस प्रकार का संदेह हो जाना कोई आश्चर्य की बात न थी कि भगवान रावण को जीत सकेंगे या नहीं। श्री राम के पौरुष पर उन्हें संदेह न था और न वे सुग्रीव की तरह इतने छिछले ही थे कि परीक्षा लेने के बाद भी राम की शक्ति पर भरोसा न करते। यह तो उनकी राम प्रेम की अगाधता थी जिसके चलते समर की कठिनाइयों से जूझते हुए प्रभु को देखकर वे अधीर हो उठे। भगवान् राम का विरथ होना और विभीषण का संशय इन दो वस्तुओं के कारण ही 'धर्मरथ' का वर्णन हम सबके लिए सुलभ हुआ।

विभीषण का प्रश्न था कि विरथ होकर आप रावण को कैसे पराजित कर सकेंगें ? उत्तर था 'महा अजय संसार रिपु,' 'जेहि जय होइ सो स्यंदन आना' और यह उत्तर ही बताता है कि 'मानस' का मूल उद्देश्य जो उसके प्राण की ओर संकेत करता है, क्या है ? राम-रावण-युद्ध तो एक लीला है। प्रभु की लीला के पीछे एक तिश्चित सिद्धान्त है जिसकी स्थापना के लिए उसका उपक्रम किया गया है। यद्यपि भगवान् का उत्तर विभीषण के प्रश्न से कुछ दूर हटकर था, पर था उक्त सिद्धान्त के अनुरूप ही। उनका संकेत था—मित्र ! इस युद्ध का उद्देश्य तो कुछ और ही है। यह तो लीला है। युद्ध रावण से नहीं अपितु अपने आन्तरिक शत्रुओं से है जिसके लिए भौतिक या वाह्यरथ नहीं, आध्यात्मिक या अभ्यन्तर रथ की आवश्यकता है। आन्तरिक शत्रुओं पर विजय पाने के लिए हमें धर्मरथ चाहिए स्थूल या भौतिक रथ नहीं।

लीला की पृष्ठभूमि से कुछ हट कर हम विचार करें तो ऐसा लगता है कि भौतिक अवस्था में भी हम जीवों के लिए युद्ध के उपकरण एवं सम्पूर्ण अपेक्षित वस्तुओं की आवश्यकता है पर ब्रह्म के लिए नहीं। उसे किसी बाह्य आलम्बन की आवश्यकता नहीं। वह बिना रथ के भी युद्ध कर सकता है, या उसके लिए भौतिक रथ भी धर्मरथ बन सकता है अन्धकार में पड़ी हुई वस्तु को ढूँढने के लिए हम सब को दीपक की आवश्यकता है, सूर्य को नहीं। ब्रह्म की विजय के लिए धर्म रथ की अपेक्षा नहीं, अपितु वह लोककल्याण के लिए उसे स्वीकार करता है। राम या भरत के जीवन में धर्माचरण है वह अपने लिए नहीं अपितु लोक-संग्रह के लिए है। अतः लीला का उद्देश्य किसी सत्य सिद्धान्त का ख्यापन है जो लोककल्याण की भावना से ओत-प्रोत रहता है। गोस्वामी जी ने चरित और लीला में अन्तर स्वीकार किया है। ब्रह्म द्वारा की गई लीलाएं जो भौतिक या दिव्य धरातल पर आवृत रहती हैं वे प्रायः ऐश्वर्य छिपा रहने के कारण जीव के लिए भ्रामक हो जाती हैं, क्योंकि वह उन्हें अपनी परिस्थिति, स्वभाव एवं मानदण्ड से देखता है। विभीषण को प्रभु का 'भुवनेश्वर कालहुँ कर काला' वाला स्वरूप विस्मृत हो गया था या विजय की अपनी स्थूल दृष्टि से उन्होंने इसे देखा या प्रेम के आधिक्य से उन्हें इस प्रकार का भ्रम हो गया। इनमें से कोई भी उनके भ्रम का हेतु हो सकता है पर अधिक समीचीन प्रेमाधिक्य ही प्रतीत होता है। जो भी हो हम सबके लिए उनके माध्यम से यह धर्मरथ प्राप्त हुआ।

धर्मरथ का स्वरूप एक सिद्धान्त पर आश्रित है। रथ के रूपक द्वारा अन्य कई ग्रन्थों में ब्रह्मप्राप्ति का सिद्धान्त स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है। इसका सर्व-प्रथम प्रतिपादन कठोपनिषद् महाभारत, श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में इस प्रकार किया गया है।[1]

---

[1] आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

कठोपनिषद	महाभारत०	श्रीमद्भागवत्	शत्रु
रथिन्=आत्मा	धीर	जीव	राग
रथ=शरीर	शरीर	शरीर	द्वेप
सारथि=बुद्धि	आत्मा	बुद्धि	लोभ
प्रग्रह्=मन	इन्द्रिय	मन	शोक
हय=इन्द्रिय		इन्द्रिय	मोह
पहिया=		धर्म-अधर्म	भय
धुरी=		दश प्राण	मद
रस्सी=		चित्र	मान
धनुष=		ॐकार	अवमान
बाण=		जीवात्मा	असूया
लक्ष्य=		परमात्मा	माया
			हिंसा
			मत्सर
			रजोगुण
			प्रमाद, निद्रा

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ कठ० १।३।३-५

रथः शरीरं पुरुषस्य राजन्नात्मा नियन्तेन्द्रियाण्यस्य चाश्वाः ।
तैरप्रमत्तः कुशली सदश्वैर्दान्तैः सुखं याति रथीव धीरः ॥
एतान्यनिगृहीतानि व्यापादयितुमप्यलम् ।
अविधेया इवादान्ता हयाः पथि कुसारथिम् ॥

(महा० उद्योग ३४।५९-६०),

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम् ॥
अक्षं दश प्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥
रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ।
रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः ।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥
यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः स्वाराज्यतुष्ट उपशान्तमिदं विजह्यात् ॥
नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥

श्रीमद्भा० ७।१५।४१-४६ ।

मानस और कठ या भागवत के रूपकों का अन्तर केवल इतना है कि पहले में जहाँ धर्म और उसके अवयवों द्वारा रूपक का निर्माण किया गया है वहाँ दूसरे में शारीरिक अवयवों द्वारा। माध्यम दोनों में रथ ही है। विश्व में यदि कोई निःसंशय महान् है तो वह धर्म है क्योंकि यह उसकी प्रतिष्ठा है 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,' तै० आ० १९।६३। धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः, महा० शा० १०९।११, इस परिभाषा के अनुसार किसी भी वस्तु के धारक तत्त्व का नाम धर्म है। हमारे जीवन के जो मूलभूत प्राणवन्त तत्त्व हैं वे सब धर्म में निहित हैं। धर्म पर ही हमारे उत्थान-पतन की आधारशिला टिकी हुई है। संसार में ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों ही प्रकार के सत्यों की प्राप्ति के लिए धर्म की महती आवश्यकता है। संस्कृत वाङमय में धर्म के स्वरूप पर गम्भीरता के साथ विचार हुआ है। इस दिशा में पहला मनु का 'दशकं धर्मलक्षणम्' आदि उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये धर्म के दस लक्षण हैं[१]। इसी का परिवर्धित रूप श्रीमद्भागवत में भी मिलता है जहाँ धर्म को 'त्रिंशल्लक्षणवान्' कहा गया है : १—सत्य, २—दया, ३—तपस्या, ४—पवित्रता, ५—कष्टसहिष्णुता, ६—उचित-अनुचित का विचार, ७—मन का संयम, ८—इन्द्रियों का संयम, ९—अहिंसा, १०—ब्रह्मचर्य, ११—त्याग, १२—स्वाध्याय, १३—सरलता, १४—संतोष, १५—समदर्शिता, १६—सेवा, १७—सांसारिक भोगवृत्ति का त्याग, १८—लौकिक सुख प्राप्ति के प्रयत्न विपरीतफलदायक हैं यह विचार १९—मौन, २०—आत्मचिन्तन, २१—प्राणियों में अन्नादि का संविभाग और उनमें इष्ट दर्शन, २२—भगवान् के रूप, गुण, लीला आदि का श्रवण, २३—उनके नामका संकीर्तन, २४—स्मरण, २५—सेवा, २६—उनकी पूजा, २७—उनको नमस्कार २८—उनके प्रति दास्यभाव, २९—सख्यभाव, ३०—भगवान् को आत्मसमर्पण।[२]

लगता है गोस्वामी जी ने धर्मरथ की मूल प्रेरणा श्रीमद्भागवत के आधार पर ली होगी। जीवन में धर्म किस प्रकार आचरणीय बने इसी के प्रतिपादन के लिए भगवान् का अवतार होता है। राम के जीवन की क्रिया इतनी पुनीत है कि उसका धर्म स्वयं आचरण

---

[१] धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ मन० ६।९२

[२] सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः।
अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
संतोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः।
नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः।
तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः।
सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥ श्रीभा० ७।११।८-१२

करता है और राम कहीं धर्म को छोड़ना भी चाहते हैं तो वह इतना दृढ़ है कि उनका साथ कभी नहीं छोड़ता। हमलोगों के जीवन की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। हम चाह कर भी धर्म को अपनी क्रिया के अनुकूल नहीं बना पाते। क्रिया के अनुकूल बनना तो दूर रहा हम स्वधर्म का ठीक पालन भी नहीं कर पाते। परिणामतः हमारा संपूर्ण जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है। देखा यही जाता है कि किसी भी पहलू पर हम दुर्गुणों से परास्त हो जाते हैं। जीवन में सद्गुणों का एक साथ दर्शन कभी नहीं हो पाता है। इसका प्रधान कारण धर्माभाव ही है। दुर्गुण परस्पर संगठित हैं और जहाँ भी उन्हें जाना होता एक साथ पहुँचते हैं। सामूहिक रूप से इनका हमारे जीवन में प्रवेश ही हमारे धर्म से च्युत होने का कारण होता है। मानस में दुर्गुणों के सम्मिलित आक्रमण का वर्णन नारदमोह के प्रसंग में प्राप्त होता है जहाँ उन्हें ये सब 'प्रणश्यति' की स्थिति में ला देते हैं। अतः यदि युद्ध इन आन्तरिक क्षत्रुओं से करना है तो हमें धर्मरथ पर चढ़कर आक्रमण करना होगा जिसमें सद्गुण एकत्रित हैं। विजय के लिए इन गुणों में क्रम अत्यन्त आवश्यक है इसीलिए इनका रथ के रूप में वर्णन किया गया है जो इस प्रकार है —

चक्र—'सौरज धीरज तेहि रथ चाका'—इस धर्म-रथ के चक्के शौर्य और धैर्य हैं। पहिए में दो गुण हैं वह परिस्थिति के अनुसार गतिशील भी है और स्थिर भी। स्थिरता उसके केन्द्र विन्दु पर रहती है। शौर्य गति है और धैर्य स्थिति है। दो चक्कों की आवश्यकता है, एक चक से रथ में गतिशीलता नहीं आ सकती। चलने को तो रथ चलेगा ही पर घिसटते हुए। जीवन संघर्षमय है इसलिए शौर्य और धैर्य की आवश्यकता है। रणक्षेत्र में जो शूरवीर नहीं है वह क्षण भर भी टिक नहीं सकता। शूरता का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए। महान् पुरुषों में यह गुण प्रकृतिसिद्ध होता है। 'विपदि धैर्यं···युधि विक्रमः प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्।' धैर्य अविचलित होता है। धैर्य यदि विचलित हो गया तो शूर बनकर भी हम संग्राम से भाग खड़े होते हैं एवं पराजय शत्रु के विना कुछ किए ही हमारे मत्थे आ पड़ती है। विपत्तियों के थपेड़े धैर्यवान् को विचलित नहीं कर पाते। धैर्य के अभाव में जीवन का संतुलन विषम हो जाता है। विकार-हेतु के उत्पन्न होने पर भी जिनका चित्त विचलित नहीं होता वे ही सचमुच धीर हैं। धैर्यवान् विपत्तियों के मस्तक पर पैर रखकर अपने मार्ग का निर्माण करता है। वैसे तो रावण भी शूर है पर उसमें धैर्य का अभाव है। भगवान् राम का धैर्य अविचलित है। हाँ प्रेमजगत् की बात अलग है। वहाँ तो विजय की इच्छा ही नहीं, पराजयवरण को ही परम सौभाग्य माना जाता है। भरत से पराजित होना ही वे चाहते हैं विजयी होना नहीं। मोह समय आने पर अपने आप विचलित हो जायगा। शूरता से संग्राम जीता जा सकता है पर धीरता के अभाव में उस विजय के अहंकार रूपी बोझ को हम संभाल नहीं पाते। अतः शौर्य और धैर्य धर्मरथ की स्थिरता, गति एवं संतुलन के लिए आवश्यक हैं।

ध्वजा-पताका 'सत्यसील दृढ़ ध्वजा पताका'—गति एवं स्थिति के बाद धर्मरथ में महत्व की वस्तु सत्य की ध्वजा और शील की पताका है। ध्वजा और पताका ही ऐसी दो वस्तुएँ है जो रथी की स्थिति की सूचना देती हैं। इनकी स्थिति से संपूर्णसैन्य उत्साहित रहता है। जीवन में यदि सत्य और शील हैं तो धर्म की स्थिरता है अन्यथा नहीं। शत्रु

का प्रथम प्रयास यही होता कि विपक्षी की ध्वजा और पताका को काट गिराए, क्योंकि ध्वजा और पताका के कटने से सेना को रथी की पराजय या संकट की सूचना मिलती है और वह भाग खड़ी होती है। दुर्गुणों का पहला प्रयास यही होता है कि वे सत्य और शील को समाप्त कर देना चाहते हैं और जब सत्य और शील हमारे जीवन से चले जाते हैं फिर अन्य सभी सहायक सद्गुण अपने आप धीरे-धीरे साथ छोड़ देते हैं। इसलिए दृढ़ विशेषण दिया कि ये दृढ़ होने चाहिएँ, ये किसी तरह से न कटने पाएँ। महत्त्व की दृष्टि से दोनों समान होते हुए भी दो स्थिति के हैं। पताका ऊँची होती है ध्वजा कुछ नीची। ध्वजा निकट से एवं पताका दूर से प्रेरित करती है। फिर भी धर्मरथ में पताका का स्थान ऊंचा है। सत्य सबकी प्रतिष्ठा है पर वह कटु होता है उसे परिमार्जित करने के लिए शील की आवश्यकता है। यह ठीक है कि सत्य के अभाव में शील दम्भ है किन्तु शील के बिना सत्य भी कोरा अहंकार है। पताका ही दूर से सैनिकों को बढ़ावा देती है क्योंकि वह ऊँची और लम्बी होती है। हम अपने शील से ही अपने अन्य मित्रों के हृदय को जीतकर अपनी ओर खींचते हैं। सिद्धान्त यह है कि व्यक्ति अपने लिए सत्यवान् बने और दूसरों के लिए शीलवान्। शीलवान् सत्य का त्याग नहीं करता। शील में दूसरों की भावना के लिए पर्याप्त स्थान हैं। शीलवान् अपना व्रत छोड़कर भी दूसरों के व्रतों की रक्षा करता है। स्व और पर का परस्पर मेल ही सत्यशील का रहस्य है। इससे हम अपने साथ ही दूसरों का भी महत्त्व समझते हैं।

अश्व—'बल बिबेक दम परहित घोरे' ये ही धर्मरथ के चार घोड़े हैं। बलवान्, दमसंपन्न, परहित, और विवेकी पुरुष ही धर्मरथ के भार को वहन कर सकता है। जो निर्बल, विषयी, द्रोही और अविवेकवान् है वह शूर, धीर, धर्मध्वज होकर ही क्या करेगा? उससे धर्मरथ नहीं खींचा जा सकता। रथ के उपकरणों में सभी जड़ हैं, घोड़े अर्धचेतन और सारथि पूर्णचेतन है। बिना चैतन्य के जड़में गति संभव नहीं। अतएव गतिशीलता प्रदान करने के लिए घोड़े आवश्यक हैं। रथ में इनका एक क्रम है। चञ्चल घोड़ों को आगे रखने से रथ के उलटने का भय है अतः आगे शान्त एवं अभ्यस्त घोड़े जोते जाते हैं जिनके पीछे उनका अनुगमन करने वाले दो और हैं। परहित और दम अगले घोड़े है। बल और विवेक पीछे के। बल उद्धत होता है अतः उसे परहित में लगाना चाहिए वैसे ही विवेक को दम, अर्थात् इन्द्रिय-निग्रह में।

रस्सी—'छमा कृपा समता रजु जोर'—घोड़े अलग-अलग नहीं अपितु एक साथ क्षमा, कृपा और समता रूपी रस्सियों से जुड़े हैं। घोड़ों को नियंत्रित करने के लिए रस्सी तिहरी है। तीनों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। क्षमा बल को, समता विवेक और दम को तथा कृपा परहित को नियंन्त्रित करती है। क्षमा किसी को अपराधी मानकर करते हैं, कृपा किसी की दीनता देखकर अतः दोनों में विषमता पहले से है। अतः दोनों समता से परिमार्जित होती हैं। क्षमा और कृपा का जीवन में दूसरों से संबन्ध है समता का अपने से। जीवन में सुख-दुःख, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति में समान रहना ही उचित है।

सारथि—'ईस भजनु सारथी सुजाना'—सारथि पूर्णचेतन है। वह डोर, घोड़े और संपूर्ण रथ को नियंत्रित रखता है। चतुर सारथी रथी का संरक्षण करता है। सभी उपकरणों

के क्षीण होने के बाद भी वह रथी को उसके लक्ष्य की ओर प्रेरित करता रहता है। धर्म-रथ में ईशभजन सारथी का काम करता है। ईशभजन करने वाले का कभी नाश नहीं होता, 'न मे भक्तः प्रणश्यति, गीता ९।३१। विघ्नों से छूटने का एकमात्र उपाय ईश्वर प्रणिवान ही है। जीवन में गुणों का परस्पर मेल विना ईशकृपा के संभव नहीं। यदि कभी किसी कारणवश इनका समागम एक स्थान पर हो भी जाय तो ये अहं से अलग नहीं रह सकते। हम लोगों के जीवन की संपूर्ण क्रिया कर्तृत्वाभिमान से युक्त है। अहं को छोड़कर हम क्षणभर भी कुछ दूसरा नहीं सोच सकते। गुण अहं के लेप से विषयोन्मुख हो जाते हैं। प्रश्न है कि किस प्रकार गुणों का संवन्ध हम ईश्वर से जोड़े। ये गुण व्यक्तिगत जीवन में अहं से पूर्ण होने के कारण शून्य हैं। भगवान् के साथ इनका संबन्ध होने पर जैसे अङ्क पा जाने पर शून्य का मूल्य दशगुना बढ़ जाता है वैसे ही ये दशगुने महत्व के हो जाते हैं। दुर्गुण भी ईश्वर के संपर्क से सद्‌गुण बन जाते हैं नहीं तो सद्‌गुण भी हमारे जीवन में दुर्गुण बन जाते हैं। भक्त कभी भी गुणों का श्रेय अपने में आरोपित नहीं करता। वह उन्हें ईश्वरकृपा का ही परिणाम मानता है। ये गुण हमारे जीवन में ईश्वर कृपा से नियंत्रित हों यही गोस्वामी जी का दृष्टिकोण है। ईश्वर-भजन के संरक्षण में हम अपने आपको सौंपकर भौतिक बाधाओं से मुक्त हो जाते हैं।

चर्म—'विरति चर्म' अव तक रथ, अश्व और सारथि का वर्णन हुआ, किन्तु युद्ध के लिए शस्त्रास्त्र भी अपेक्षित हैं। युद्ध में अपनी रक्षा के लिए एवं शत्रु पर आक्रमण करने के लिए अस्त्र-शस्त्र चाहिए। इसलिए पहले अपनी संरक्षा के लिए चर्म की आवश्यकता है। धर्म-रथ का चर्म वैराग्य है। ढ़ाल सदा पीछे रहती है पर आक्रमण के समय सदा आगे आकर हमारी रक्षा करती है। शत्रु के अस्त्र-शस्त्रों को विफल करने के लिए जिगीषु के पास एक मात्र साधन ढाल है। वैराग्य स्वयं निरपेक्ष है और सदा पीछे छिपा रहता है पर समय पर हमारी रक्षा करता है। वैराग्य दिखावे की वस्तु नहीं। राग अच्छी वस्तु है पर वह भगवदुन्मुख हो तो। चूंकि रागों की सहज प्रवृत्ति विषयों की ओर है अतः वे बन्धनकारी हैं। वैराग्य नीरस होता है अतः विषयों की ओर कभी झुकता नहीं। अतः धर्मपथ में अविचल रहता है। ईश-भजन विराग-युक्त होना चाहिए।

कृपाण—'संतोष कृपाना'—शत्रु पर आक्रमण के लिए पहला आयुध कृपाण है। वैराग्य से शत्रु के शस्त्राशस्त्र विफल हो सकते हैं पर शत्रु का समूल विनाश संभव नहीं। दुर्गुणरूपी शत्रु के नाश के लिए संतोषरूपी कृपाण चाहिए। जीवन में जब कभी भी अभाव का अनुभव हमें होता है तभी शत्रु (दुर्गुण) हमारे ऊपर आक्रमण करते हैं। अभाव से कामना, कामना से लोभ और लोभ से ही सभी पापों की सृष्टि होती है। काम, क्रोध, लोभ इन तीनों शत्रुओं का नाश संतोष से होता है। जिसके पास गन्धर्व-नगर बनाने का मनोरथ नहीं वह सुखी है। 'विनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपने नहीं। संतोष विषयों की आशा का पूर्ण शोषक है। संतोष के पदार्पण के साथ ही दुर्गणरूपी शत्रुओं का समूल नाश प्रारम्भ हो जाता है। अतः यह बहुत महत्त्व का है।

परशु—'दान परसु'—संग्राम में विभिन्न प्रकार के शत्रुओं से लड़ने के लिए अनेक प्रकार के आयुधों की आवश्यकता है, एक से ही काम नहीं चलेगा। कृपाण से पास में

आए हुए शत्रुओं पर ही प्रहार कर सकते हैं। दूर वाले शत्रु का उससे नाश नहीं हो सकता। उस प्रहार के लिए फरसे की जरूरत होगी। यहाँ दान ही फरसा है। विषयों की कामना का नाश तो हम संतोष से कर सकते हैं किन्तु प्राप्त सुखों की ममता का उच्छेद केवल दानरूपी परशु से ही संभव है। ममत्व-त्याग का सबसे सुगम उपाय दान है। दान से धर्म का मार्ग कण्टकरहित एवं स्वच्छ रहता है। किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि इन आयुधों को सावधानी से चलाना चाहिए। असावधानी बर्तने पर ये स्वयं पर ही घात कर सकते हैं। दान देकर भी यदि दान देने का अभिमान या पश्चात्ताप हुआ तो वह एक-दम निष्फल हो जायगा।

शक्ति—'बुधि सक्ति प्रचण्डा' बुद्धि ही वह प्रचण्ड शक्ति है जो शत्रु को और दूर से ही आहत कर सकती है। कृपाण और परशु तो शत्रु के कुछ पास आने पर सफल हो सकते हैं किन्तु यह तो पास आने ही नहीं देगी और यदि आ गया तो भी मार गिरायेगी। इसीलिए यह शस्त्र और अस्त्र दोनों है। इससे सुख के साधनों को तुच्छ और दुःख पर प्रहार भी किया जा सकता है। यह बुद्धि ही हमारे कर्तव्य-अकर्तव्य, प्रवृत्ति-निवृत्ति, एवं सुख-दुःख का निर्णायक होती है। यही हमारा मार्ग बनाती है।

कोदण्ड—'बर बिग्यान कठिन कोदण्डा' बहुत दूर स्थित शत्रु को मारने के लिए धनुष की आवश्यकता है। परमात्मज्ञान ही कठिन कोदण्ड है जिससे प्रबल से प्रबल शत्रु पर प्रहार होता है। इससे पास और दूर दोनों प्रकार के शत्रुओं का नाश होगा। केवल शुष्क ज्ञान नहीं अपितु भगवद्भक्ति से पूर्ण ज्ञान ही प्रशंसित है 'सोह न राम प्रेम बिनु ग्यानू'। कोरा शास्त्रीय ज्ञान भक्ति और क्रिया के अभाव में बकवास मात्र होगा। उसका अनुभव भक्ति से ही संभव है। धनुष और प्रत्यंचा दोनों का महत्व है। वर-विज्ञान धनुष है और भक्ति उसकी प्रत्यंचा है। विज्ञान प्राप्त होने पर भी भक्ति के अभाव में वह निष्फल हो जायगा।

तूणीर और बाण—'अमल अचल मन त्रोन समाना। सम जम नियम सिलीमुख नाना'। धनुष के साथ ही तूणीर और बाण भी कम महत्वपूर्ण नहीं। पवित्र मन ही तूणीर है जिसमें शम-यम-नियम[१] रूपी बाण सदा भरे रहने चाहिए। विषयों से मलिन

---

[१] (अ) अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसंचयः।
आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्।
शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम्।
तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्॥ श्री० भा० ११।१९।३३-३५
एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः।
शमो मन्निष्ठता (भगवत्परायणता)···॥

अहिंसा आदि यम हैं, शौच आदि नियम हैं, भगवान् में एकनिष्ठ प्रेम शम हैं।

[१] (ब) अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, और भोग-सामग्रियों का संग्रह न करना ये ५ प्रकार के यम हैं 'अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' (योग० २।३०)

बाह्याभ्यन्तरशौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम हैं, शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः योग० २।३२।

मन में शम, यम, नियम आदि वाण नहीं रह सकते। भगवद्भक्ति से ही मन शुद्ध एवं स्थिर होगा जिसमें वाणों का आधान किया जा सकता है।

कवच—'कवच अभेद विप्र गुर पूजा' आत्म-संरक्षण के लिए दो उपाय वतलाया एक ढाल और दूसरा कवच। ढाल पास की लड़ाई में तो काम आ सकती है किन्तु संभव है दूर की लड़ाई में वह हमारी रक्षा न कर सके। इसलिए कवच जरूरी है। विप्र और गुरु-पूजा ही अभेद्यकवच है। ब्राह्मण अपनी तपस्या से रक्षा करता है। यही कवच है और गुरुकृपा उसकी अभेद्यता है। गुरु अपनी सामर्थ्य से व्रह्मा के कोप से रक्षा करता है। जहाँ सब कुछ व्यर्थ हो जाता है उस स्थिति में विप्र और गुरु का आशीष ही हमारे त्राण का उपाय शेष रहता है। उसी के बल पर हम भवसागर से पार पाते हैं। सचमुच इसके समान अपनी विजय का दूसरा उपाय नहीं है।

यह तो हुआ रथ का वर्णन जिस पर आरूढ़ होकर हमें शत्रु से लड़ना पड़ता है किन्तु इसके साथ ही किससे लड़ना है उसकी कितनी ताकत है यह भी जानना जरूरी है।

रिपु—'महा अजय संसार रिपु' संसार ही हमारा प्रवल शत्रु है यह अकेला नहीं अनेकानेक इसके सहायक हैं। मायिक संसार कितना प्रवल है इसका वर्णन गोस्वामी जी के ही शब्दों में पढ़िए—

नारद भव बिरंचि सनकादी। जे मुनिनायक आतमवादी।।
मोह न अंध कीन्ह केहि केही। को जग काम नचाव न जेही।।
तृस्नाँ केहि न कीन्ह बौराहा। केहि कर हृदय क्रोध नहिं दाहा।।
ग्यानी तापस सूर कबि कोबिद गुन आगार।
केहि कै लोभ बिडम्बना कीन्ह न एहिं संसार।।
श्रीमद बक्र न कीन्ह केहि प्रभुता बधिर न काहि।
मृगलोचनि के नैन सर को अस लाग न जाहि।।
गुनकृत सन्यपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।।
जोबन ज्वर केहि नहिं बलकावा। ममता केहि कर जस न नसावा।।
मच्छर काहि कलंक न लावा। काहि न सोक समीर डोलावा।।
चिन्ता साँपिन को नहिं खाया। को जग जाहि न व्यापी माया।।
कीट मनोरथ दारु सरीरा। जेहि न लाग घुन को अस धीरा।।
सुत बित लोक ईषना तीनी। केहि कै मति इन्ह कृत न मलीनी।।
यह सब माया कर परिवारा। प्रबल अमित को बरनै पारा।।
व्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचण्ड।
सेनापति कामादि भट दंभ कपट पाषण्ड।। (उत्तर० ७०।७१)

ऐसे प्रबल शत्रुओं से लड़ना क्या आसान है? और यही नहीं युद्ध के उपरोक्त संपूर्ण उपकरण हों और रथी निर्बल रहे तो क्या विजय संभव है? सबसे स्वस्थ तो रथी को ही होना चाहिए और यह स्वस्थता न केवल शारीरिक होनी चाहिए अपितु मानसिक स्वस्थता के अभाव में अध्यात्मजगत् में काम नहीं चल सकता। गोस्वामी जी ने उत्तर

काण्ड १२१ में मानस रोगों का वर्णन किया है जो द्रष्टव्य है। संनिपात, शूल, कुष्ट, क्षय आदि भयानक रोग हम सबको भीतर से जर्जरित कर दिए हैं फिर संसार शत्रु की विजय कैसे संभव है? गोस्वामी जी ने लिखा है कि एक भौतिक रोगवश तो लोगों की मृत्यु होती है और ये अनेक असाध्य व्याधियाँ हैं जिनकी कोई चिकित्सा लोक में नहीं। यदि कोई स्वस्थ होना चाहता है तो उसके लिए केवल एक ही औषधि है और वह यह है—

रामकृपाँ नासहिं सब रोगा । जौं एहि भांति बनै संयोगा ॥
सदगुर बैद बचन बिस्वासा । संयम यह न विषय कै आसा ॥
रघुपति भगति सजीवनि मूरी । अनूपान श्रद्धा मति पूरी ॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं । नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं ॥
(उत्तर० १२२।५-८)

श्रद्धापूर्ण भगवान् की भक्तिरूपी संजीवनी से ही इनका नाश संभव है। स्वस्थ होने का लक्षण यही है कि जब मन में वैराग्य रूपी बल बढ़े, सुमति रूपी क्षुधा बढ़ जाय, विषयों की आशारूपी दुर्बलता समाप्त हो जाय, और ज्ञानरूपी जल में स्नान करने की इच्छा प्रबल हो ऐसी स्थिति में साधक को स्वस्थ समझना चाहिए। ऐसा स्वस्थ साधक ही धर्मरथ पर आरूढ़ होकर सर्वत्र अबाध गति से विचर सकता है। उसे भौतिक या आध्यात्मिक किसी प्रकार की बाधा नहीं सता सकती।

भगवान् राम का विभीषण को रणक्षेत्र में दिया गया यह उपदेश न केवल विभीषण के लिए था अपितु आज भी वह हम सब का भला कर सकता है। अपने जीवन को ध्यानपूर्वक हम लोग देखें तो यह स्पष्ट होते देर न लगेगी कि जीवन के कितने महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर हम अपने अविवेक और प्रमाद से न केवल अपनी हानि उठाते हैं अपितु समष्टि की हानि करते हुए भी हमें जरा-सा संकोच नहीं होता। हमने अपनी स्थिति के विषय में कभी सोचा तक नहीं कि हम कितने दयनीय हैं, कितना अशान्त है हमारा भौतिक जीवन जहाँ अपसंचय के होते हुए भी हम सब तरह से दुखित हैं, खिन्न हैं। क्या ही अच्छा होता यदि हम लोग भी इस धर्म-रथ पर आरूढ़ होने का प्रयास करते हुए यह अनुभव करते कि धर्म-रथ किस सीमा तक हमारी भौतिक और आध्यात्मिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है। मुझे विश्वास है कि पाठक इसका पारायण करने के उपरान्त अवश्य ही अपने लिए कुछ उत्तम वस्तुओं का संग्रह कर सकेंगे। यदि हम धर्म-रथ के कुछ-एक गुणों को भी अपना सके तो 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' के अनुसार अपने को महान् भय से आसानी से बचा सकते हैं।

उर्दू बनाम हिन्दी (२)

डॉ० मोहन लाल तिवारी

तूतिए-हिंद ख़ुसरो की ज़बान को 'फ़ारसी-आमेज़' यानी फ़ारसी मिश्रित हिंदी कहते हैं। वे ही खड़ी बोली हिंदी और उर्दू के प्रथम साहित्यकार माने जाते हैं। उनका स्थान पुरानी हिंदी और उर्दू में उसी प्रकार का है, जैसा कि आधुनिक हिंदी और उर्दू में किशन-चन्दरका। भाषा की दृष्टि से हिंदी भी अंग्रेज़ी के समान समन्वयवादिनी है। जिस प्रकार वह प्राचीन काल में 'फ़ारसी-आमेज़' थी उसी प्रकार आजके युगमें 'अंग्रेज़ी-आमेज़' हो गई है। जब सुल्तानयुग में मुसलिम सूफ़ियों ने हिंदीमें लिखना-पढ़ना शुरू किया तो यह स्वाभाविक था कि देशी विषयवस्तु एवं दर्शन के साथ हिंदी साहित्य में विदेशी विषयवस्तु एवं दर्शन को भी स्वीकार किया जाता। हिंदी का प्रयोग साहित्य में अभी आरंभ ही हुआ था। साहित्यकी दृष्टि से आधुनिक फ़ारसी हिंदी से आगे और संपन्न थी, जिसमें अनेक अरबी प्रभाव भी आ चुके थे, क्योंकि आर्यदेश ईरान राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अरबों द्वारा परास्त किया जा चुका था। शेरशाह के पूर्व कबीर और समकालीन जायसी में आगत विदेशियों की भाषा फ़ारसी के अनेक प्रभाव – ख़ासकर प्रेम में विरह की अभिव्यंजना संबंधी भाव और प्रतीक—प्रकट हैं। कबीर से पूर्व के साहित्यकार—चाहे जो भी प्रामाणिक हों—अधिक से अधिक कुछ विदेशी शब्दों तक ही रह गए, पर उनके बाद सूफ़ियों ने ईश्वर की कल्पना नारी के रूपमें प्रस्तुत कर, हिंदी साहित्य में इश्क़-मजाज़ी और इश्क़-हक़ीक़ी का क्रम स्थापित कर विदेशी दार्शनिक पृष्ठ भूमि को व्यवस्थित कर दिया। माशूक या प्रियपात्र की कल्पना पुंल्लिंगवत् भी होने लग गई, जो 'आँसू' तक में मौजूद है—"वे सुमन नोचते रहते करते जानी अनजानी"। ये सारी बातें जहाँ एक ओर हिंदी में ली गईं, वहीं ज्यों की त्यों उर्दू में भी। इस दृष्टि से हिंदी-उर्दू ने विदेशी तत्त्वों में कोई भेद नहीं किया है।

दक्खिनी हिंदी को हिंदीके विद्वान उर्दू से ज्यादा हिंदी ही मानते हैं, जब कि सारा दक्खिनी साहित्य उर्दू की भाँति अरबी लिपि में लिखा गया है, सभी कविताएं अरबी छंदों में लिखी गई हैं। गद्य लिखने में बीच-बीच में क़ितअ़ और बैत (पद्य) लिखने का फ़ारसी तरीक़ा अपनाया गया है। दक्खिनी हिंदी के आरंभिक साहित्य का अधिकांश मुसलिम सूफ़ियों ने लिखा है, जिनसे दरबार के धार्मिक मुल्लाओं से सदैव खटपट रहा करती थी। जहाँ मुल्ला दमन और तलवार, बुतशिकन और काफ़िरों को नेस्त-नाबूद करने में यक़ीन करते थे, वहीं सूफ़ी प्रेम और हृदय-परिवर्तन तथा समन्वय में विश्वास रखते थे। यह अन्तर्विरोध वास्तव में अरबी और ईरानी (आर्य) संस्कृति के संस्कारों एवं परंपराओं का अन्तर्विरोध था जिसे हम बार-बार भूलते या भुलाते रहते हैं। यह हमें स्मरण रखना होगा कि ईरान या फ़ारस सांस्कृतिक दृष्टिकोण से अरब की अपेक्षा भारत के अधिक निकट है। उर्दू साहित्य भाव और वातावरण की दृष्टि से अरब से कम और फ़ारस (ईरान) से अधिक प्रभावित है। और, ये सारे प्रभाव हिंदी में भी मौजूद हैं।

वली औरंगाबादी तक (१७३० ई० तक) का सारा खड़ी बोली साहित्य चाहे वह नागरी लिपि में हो या अरबी लिपि में, एक ही है। वली के प्रभाव से मात्रात्मक अन्तर यही होता है कि एक किस्म के साहित्य में अरबी-फ़ारसी शब्द अपेक्षाकृत अधिक बढ़ा दिए गए, किंतु ये शब्द किसी न किसी रूप में, एक साथ न रहने पर भी, हिंदी में अपरिचित नहीं रहे, बल्कि हमारी हिंदी में भी प्रयुक्त होते रहे। खटकनेवाली बात एक ही हो सकती है कि कथाएं, उपकथाएं, नायक-नायिकाएं और नसीहत की बहुत सी बातें देशी न होकर विदेशी हैं। इसके लिए उर्दू भाषा और साहित्य को नहीं बल्कि राजनीतिक व्यवस्था और सामाजिक संगठन को जिम्मेदार ठहराना होगा। इतिहास के शाश्वत नियम के अनुसार राजनीतिक और सांस्कृतिक दासता में ऐसी बातें होती ही हैं। रीतिकाल में हिंदी साहित्य मुग़ल-प्रभावित घोर विलासिता की अभिव्यक्ति हो गया था, इसकी जिम्मेदारी हिंदी पर नहीं, राजनीतिक वातावरण और सामाजिक संगठन पर है। कहते हैं कि उर्दू में विलासिता का साहिप्य अधिक है, हिंदी में सूरदास से पद्माकर तक (एक-दो को छोड़कर), उर्दू को न्यायालय की भाषा घोषित किये जाने तक (१८३२ या ३५)—, हिंदी में क्या लिखा जाता रहा? कुल मिलाकर हिंदी-उर्दू में कोई भी भद नहीं है जहाँ दोनों में छूत-अछूत की लाइन खींची जाय या यह कहा जाय कि उर्दू-साहित्य की यह बुराई हिंदी में नहीं आने पाई है।

बिहारी, मतिराम, घनानंद, देव, आलम, ठाकुर और पद्माकर की नायिका, श्रृंगार, विरह, तड़प, नायक, प्रकृति वर्णन इत्यादि में और मीर, ज़ौक़, ग़ालिब, दाग़, जफ़र इत्यादि के आशिक़-माशूक़-इश्क़ में कोई भी गुणात्मक अन्तर नहीं है; वैसे ही जैसे आजकलके उपन्यासों में महिला पात्रों संबंधी पूरब-पश्चिम का कोई भी अंतर नहीं रह गया है। अगर १८५७ में दिल्ली के सबसे बड़े शायर गालिब को अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई शिकायत नहीं है और उसके खिलाफ़ एक भी शब्द कहने के लिए नहीं है, तो १८३२ ई० में मरे महाकवि पद्माकर की पूरी कविता में एक भी शब्द ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध नहीं दिखाई देता, जिनके मरने के तीन ही वर्ष बाद अंग्रेज़ी को भारत की शिक्षा में अनिवार्य विषय, और उर्दू को न्यायालय की भाषा का कानूनी रूप दिया गया। कौन दोषी है, कौन दोष मुक्त?

बीच के दौर में एक ही भाषा को दो प्रकार की साहित्यिक अभिव्यक्तियों का साधन बनाकर साम्राज्यवाद-प्रभूत साम्प्रदायिकता का इष्ट साधन किया गया, फलस्वरूप हिंदी-उर्दू के दो परस्पर विरोधी खेमें गड़ गए और दोनों का संचालन आज का हमारा लंदनवासी मित्र करता रहा। हिंदी-उर्दू साहित्य का यह एक अप्रिय किन्तु कटुसत्य है। इस पटाक्षेप के पश्चात् उर्दू साहित्य में कुछ ऐसी विभूतियाँ दिखाई पड़ती हैं, जिनका समस्त भारतीय साहित्य में गौरवपूर्ण स्थान है। नज़ीर अकबराबादी, किशनचन्दर, ख्वाजा अहमद अब्बास, साहिर लुधियानवी, जिगर मुहादाबादी, सज्जाद ज़हीर और रघुपत सहाय फ़िराक़ जैसे उच्चकोटि के साहित्यकारों ने जनता के जीवन को और साहित्य की प्रवृत्तियों को युगान्तरकारी मोड़ प्रदान किया है। बहुत माने में इनका युगीन साहित्य हिंदी साहित्य की तुलना में कहीं आगे है और नेतृत्व के पद पर है। जहाँ तक वैज्ञानिक विचारों एवं नए जीवन मूल्यों का प्रश्न है उर्दू साहित्यकार समस्त भारतीय साहित्य में किसी से कम जागरूक नहीं

हैं। आधुनिक हिंदी कविता की नई धारा में जहाँ हमारे प्रतिनिधि कवि श्री अज्ञेय जी जीवन को स्वर्ग की मरीचिका में भुलान की कोशिश में भूले हुए हैं और जनजीवन को छोड़कर आत्मवाद की दुहाई देने लगे हैं, वहीं साहिर लुधियानवी जैसे उर्दू के प्रतिनिधि कवि जन्नत को ज़िन्दगी में उतार लाने की हर कोशिश कर रहे हैं। इस विवेचन का तात्पर्य इतना ही है कि अच्छाई की दिशा में उर्दू नें आगे बढ़कर कदम रखा है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि साहिर और अज्ञेय की कविता को, अब्बास और जैनेन्द्र के उपन्यास को, कवि सम्मेलनों में फ़िराक़ और बच्चन को सामान्यतः एक ही प्रकार के लोग पढ़ते-सुनते और समझते हैं। प्रेमचन्द्र और किशनचन्दर के बारे में तो अभी तक निर्णय ही नहीं हो सका है कि वे उर्दू के साहित्यकार हैं अथवा हिंदी के।

कहा जाता है कि उर्दू ने शेर, क़ितअ, बैत, रुबाई, मसनवी, ग़ज़ल इत्यादि सभी अरबी-फारसी छंदों को स्वीकार कर लिया है, और वहीं तक सीमित भी रह गई है। इससे पूर्णतः इनकार नहीं किया जा सकता। दूसरी ओर अगर हम दक्खिनी हिंदी को हिंदी मानते हैं और अपना कहते हैं तो हमें यह भी स्वीकार करना होगा कि दक्खिनी हिंदी के सभी छंद, बिना अपवाद के, अरबी छंद हैं। हिंदी काव्य में सूफियों की पद्धति मसनवी (द्विपदी) पद्धति ही है। इस दृष्टि से भी हिंदी-उर्दू में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इस दिशा में आज की हिंदी अँग्रेज़ी की भी उतनी ही ऋणी है। हिंदी में अँग्रेजी छंद सॉनेट, ओड, लिरिक, ब्लैंकवर्स आज नहीं भारतेन्दु काल में ही अपना स्थान बना चुके थे (हिंदी काव्य पर आँग्ल प्रभाव—डॉ० रवीन्द्र सहाय वर्मा)। हिंदी की दूसरी शैली उर्दू भी इससे अछूती नहीं है। अँग्रेज़ी के नए अलंकार, जैसे मानवीकरण (परसानिफिकेशन)—'हे लाजभरे सौंदर्य ! बता दो मौन बने रहा हो क्यों ?'—प्रसाद, ध्वनि-अनुकरण (आनोमोटोपोइया)—"सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द सा 'चुप चुप चुप' है गूँजता सब कहीं"—निराला, अपना महत्वपूर्ण स्थान बना चुके हैं, जिनसे हम हिंदी को मुक्तकर या शुद्धकर कम नहीं कर सकते।

रही बात विचारधारा की तो जहाँ उर्दू साहित्य अरबी-फ़ारसी विचारों से प्रभावित है, वहाँ यह देखा जा चुका है कि हिंदी भी उनसे प्रभावित है। शासन-प्रणाली का साहित्य पर प्रभाव अनिवार्य होता है। वर्तमानयुग में उर्दू-हिंदी अथवा सभी भारतीय भाषाओं के साहित्य पर अँग्रेज़ी शासन के कारण शेक्सपीयर, मिल्टन, शेली, बायरन, मिल, लॉक, रूसो, वाल्टेयर, फ्रायड, डार्विन, मार्क्स, लेनिन और माओ आदि साहित्यकारों एवं विचारकों का भरपूर प्रभाव पड़ा है। आज के युग में या दो जातियों एवं राष्ट्रों के संपर्क के युग में कोई भी साहित्य बाह्य प्रभाव से अछूता नहीं रह सकता। अतः जहाँ उर्दू साहित्य पर बाह्य प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं, वहीं हिंदी पर वे एकदम स्पष्ट हैं। इस दृष्टि से दोनों में अन्तर नहीं किया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में उर्दू-हिंदी साहित्य को न सिर्फ़ एक दूसरे के निकट ले आना है, बल्कि दोनों का पूर्णतः समन्वय कर देना है। चूँकि दोनों भाषाएँ एक हैं, अतः दोनों के साहित्य को भी लिपि का अन्तर मिटाकर एक करने की आकस्मिक आवश्यकता राष्ट्र के सामने आ पड़ी है।

"(n,γ) रिकॉयल अभिक्रिया"

एस० पी० मिश्र
रसायन विभाग

यह केवल एक संयोग था कि प्रोफेसर हेनरी बेक्वेरेल ने (Henri Becqurel) सन् 1895 ई० में रेडियो सक्रियता का आविष्कार किया। फिर तो परमाणु-संरचना की जानकारी हेतु दुनियां की तमाम प्रयोगशालाएँ व्यस्त हो गयीं। इलेक्ट्रॉन एवं प्रोटॉन पदार्थ के मूलभूत कण माने जाने लगे। सन् 1919 में प्रो० रदरफोर्ड ने सैद्धान्तिक तौर पर एक और मूलभूत कण की कल्पना किया जिसका आविष्कार जैम्स चैंडविक ने सन् १९३२ ई० में किया और उसका नाम न्यूट्रॉन रखा गया। उन्हीं दिनों प्रो० एनरिको फर्मी (Prof. Enriko Fermi) न्यूट्रॉन के विविध गुणों की जानकारी के लिए प्रयोग कर रहे थे। सन् 1934 ई० में वे और उनके अन्य सहयोगियों ने एक ऐसी नाभिकीय अभिक्रिया का आविष्कार किया जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हुआ। आगे चलकर इस नाभिकीय अभिक्रिया का नाम दिया गया—'(n,γ) रिकॉयल अभिक्रिया'। इस अभिक्रिया में न्यूट्रॉन द्वारा टार्गेट (Target) नाभिक पर बमवारी (Bombardment) द्वारा रेडियोसक्रिय समस्थानिक की उत्पत्ति होती है, जिसका परमाणुभार उस परिलक्षित परमाणु से एक इकाई अधिक होता है। साथ ही γ-किरणें भी मुक्त होती हैं। संवेग अविनाशिता के सिद्धान्त (Principle of Conservation of Momentum) के परिणाम स्वरूप परिलक्षित परमाणु अपने मौलिक यौगिक से 'रिकॉयल अभिक्रिया' द्वारा अलग हो जाता है और रेडियो समस्थानिक में परिणत हो जाता है। इसी कारण इसे '(n,γ) रिकॉयल अभिक्रिया' कहते हैं।

जीकार्ड-चामर्स अभिक्रिया

रेडियो समस्थानिकों को प्राप्त करने के लिए यों तो अनेक नाभिकीय अभिक्रियायें उपयोग में हैं, परन्तु (n,γ) विधि अपना एक विशेष महत्त्व रखती है। चूँकि इस विधि में टार्गेट नाभिक का ही रेडियो समस्थानिक प्राप्त होता है; अतः समस्थानिकों के पृथक करने की विधि कठिन हो जाती है। इंगलैंड के एल० जीकार्ड और टी०ए० चामर्स ने सन् 1934 ई० में एक ऐसी विधि की खोज की जिससे रेडियो समस्थानिक को टार्गेट अणुओं (अणु जो टार्गेट नाभिक के संयोग में हैं) से एक विशिष्ट परिणाम में मुक्त रूप में पाया जा सकता है। उन लोगों ने प्रदर्शित किया कि पानी अथवा पानी के साथ थोड़ा-सा आयोडीन को वाहक (Carrier) के रूप में प्रयोग करके, न्यूट्रॉन-विकिरीत इथिल आयोडइड से रेडियो सक्रिय आयोडीन—जिसकी उत्पत्ति (n,γ) रिकॉयल अभिक्रिया द्वारा हुई है—की अधिकांश मात्रा अलग की जा सकती है।

जीकार्ड-चामर्स ने इथिल-आयोडाईड पर ही अपना सर्वप्रथम प्रयोग किया था। सिद्धान्त को समझाने के लिए उन्हीं का प्रयोग यहाँ संक्षिप्त रूप में दिया जा रहा है: इथिल

आयोडाईट (I^{127} समस्थानिक) को मन्द न्यूट्रॉनों द्वारा विकीरित कराया गया जिसके परिणाम स्वरूप I^{128} प्राप्त हुआ। इस I^{128} को थोड़े से आयोडीन 'वाहक' से युक्त क्षारीय-जलीय विलयन द्वारा अलग किया गया। पूर्ण क्रिया को निम्न रूप में प्रदर्शित कर सकते हैं।

(*i*) I^{127} का विकिरण (इथिल आयोडाईड)·········इथिल आयोडाईड (I^{127}) न्यूट्रॉन
↓ ↓
(*ii*) I^{128} नाभिक की उत्पत्ति·······················इथिल आयोडाईड ($*I^{128}$)
↓ ↓
(*iii*) γ-किरणों का मुक्त होना और 'रिकॉयल-अभिक्रिया'···इथिल रेडिकल + $\gamma + *I^{128}$(तीव्र)
↓ ↓
(*iv*) I^* का सन्निकट पदार्थों से क्रिया················$*I^{128}$ (तीव्र) + इथिल आयोडाइड
जीकार्ड-चामर्स (सन् 1934 ई०)······ { इथिल रेडिकल + आयोडीन (I^{128})
अन्य रेडिकल + हाइड्रोजन आयोडाइड (I^{128})

अभिक्रिया की सफलता की शर्तें

जीकार्ड-चामर्स अभिक्रिया की सफलता निम्न शर्तों पर निर्भर है :

1—रिकॉयल ऊर्जा इतनी अधिक होनी चाहिए कि वह रासायनिक बन्धन को तोड़ सके।

2—रिकॉयल परमाणु पुनः क्रिया करके मौलिक यौगिक की पुनरोत्तरपति किसी महत्त्वपूर्ण मान में न कर सके।

3—परमाणु के प्रत्येक सम्भव रासायनिक प्रकार किसी महत्त्वपूर्ण परिमाण में अदल-बदल (Exchange) न कर सकें।

4—रेडियोसमस्थानिक—जिसकी उत्पत्ति रिकॉयल क्रिया द्वारा हुई है—जो एक नये यौगिक के रूप में आ चुका है, उसे मौलिक यौगिक से अलग करने के लिए अपेक्षाकृत एक सरल विधि उपलब्ध हो।

अभिक्रिया का ऊर्जा आधार

किसी नाभिक पर (n, γ) अभिक्रिया के उपरान्त लगभग 10^{-13} सेकेण्ड के अन्दर ही γ-किरणें मुक्त होती हैं। इन γ-किरणों की ऊर्जा एक न्यूट्रॉन के बन्धन ऊर्जा के लगभग बराबर होती है, जिसका मान लगभग 6-8 मि० ई० वो० (Million Electron Volt) होता है। γ-किरणों के मुक्त होते ही संवेग की अविनाशिता के लिए नाभिक रिकॉयल करेगा जिसके परिणाम स्वरूप 'रिकॉयल ऊर्जा' मुक्त होती है। 'रिकॉयल ऊर्जा' परमाणुओं की बन्धन ऊर्जा से साधारणतया सदैव ही अधिक होती है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण निम्न गणनाओं द्वारा हो जायगा। मान लीजिए, γ-किरण की ऊर्जा $= E_\gamma$ है। आईन्सटाइन के सिद्धान्त के अनुसार $E_\gamma = h\nu$ होगा जबकि $h =$ प्लैंक-स्थिरांक (Planch's Constant), $\upsilon =$ γ-किरण की आवृत्ति है। अब यदि रिकॉयल-नाभिक का 'संवेग' $= P$ है तो,

$$P = mV = h\upsilon/c = E\nu/c$$

अतः 'रिकॉयल-ऊर्जा' $= E_R = \frac{1}{2} mV^2 = P^2/2m = \frac{E^2\gamma}{2mc^2} = \frac{E^2\gamma}{18{\cdot}62m}$

जब कि, m=रिकॉयल नाभिक की मात्रा, V=उसी नाभिक का वेग और c=प्रकाश का वेग (3×10^{10} सेन्टीमीटर प्रति सेकेण्ड) है।

उपर्युक्त गणनाओं द्वारा स्पष्ट है कि परमाणुओं को न्यूट्रॉनों द्वारा प्राप्त ऊर्जा बन्धन-ऊर्जा से अधिक नहीं है। अतः 'रिकॉयल-ऊर्जा' ही (n, γ) अभिक्रिया के लिए उत्तरदायी है। जैसा कि बताया जा चुका है कि न्यूट्रॉन द्वारा समेकन क्रिया से प्राप्त ऊर्जा का मान 6 से 8 मि॰ ई॰ वो॰ ही होता है जो γ-किरण-ऊर्जा के रूप में कई भागों में मुक्त होता है। परन्तु 'रिकॉयल-ऊर्जा' का मान सदैव ही अधिक होता है।

साधारणतया E_R बंध-विदार (Bond Rupture) के लिए पूर्णतया काम में नहीं आता है, क्योंकि उसका कुछ अंश मौलिक यौगिक की गत्यात्मक ऊर्जा के रूप में परिणत हो जाता है। रिकॉयल परमाणु की मात्रा (m) अवशिष्ट अणु (Remainder) की मात्रा (m') से जितनी ही कम होगी, उतनी ही बंध-विदार की संभावना अधिक रहेगी।

मन्द न्यूट्रॉन

अभिक्रिया की कुछ परिस्थितियों में रेडियोसमस्थानिक की उत्पत्ति नहीं होती थी किन्तु γ—किरणों मुक्त होती थीं। निरीक्षणों से स्पष्ट हुआ कि अभिक्रिया की असफलता तीव्र न्यूट्रॉनों के कारण है। अतः यह कल्पना की गयी कि तीव्र न्यूट्रॉनों की अपेक्षा मन्द-न्यूट्रॉन (Slow or Thermal Neutrons) अभिक्रिया के लिए अधिक उपयुक्त हैं। बाद में यह भी स्पष्ट हो गया कि मन्द न्यूट्रॉनों द्वारा प्रायः सभी परमाणुओं में रिकॉयल अभिक्रिया उत्पन्न की जा सकती है।

विखण्डन से प्राप्त तीव्र न्यूट्रॉनों को हल्के नाभिकों द्वारा प्रत्यास्थटक्करों (Elastic Collisions) से मन्द न्यूट्रॉनों की प्राप्ति होती है। इस कार्य के लिए हाइड्रोजन नाभिक सर्वोत्तम पाया गया है, क्योंकि इसकी मात्रा भी लगभग न्यूट्रॉन के बराबर होती है; जिसकी पुष्टि गणित की सहायता से की जा सकती है। न्यूट्रॉनों को मन्द करने के लिए पानी एवं पैरेफिन—जिनमें हाइड्रोजन परमाणुओं की बहुलता होती है—अधिक उपयोग में लाये जाते हैं।

न्यूट्रॉन स्रोत

बहुत से हल्के तत्त्वों पर आल्फा कणों की बम बारी द्वारा न्यूट्रॉन विमुक्त होते हैं। इसे (α, n) प्रक्रिया कहते हैं। अन्य कणों जैसे प्रोट्रॉन, ड्यूट्रॉन, न्यूट्रॉन द्वारा भी तत्त्वों पर बमवारीं द्वारा न्यूट्रॉनों की प्राप्ति हो सकती है। परन्तु पहली अर्थात् (α, n) विधि अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस विधि में एक रेडियोसक्रिय नाभिक जैसे रेडियम, रैडॉन, पोलोनियम द्वारा विमुक्त आल्फ़ा कण हल्के तत्त्वों जैसे बेरिलियम, बोरॉन, लीथियम पर बमबारी करते हैं जिसके फलस्वरूप न्यूट्रॉन मुक्त होते हैं। अभिक्रिया को निम्नरूप से प्रदर्शित कर सकते हैं : बेरिलीयम + आल्फा-कण → कार्बन—12 + न्यूट्रॉन

चूँकि उपरोक्त प्रक्रिया में रेडियम और बेरिलियम का मिश्रण उपयोग में लाया जाता है, अतः इसे रेडियम-बेरिलियम (Ra–Be) न्यूट्रॉन स्रोत कहते हैं। उपरोक्त न्यूट्रॉन स्रोत अन्य स्रोतों की अपेक्षा अधिक उपयोगी भी है क्योंकि इस स्रोत का आयुकाल बहुत अधिक है। रेडियम का अर्धआयु काल लगभग 1.62×10^3 वर्ष है, अर्थात् इतने वर्षों के बाद रेडियम (Ra^{226}) की आल्फा-सक्रियता लगभग आधी हो जायगी। स्रोत की न्यूट्रॉन सक्रियता रेडियम् की आल्फा-सक्रियता पर निर्भर होती है। बेरिलियम धातु और रेडियम-ब्रोमाइड के मिश्रण को एक अल्युमिनियम की संपुटिका (Capsule) में रखकर एक बड़े से पैरेफिन ब्लाक के बीच में रख देते हैं। न्यूट्रॉन अनवरत निकलते रहते हैं।

उपयोगिता

स्पष्ट हो चुका है कि (n, γ) अभिक्रिया द्वारा किसी भी परमाणु का रेडियोसमस्थानिक उत्पन्न किया जा सकता है। रेडियोसमस्थानिक को उसके किसी रासायनिक यौगिक के रूप में प्राप्त करते हैं। जैसे आयोडीन को सोडियम आयोडाईड, फासफोरस को फासफोरिकएसिड, कोवाल्ट को कोवाल्टक्लोराईड, सल्फर को सल्फ्यूरिक एसिड के रूप में प्राप्त करते हैं। इसी विधि द्वारा एन्टीमोनी (Sb^{124}), आर्सेनिक (As^{76}), ब्रोमीन (Br^{82}), ब्रोमीन (Br^{80m}), ब्रोमीन (Br^{80}), क्लोरीन (Cl^{38}), क्रोमियम (Cr^{51}), मैंगनीज (Mn^{56}) इत्यादि सैकड़ों समस्थानिक प्राप्त किए जा रहे हैं जो चिकित्सा विज्ञान, विज्ञान, टैक्नोलोजी, कृषिविज्ञान, शोधकार्य आदि में प्रयुक्त हैं।

अनेक आवश्यकताओं के लिए रेडियोसमस्थानिक अधिकांशतः उपरोक्त प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त किए जाते हैं। 'भाभा एटॉमिक रिसर्च सेन्टर, ट्राॅम्बे, वाम्बे' द्वारा जो रेडियोसमस्थानिक विभिन्न संस्थाओं को भेजे जाते हैं वे प्रायः इसी विधि द्वारा अप्सरा एवं कनाडा इंडियारिऐक्टर में तैयार होते हैं। भारत में लगभग 700 संस्थायें रेडियो—समस्थानिकों का उपयोग कर रही हैं। कुछ संस्थायें तो अपनी आवश्यकता के कुछ रेडियोसमस्थानिक लैब्रोटरी न्यूट्रॉन स्रोत से तैयार कर लेती हैं। साथ ही इस अभिक्रिया पर नित नूतन प्रयोग हो रहे हैं जो 'परमाणु ऊर्जा के शांतिपूर्ण उपयोग' के ही अंश हैं।

सेव्य और सेवक का कर्त्तव्य

पं० चन्द्रबली त्रिपाठी

सेवक का कर्त्तव्य होना चाहिए कि अपने सेवा-भार से अपने सेव्य को इस तरह प्रसन्न करे कि जैसे श्री हनुमान जी ने भगवान् रामचन्द्र जी को प्रसन्न किया था।

वह सेवक अयोग्य है, जो अपने सेवा-भार से अपने सेव्य (स्वामी) अधिकारी को प्रसन्न न कर सके। और वह स्वामी (सेव्य) अधिकारी भी अयोग्य है, जो अपने अयोग्य सेवक को योग्य न बना सके।

भगवान् रामचन्द्र जी अपनी आँखों में प्रेम के आँसू भर गद्‌गद् वाणी से सेवक शिरोमणि हनुमान जी के प्रति कहते हैं :—

"सुनु कपि तोंहि समान उपकारी। नहीं कोऊ सुर नर तनुधारी।।
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होई न सकत मन मोरा।।
सुन सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। करि विचार देखेउ मन माहीं।।"

आज्ञाकारी सेवक स्वामी से बड़ा होता है।

"साहब ते सेवक बड़ो जो निज धरम सुजान।
राम बांधि उतरे उदधि लांघि गए हनुमान।।"

वह सेवक स्वामी से बड़ा है, जो अपने धर्म-पालन में निपुण है। भगवान् रामचन्द्र जी तो पुल बाँध कर समुद्र पार उतरे, परन्तु हनुमान जी उसी समुद्र को लांघ कर चले गए।

अपने अधीनस्थ कर्मचारी सेवक को आलसी, प्रमादी, सुस्त, मूर्ख, कामचोर, चोर, भ्रष्टाचारी और नशेबाज न बनने देकर अपने प्रेमपूर्ण बर्ताव और उत्तम आदर्श से सदाचारी, व्यसनहीन, कर्त्तव्यपरायण, बुद्धिमान और आज्ञाकारी बना देना ही योग्य अधिकारी का कर्त्तव्य है। जब सेव्य (अधिकारी) प्रसन्न होकर सेवक का सम्मान करता है तो सेवक प्रसन्न होकर अपने प्राणों की बलि देने को तैयार रहता है।

अहंकारी मनुष्य किसी का सम्मान करना नहीं चाहता। वह सबके साथ रुखा व्यवहार करने में ही अपना गौरव समझता है।

अपनी अधीनता में काम करने वाले किसी भी कर्मचारी, सेवक का मन, वाणी या शरीर से कभी अपमान नहीं करना चाहिए। मन में किसी को नीचा समझना, शरीर से अनुचित बर्ताव करना या गर्वपूर्ण आकृति बना लेना और वाणी से किसी को अपमानजनक शब्द कहना सर्वथा अनुचित है। यह सदा याद रखना चाहिए कि तलवार का घाव मिट जाता है, पर जबान का नहीं मिटता।

मनु महाराज कहते हैं :—

"नारुन्तुदः स्यादातोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
यथास्योद्विजते वाचा ना लोक्यं तामुदीरयेत्।।"

अत्यन्त पीड़ित होने पर भी किसी को मर्मभेदी वचन न कहे, दूसरे के द्रोह के काम में वुद्धि न लगावे और जिस जवान से किसी को उद्वेग हो, ऐसी स्वर्ग से भ्रष्ट करने वाली कड़ी जवान किसी से न कहे। हमेशा सवका भला चाहे, मीठी और हितकारी वाणी वोले और हँसमुख रहे।

कभी कोई दण्ड देना नितान्त आवश्यक जान पड़े तो यह द्रोहबुद्धि से न देकर उसी स्नेहभाव से देना चाहिए, जिस भाव से स्नेहमयी जननी अपने पुत्र को देती है। परन्तु पहले अपने आचरणों से सेवक के हृदय में यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न कर देने की कोशिश करनी चाहिए, जिससे वह आपको माता के समान प्यार करने वाला समझ सके।

यह समझ रखना चाहिए कि कोई व्यक्ति शुद्ध आजीविका के लिए हमारे यहाँ काम करके पैसा लेता है; इससे वह हमसे नीचा नहीं हो गया। जैसे हम हैं, वैसे वह भी है।

इसका अभिप्राय यह नहीं है कि अपने अधीनस्थ कर्मचारी को किसी काम के लिए कहने में ही उसका अपमान मानकर उसे आलसी, प्रमादी, सुस्त, रोगी, मूर्ख और आज्ञा का उल्लंघन करने वाला वना दिया जावे। उसका सच्चा सम्मान इसी में है कि वह हमारे साथ रहकर कर्त्तव्य-परायण, व्यवस्था मानने वाला, चुस्त, बुद्धिमान, सदाचारी, आज्ञाकारी वने जिससे उसकी उन्नति का पथ और प्रशस्त हो जाय। इस बात का ध्यान रखा जाय कि उसके साथ सम्मानपूर्ण वर्ताव हो। सम्मान कोरा ही नहीं होना चाहिए; उसको पेट भरने योग्य पूरी मजदूरी भी अवश्य ही मिलनी चाहिए। महर्षि वाल्मीकि जी डाकू थे, परन्तु नारद जी ने उनके डाकूपना को छुड़ा कर महर्षि वाल्मीकि वना दिया।

अहंकाररहित होकर सरलता के साथ दूसरों को जो सम्मान दान दिया जाता है, उससे बहुत ही लाभ होते हैं। हम जिसका सम्मान करते हैं, उसका विषाद मिटता है, उसके हृदय में सुख होता है और उसकी आत्मा आशीर्वाद देती है।

"परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तुं प्राणान्सुनिश्चिताः।"

स्वामी और सेवक परस्पर एक दूसरे को समझने वाले हों तो सेवक प्रसन्न होकर अपने प्राण भी अर्पण करने को तैयार रहते हैं।

यथा प्रभुकृत्तान्मानाद्युध्यन्ते भुवि मानवाः।
न तथा बहुभिर्दत्तैर्द्रविणैरपि भूयते॥

संसार में लोग अपने स्वामी से सम्मान पाकर जितने उत्साह से लड़ते हैं, उतना बहुत-सा धन देने से भी नहीं लड़ते।

अतएव सम्मान द्वारा काम लेने की शैली ही उत्तम है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का विश्वनाथ मन्दिर महामना मालवीयजी की भावनाओं का जाग्रत स्वरूप

शिवधनी सिंह

शास्त्रों में कहा गया है कि "मंत्र द्रष्टारो ऋषय:" ऋषिगण मंत्र द्रष्टा होते हैं। मालवीयजी महाराज अपने समय के तपः पूत ऋषि कल्प थे, जिन्हें कुछ दशक आगे की घटनाओं का सम्यक् ज्ञान था। उन्होंने समय-समय पर कुछ ऐसी बातों का उल्लेख किया था जो आगे उनके कथनानुसार प्रत्यक्ष देखने में आयीं। भारतीय स्वातंत्र्य के विषय में भी उन्होंने सन् १९३२ में स्पष्ट रूप से यह भाव व्यक्त किया था कि "निश्चय रूप से दस वर्षों के भीतर हम स्वराज्य ले लेंगे, उसे कोई शक्ति रोक नहीं सकती है"। यह भी कहा था कि "मेरे जीवन काल में ही स्वराज्य हो जायगा।" सन् १९४२ की घटना ने स्वराज्य प्राप्ति का संकेत कर दिया था। तात्पर्य यह कि महामना मालवीयजी युग-प्रवर्तक, समर्थ एवं लोकोत्तर महापुरुष थे। वे समय की गतिविधि के ज्ञाता थे।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना का उद्देश्य भी उनके लोकोत्तर भावनाओं का ही प्रतीक है। सर्वसाधारण को,—जगत को प्रकाश मिले, यही उनका लक्ष्य था—वह प्रकाश अनादि काल से सर्व विद्या की राजधानी काशी से ही प्राप्त होता आया है, अतः अनेक बाधाओं के होते हुए भी उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना काशी में की, जहाँ के स्नातकों से जगत को प्रकाश मिले—"एतद्देश प्रसूतस्य सकाशा दग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षैरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः॥" किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति तब तक नहीं होगी जब तक भगवान् विश्वनाथ की प्रतिष्ठा विश्वविद्यालय के मध्य में न होगी। मालवीयजी महाराज को अनुभव था कि भगवान् शंकर जो विरोधी तत्त्वों से लिप्त है, आशुतोष है और सब समस्याओं के समाधान के स्त्रोत हैं अतः इस शिक्षा मन्दिर में एक विशाल मन्दिर में श्रीविश्वनाथजी की स्थापना अनिवार्य है जो सदा विश्वविद्यालय की रक्षा करते रहें।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि महामना मालवीयजी का परिवार परम वैष्णव, घर में राधा-कृष्ण का निवास, उनकी निरन्तर पूजा-अर्चा स्वयं महराज भी करते थे और घर से बाहर जाने-आने पर बराबर दर्शन करते थे तथापि यह समझते थे कि आशुतोष भगवान् शंकर की आराधना से अत्यन्त उलझी हुई समस्याओं का समाधान शीघ्र हो जाता है। वे काशी विश्वनाथ मन्दिर में जब पाठ करते थ तो उन्हें ऐसा आभास मिलता था कि भगवान् उनके सम्मुख खड़े होकर अपने भक्त की प्रार्थना पर प्रसन्नतापूर्वक विचार कर रहे हैं।

इस प्रसंग में एक प्रत्यक्ष घटना का उल्लेख करना उचित होगा। विश्वविद्यालय पर प्रायः १६ लाख रुपये का ऋण हो चुका था—इससे आगे नियमानुसार सरकार से ऋण नहीं प्राप्त हो सकता था। मालवीयजी महाराज की इच्छा थी कि इस ऋण का भुगतान भारत

सरकार को ही करना चाहिये क्योंकि विश्वविद्यालय अपने यहाँ से इंजीनियर तैयार कर सरकार की सहायता करता है। महाराज ने इस ऋण-मुक्ति के लिये घोर परिश्रम किया। तत्कालीन केन्द्रीय शिक्षामंत्री सर गिरजाशंकर वाजपेयी से व्यक्तिगत अनुरोध किया किन्तु सद्यः कुछ फल नहीं निकला। कुछ दिनों बाद इस ऋण मुक्ति के लिए दिल्ली जाने का निश्चय किया। बाहर जाने के पहले बाबा विश्वनाथ की पूजा आवश्यक थी। उन्होंने गर्भ मन्दिर में घंटों 'महादेव-माहात्म्य' का पाठ किया—उस समय उनका शरीर ताम्र वर्ण का हो चला था, नेत्रों से नीर वह रहे थे, दोपहर की आरती का समय हो चला था, मन्दिर के पुजारी आरती के लिए व्यग्र हो उठे थे, किन्तु महाराज के उस अवस्था में किसका साहस था जो कुछ कह सके। पाठ समाप्त होते ही उन्होंने कहा—"आसन समेट लो, बाबा ने मेरी प्रार्थना सुन ली और मुझे ऋण-मुक्त कर दिया।"

अपने बंगले पहुँचकर भोजनोपरान्त दिल्ली की गाड़ी पकड़ने के लिए बनारस छावनी स्टेशन पहुँचे। गाड़ी दो घंटे लेट थी। विश्रामालय में विश्राम करने लगे। वहाँ उनके पुत्र पं० गोविन्द मालवीय पहुँचे और कहा—"बाबू जी आप दिल्ली न जाओ, यह तार है, सरकार रुपया नहीं देगी"। मालवीय जी महाराज ने कहा—"तार को फाड़कर फेंक दो, सरकार के कहने से क्या होता है जब 'बावा' ने हमें ऋण मुक्त कर दिया है।" महाराज ने दिल्ली की यात्रा की और उसी यात्रा में भारत सरकार को तीन किस्तों में ऋण मुक्ति की घोषणा करनी पड़ी।

इसी दृढ़ विश्वास और भावना से मालवीय जी महाराज ने विश्वविद्यालय के मध्य में विशाल मन्दिर की स्थापना करायी। मन्दिर स्थापना के समय महाराज ने स्वनिर्मित श्लोक ताम्र पर लिखवाकर मन्दिर की नींव में रखवाया। इससे उनकी भावनाओं और कामनाओं की झलक स्पष्ट रूप से मिलती है। वे श्लोक इस प्रकार है :—

ॐ नमः शिवाय

नूतन विश्वनाथ मन्दिर स्थापना विश्वविद्यालय, काशी

प्रसादाद्विश्वनाथस्य कश्यां भागीरथी तटे।
विश्वविद्यालयः श्रेष्ठो, हिन्दूनां मानवर्धनः ॥
हिन्दू राज्याधिपतिभिर्धनिकैर्धार्मिकैस्तथा।
मिलित्वा स्थापितः सद्भिर्विद्याधर्मं विवृद्धये ॥
यत्र वेदाः सवेदांगाः धर्मशास्त्रं च पावनम्।
इतिहासं पुराणं च मीमांसा न्याय विस्तरः ॥
सांख्य योगौ च वेदान्त आयुर्वेदः सुखावहः।
गान्धर्ववेदो मधुरो धनुर्वेदश्च नूतनः ॥
आंग्ल दण्डविधानं च, दायभागादि संयुतं।
पाश्चात्या विविधा विद्यास्तथा लोक हिताः कलाः ॥

पाठ्यन्ते विधिवत्प्रेम्णा, विज्ञानानि बहूनि च ।
साहायार्थं च छात्राणां दीयन्ते वृत्तयस्तथा ॥

सर्वं प्रान्त समायातांश्छात्राः विद्याभिलाषिणः ।
वसन्ति सुखिनो यत्र पुरा गुरुकुले यथा ॥

नित्यं निषेविते यत्र, व्यायामः शक्तिवर्धनः ।
व्याख्यानैश्च कथाभिश्च धर्मोयत्रोपदिश्यते ॥

तस्मिन् विद्यालये स्फीते विद्यार्थिजन संकुले ।
स्थाप्यो देवालयो दिव्यः लोक मंगल काम्यया ॥

दर्शनै यत्र सम्प्राप्य विश्वनाथस्य मानवाः ।
श्रुत्वा पुण्य कथा धर्मे श्रद्धां भक्तिमवाप्नुयुः ॥

विश्वविद्यालयाध्यक्षैरित्थं कृत विनिश्चयैः ।
श्रीविश्वनाथ प्रीत्यर्थं श्रद्धयाप्रार्थितोयतिः ॥

विद्याव्रत तपोभूतिस्तपोनिधिरितिश्रुतः ।
कृष्णाश्रम स्वामिवर्यः सर्वभूतहितेरतः ॥

यो वै पुण्ये हिमगिरौ देशे गंगोत्तरीयके ।
सेविते द्विजशार्दूलैर्वेदवेदांग पारगैः ॥

वसन् द्वादश वर्षाणि, जठी मौनी दिगंबरः ।
भगवध्यान निष्ठात्मा ह्यचरदुश्चरं तपः ॥

विश्वनाथ पुरीमेत्य दर्शनात्पावयं जनान् ।
तुरंग गज रत्नेन्दु मितेब्दे वैक्रमे शुभे ॥

चैत्रमास्यसिते पक्षे चतुर्थ्यां शनिवासरे ।
प्राप्यानुज्ञां भगवतः शिलामेतां न्यवेशयत् ॥

सर्वदोषहरः शंभुः वरदो भक्त वत्सलः ।
प्रीणातु कर्मणानेन कल्याणं च तनोतु नः ॥

"शिवमस्तु, शुभमस्तु, मंगलमस्तु ॥"

मालवीय जी महाराज सत्य संकल्प थे । उनमें इच्छा सिद्धि थी । मन्दिर की स्थापना यद्यपि उन्होंने अपने समय में ही कराई थी किन्तु उनमें प्राण प्रतिष्ठा उनके निधन के १२ वर्ष बाद सन् १९५८ में हो सकी । तब से विश्वविद्यालय द्वारा मन्दिर में सविधि पूजा, हवन तथा अनुष्ठान आदि नियमित होता है ।

हिन्दू विश्वविद्यालय महाकाव्यम्

द्वितीयः सर्गः

पं० मधुसूदन शास्त्री

महेश देवेश दिनेश वन्दितो गणाधिपस्ताज्जयमंगलाय नः ।
यमृद्धिसिद्धी व्यजतः सुखानिलैः सुवर्णमाणिक्यनिविष्ट चामरै ॥ १ ॥

गुर्णद्धिवृद्धः सहि मालवीयो धियां निधिं सुन्दरलालमित्रम् ।
विद्यालयस्थापन कार्य साह्ये स्वामंत्रयामास विचारणाय ॥ २ ॥

अतः परं दुःखदमस्ति किं भो ! यदग्रजो विश्वगुरुः समासीत् ।
तत्रत्यलोको निज शिक्षणार्थं वाह्येषु देशेषु गतिं विधत्ते ॥ ३ ॥

स्वं स्वं चरित्रं विमलं विधातुं यत्रत्यशिक्षामनु संग्रहीतुम् ।
विश्वं समस्तं यदिहाजगाम तद्भारतं ह्यद्य कथं नु जातम् ॥ ४ ॥

नालन्दविक्रमशिलानदियासुधाराविद्यालयेषु बहुतक्षशिलादिकेषु ।
चाणक्य पाणिनिपतञ्जलिशंकराक्षाः येप्यध्यगुः कणकुमारिलमण्डनाद्याः ॥५॥

ते, तद्विधास्तदनुयायिन एव बालाश्चेत्स्युः शुभं तदिह सम्प्रति वर्त्तमाने ।
स्यात्तेन सुस्थिरमतिः किल लोक वर्गः स्वातन्त्र्यलब्धिरथ भाग्यसमृद्धिरेतु ॥६॥

विद्यालयं तादृशमेव तस्मात्संस्थापये विश्वहिताय सम्यक् ।
यत्र स्युरेवं सकलेऽत्र भारते हिन्दूत्वसंचारणमौलिशिष्याः ॥ ७ ॥

समस्तविद्याधिगमः सुखेन सर्वेभ्य एवास्तु मम प्रयत्नः ।
प्राच्यप्रतीच्योभय मेलनेन विद्या सुपूर्णा भवतान्महेहा ॥ ८ ॥

ततः स चक्शे नहि कार्यं जातं विचार मात्रेण समृद्धि मीयात् ।
शस्त्रं विना युद्धकृतौ कथं स्याज्जयः सुविद्वन् ! ननु भावनीयम् ॥ ९ ॥

सुपुष्कला भूमिरपेक्ष्यते धनं सुपुष्कलं साधन मत्र सद्मनाम् ।
ततोऽनु विद्यालयनिर्मितेः कथां विधेहि, सन्निर्णय, नन्द, तत्परम् ॥१०॥

राज्ञः समाज्ञा, समितेर्विधानं प्रतिष्ठिता नागरिकाः सदस्याः ।
भवेयुरेवं यदि वाञ्छितं स्या दतो नु ? पूर्वं किमहं वदेयम् ॥११॥

सुशुश्रुवान् तद्वचनं, न मोहं समारिवान् यत्स परं विदुष्मान् ।
शास्त्रस्य लोकस्य विधिं विविद्वान् विचारणां लोक हिताय जग्मिवान् ॥१२॥

सत्प्रेरणोत्साहन दान काले मित्रं विरुद्धं समुवाद, तत् किम् ।
उत्साहदीपं बुधमालवीयं पस्पर्श नैराश्यतमो न किन्तु ॥१३॥

मित्रस्य तादृग्वचनश्रवान्ते गुरुं प्रपेदे वहुचिन्तयाढ्यः ।
भट्टादिमाचार्यवरं प्रधान मादित्यरामं विदुषां वरेण्यम् ॥१४॥

उवाद वाक्यं सुहृदा यथोक्तं विद्यालय स्थापन सत्प्रसंगे ।
ग्लानिर्गुरो? नो मयि कापि, सम्यग्वदामि, साह्यं विदधात्विदानीम् ॥१५॥

त्वमेव विद्वन् ? मम साम्प्रतं नौः, विद्यालय स्वर्धुनितारणर्थम् ।
फलोदयो येन भवेत्स्वकर्मण स्तदेव साध्यं वद लोक मंगलम् ॥१६॥

सादित्यराम इति वाक्यमुवाद मिष्टं शिष्योऽसि मे प्रियतमः शृणु मालवीय ?
स्तोत्रं सुतोषकरमाहुरिहेश्वरीणां देवासुरेश्वर नरेश्वर साध्यपानाम् ॥१७॥

सूर्यं सौनत्येन, विष्णुं हृद्यत्वेन, मित्रं सौन्नत्येन, रुद्रं दौर्ब्रत्येन ।
इन्द्रं प्रक्रीडेन, वायुं सौवल्येन, साध्यान् प्रामोदेन, देवाँस्त्वं पिप्रीहि ॥१८॥

मया यथाऽकाथि यदा कदापि त्वया तथाऽश्रावि सदा हितेन ।
निरूपये तच्छृणु सावधानः स्मराधुना सृष्टिकरान् गुरूंश्च ॥१९॥

त एव तेऽस्मिन् समसाधनाय सज्जाः भविष्यन्ति गृहाण तेभ्यः ।
विद्या, धनं, छात्रनिवासभूमिं, बुद्धिं, सहायान् यमु वाञ्छसि त्वम् ॥२०॥

विद्यालयस्थापनचिन्तयाढ्यः सर्वेन्द्रियाण्याहृतवान् चिकीर्षुः ।
सस्मार नारायणमादिदेवं विद्याप्रदं तं गिरिशं च सोमम् ॥२१॥

भक्ताय मार्गप्रतिबोधनार्थं यौ भक्तकल्पद्रुतया प्रसिद्धौ, ।
ये पूरुषा उत्तमकर्मकेन्द्राः प्रापुस्ततः स्ते निजकर्म सिद्धिम् ॥२२॥

ब्रह्मादि देव प्रमुखैर्निषेव्यो नारायणोऽयं जयताज्जनादिः ।
शिवः सदानन्दधनाऽद्वितीयाऽसमानऽरूपोऽखिलविश्वधामा ॥२३॥

तद् ब्रह्म पूर्णं प्रथम प्रतीतं यतोऽस्य जन्मस्थितिभंगसंगः ।
महान रूपः पुरुषोत्तमोऽपि विभुर्न गम्योऽल्पाधियां कदापि ॥२४॥

यदेहते स्रष्टु मथो जगन्ति यदा स संकल्पमथा चिनोति ।
उदीत एव स्फुरणं नु यस्मिन्नेको बहु स्यामिति भावरूपम् ॥२५॥

तदानुपाधिः प्रभुरेत्युपाधिं मायां श्रयन् स्वां शुचि सत्व मुख्याम् ।
ततस्तु नाभेरुदभूदजोऽयं जानन्ति सर्वे किल विश्व भाजः ॥२६॥

पितामहो योऽयमजः प्रजानां ज्ञानी स्वयं ज्ञानवतां च भूषा ।
श्रयन्ति यं ते विषमेषु देवाः स देवपूज्योऽजनि सर्वतः प्राक् ॥२७॥

ब्रह्मेति संज्ञां धृतवान् भयघ्नः सृष्टे रचिं तां कृतवान् कलिघ्नः ।
सार्थं स वेदं स्मृतवान् सदूहं बुद्धावृषीणां भृतवान् समहम् ॥२८॥

लोका यमभ्यस्य विदुर्निजत्वं, प्रकाशकं तस्य विधिं शशंसुः ।
तस्माद्विधेः प्रादुरभूद्वशिष्ठो माया न पस्पर्श विभोर्ऋषिं यम् ॥२९॥

वन्द्यः सुसत्यस्य विशोधको यो ज्ञानं ददौ श्री रघुवंशजेभ्यः ।
अज्ञान विज्ञान निरासदानाल्लेभे प्रसिद्धिं भुवने गुरुर्ज्ञः ॥३०॥

यतः सदाचारिवरः सुपूतः प्रादुर्बभूवाथ मुनिः स शक्तिः ।
सौम्याकृतिः शान्तमना मनस्वी वेदप्रवीणो मतिमान् बुधाग्र्यः ॥३१॥

योगेन्द्र बन्द्यो विदुषां वरेण्यो महामुनिर्लोक गुरुत्व माप ।
मुनीश्वराद् धाम निधेरिवाग्निः पराशरः सज्जनुराप शक्तेः ॥३२॥

विज्ञान योगोभयमर्म वेत्ता तपस्विनां त्राणकरः सतां यः ।
विद्यासरस्वत्पर पार दृश्वा पुण्यो नुतः सर्व तपस्वि वर्यैः ॥३३॥

पुराण कल्लोक सुगीत कीर्ति र्व्यासिः सुतः कोऽपि ततोऽजनिष्ट ।
लोके परत्रैहिक मार्ग सूचे संपूज्यपद् बुद्धि निवास भूमिः ॥३४॥

योऽग्रेतनीं सूतिमवेक्ष्य मन्दप्रज्ञां हितार्थं विबभाज वेदम् ।
तस्मिन्महात्मन्यनुराग वन्तः कथं भवेयुर्न तपस्विवृन्दाः ॥३५॥

हरेः समो व्यास मुनिः सुभाग्यो यस्पास्ति सूनुः शुकदेव वर्यः ।
त्यागं यमाहुर्ननु मूर्तिमन्तं यस्यास्ति चित्ते हरिचिन्तनं सत् ॥३६॥

न वन्धकृत्कर्म चकार किञ्चिद् रंभादयो यं न ववंचुरीषत् ।
विकार हेतावपि नो विकारी लघौ वयस्पाप निजं स्वरूपम् ॥३७॥

(तृतीयादिषु भाषित पुंस्कत्वाल्लघौ लघुनि उभयं साधु)
स्वेच्छाविरक्तो मदनेन मुक्तो विहाय गेहं वनमेत्य तेपे ।
वृत्तं यदीयं दुरितं दुनोति स वन्दनीयोऽस्ति सतां गुरुर्नः ॥३८॥

योगीश्वरं व्याससुतं नितान्तं विज्ञे महाभागवतं शुकं तम् ।
सत्वप्लवं प्राप्तभवाब्धिपारं यं गौडपादो नुवति प्रणौति ॥३९॥

शिष्योऽभवद्यस्य स गौडपादः प्राचार्य वर्यो भुवि लब्धवर्णः ।
एकाद्वितीयं त्वभयं सुखार्थं महोज्वलं ज्ञानमवापि येन ॥४०॥

विद्भिः सहैकं व्यदधात्सुवादं यः शास्त्र सिद्धान्त विधानहेतोः ।
यस्य प्रसादः प्रथितोऽघनुत्तौ स्वसेविनोऽभूत् सहि गौडपादः ॥४१॥

शिष्यस्तदीयः कलिकल्पषघ्नो गोविन्द पादोऽभवदेक एव ।
शिश्राय शंकर एव साक्षात् श्री शंकराचार्य इति प्रसिद्धः ॥४२॥

मायाजवनिकाच्छन्नं ब्रह्म जीवो निगद्यते ।
अभेद विद्यां यः प्रादाच्च छंकाराचार्य देशिकः ॥४३॥

परमगुरुवर श्री गौडपादज्ञया यो विशदमुपनिषत्सु स्पष्टभाष्यं चकार ।
मम जननमिहेदं धर्महेतोर्नु बुध्वा सफल मथ वितेने भारते तत्प्रचारम् ॥४४॥

धैर्यं धरावद्धरणार्थमेव ज्ञानप्तवेनोत्तरणार्थमेव ।
अहंममत्वो द्धरणार्थमेव निष्कामभक्तेर्भटरणार्थमेव ॥४५॥

जन्माधृतं तं खलु चिन्तयेऽहं सज्ज्ञानिनं पूज्यपदारविन्दम् ।
श्री शंकराचार्य वरं नतोऽस्मि दिवानिशं ध्यान निविष्टचित्तम् ॥४६॥

श्रीनिवासः प्रभुः सेव्यो जीवस्तत्पद सेवकः ।
विशिष्टाद्वैतनिर्ध्याता श्रीरामानुजदेशिकः ॥४७॥

दयया गृहीत हृदयो पशुहिंसां यो निनिन्द सर्वत्र ।
संघे धर्मं विदधे बुद्धः सुगतो विहारसंस्कर्त्ता ॥४८॥

सम्राडशोको जयतात् कलिंग विजयोत्तरम् ।
दययोपरतो युद्धाद् बौद्धं धर्मं स्वतोऽग्रहीत् ॥४९॥

अन्येभ्योप्युपदेष्टुं तमुपदेशकसुधीवरान् ।
एकसप्ततिसाहस्रान् प्राहिणोद् भिन्नराष्टके ॥५०॥
भारतेऽनेकभागेषु बहूच्छ्रायान् सुशोभनान् ।
उत्कीर्णलेख वहुलान् स्मृतिस्तूपांश्च निर्ममे ॥५१॥

अशोकधर्म चक्रं च प्रावर्त्तिष्ट यदेव तत्
इदानीं संघराज्यस्य ध्वजे चिन्हं विराजते ॥५२॥
स्वजन्मसिद्धोऽस्ति ममाधिकारः स्वराज्यमित्येव जनानभीरुः ।
गीतारहस्यं स मबोधि यश्च सल्लोकमान्यस्तिलक स्त्रिलोक्याम् ॥५३॥

मुहम्मदोग्रजलधौ मग्न हिन्दूत्वरक्षकः
सिक्खानां सम्प्रदायस्य प्रणेता गुरुनानकः ॥५४॥

एतांस्तथान्यान् वरदानुदारान् धीरान्नमस्कृत्य वरान् समेतान् ।
संप्रार्थये विश्वविदालयस्य भवन्तु निर्माण विधौ सहायाः ॥५५॥

अथोपस्थे किल बालमित्रं गंगाप्रसादो बुधमालवीयम् ।
उवाद मिष्टं स्वहृदा गुणस्निट् कथं समुद्विग्नमनासुविद्वन् ? ॥५६॥
उद्भूत भीषण भवानलतापतप्ता विद्याश्चतुर्दश गता बहुशोच्यतां ताः ।
त्वामिष्टदायकममीलित नेत्र संघैः ईक्षन्त एव न कृपामपि ते लषन्ति ॥५७॥
चिन्तामणि श्चिन्तनमाचिनोति कल्पद्रुमः कल्पनया प्रकल्पः ।
कामान् सुदोग्ध्री धयति स्ववत्सात् भवान्न चिन्तादिमपेक्षते गुणी ॥५८॥
भवादृशा भागवताः सुतीर्थाः सत्पूरुषा उत्तम कर्म केप्द्राः ।
लोकम्पृणै वंन्द्य चरित्रसंघैः सं प्रीणयन्तो जगतीं भवन्ति ॥५९॥
तस्मात्समुत्तिष्ठ जहीहि दोषान् वुद्धिगतान् कार्यं विनाशहेतून् ।
सन्धारयन् भूतिकरान् गुणान् स्वान् लोकेषु लोकातियशो लभस्व ॥६०॥
एनीविसण्ट सिथिलेशसकाशमेतां पत्रादिना वितर संकथनीयवार्त्ताम् ।
याहि स्वयं, कथय, चिन्तय कृत्यजातं सिद्धिं समेष्यति भवान, हरिरस्ति साक्षी ॥६१॥
श्रुत्वा सुखं मित्रमुखात्सुवाक्यं काशीं प्रतस्थे बुधमालवीयः ।
तत्रेत्य काशीपति संगमोर्ध्वमेनी विसेण्टं महिलां ददर्श ॥६२॥

मान्याः सुलोकजनताः कलयांचकार विद्यालयं समधिकृत्य सभां चकार ।
प्रस्ताव मेकमतकं प्रथयांचकार श्रीमालवीय सुमतिः कृपयां चकार ॥६३॥

सभापतिः काशिकराजवर्यो मेने शुभं संदिदिहेतु किंचित् ।
प्रस्तावतथ्यं जनता विदुस्तत् सहायतायै प्रतिजानते स्म ॥६४॥

काश्यां, प्रधानभुता मनिषिणो य सतां मान्याः ।
तानपि स मालवीयो निमंत्रयामास साह्यार्थम् ॥६५॥

तेषां गोष्ठी समभूत् शात्रार्थं या प्रसारयामास ।
नैयायिकमीमांसकव्याकृतिधर्मादि विज्ञानाम् ॥६६॥

विद्यालयाः सन्ति परः सहस्राः देशे स्वदेशे परदेशमध्ये ।
किमर्थमेनं तनुते, ब्रवीतु वैशिष्टयमस्योपनिभालनीयम् ॥६७॥

शास्त्रेषु भेदो बहुलो विभाव्यते स वास्तवो वास्ति नवास्तवः किमु ।
किं तथ्यमस्तीति गवेषणाधिया विद्यालयोऽयं क्रियतेऽति विस्तृतः ॥६८॥

न्याये प्रसिद्धं मन इन्द्रियं हि वेदान्त शास्त्रे मन इन्द्रियं नो ।
सांख्येषु दृष्टं ह्युमयात्मकं तत् यथ्यं नु तथ्यं विबुधैर्विबोध्यम् ॥६९॥

ज्ञानेन्द्रियकर्मोन्द्रिय बुद्धिमनः प्राणवाय्वादि ।
सप्तदशावयवयुतं लिंगशरीरं मतं तु सिद्धान्ते ॥७०॥

वागादि कर्मेन्द्रियपंचकं ना घ्राणादि बुद्धीन्द्रिय पंचकं सत् ।
न्याये च रुद्रेन्द्रियता ततो नो एवं हि सिद्धान्त हतिर्भविष्या ॥७१॥

कर्मेन्द्रियं नास्ति ततोऽत्र सप्तदशत्व संख्या कुत एव सिद्धा ।
तस्या अभावे क्व च लिंगदेहो विना ततः कस्य गतागतं स्यात् ॥७२॥

स्थूलस्य देहस्य यतो विनाशः सूक्ष्मं शरीरं नहि सिध्यतीतः ।
गतागतं लिंग शरीर सिद्धं, लिगं विना कस्य भविष्यतीह ॥७३॥

कर्मेन्द्रियाणां यदि नास्ति सत्ता न स्यात्ततः प्राणमयः स कोषः ।
क्रियासु शक्तः किल कार्य रूपः सिद्धान्त हानिस्तु भविप्यतीतः ॥७४॥

विभुः पदं व्यापकतार्थकं तत् जीवो विभुः सन् प्रति वर्ष्मँ भिन्नः ।
एवं हि सिद्धान्त कथा कथं स्यात् विभुश्च भिन्नश्च यतो विरुद्धम् ॥७५॥

विभुर्मतः सर्वसूमूर्त्तरूप द्रव्यस्य संयोग करोऽ प्ययुक्तः ।
भवन्मते निष्क्रिय एव सात्मा संयोग एवैष विना क्रियां नो ॥७६॥

गुणाश्रयत्वं द्रव्यत्वमिति द्रव्यस्य लक्षणम् ।
आद्यक्षणे तथोत्पन्न विनष्टे च घटे न तत् ॥७७॥

अव्याप्तिस्तेन वर्वर्ति लक्षणं संगतं नहि ।
केनेत्थं भ्रामितोऽसि त्वं लक्ष्म बुध्यस्व संगतम् ॥७८॥

सामानाधि करण्येन गुणस्य समवायतः ।
सत्ता भिन्न जातिमत्वं द्रव्यत्वं तु विवक्षितम् ॥७९॥

समवायाद् गुणस्याधि करणं गगनादिकम् ।
तस्मिन् गता, या द्रव्यत्वजातिः सत्ताविभेदिनी ॥८०॥

सा तादृशे घटेऽप्यस्ति, लक्ष्मेदं संगतं तथा ।
यथेत्थं कथयेत्कश्चित् स पिता तेऽप्ययं पिता ॥८१॥

सिद्धं परस्मिन् हि द्रव्यत्वं कथंचित् व्याप्यतेऽपरे ।
अफ्शौ ब्राह्मणादित्वात् कथं नास्मिन् सुपितृता ॥८२॥

अथवा मत्पितुः पित्रा शुद्धं भुक्तं घृतं बहु ।
ममेमौ चिक्कणौ हस्तौ प्रमाणं वित्थ साम्प्रतम् ॥८३॥

द्रव्यत्वं भिन्नमेवाहो प्रतिद्रव्यमवस्थितम् ।
द्रव्येष्वनु गता बुद्धिः शब्दतंत्राश्रया मता ॥८४॥

इच्छाद्वेष प्रयत्नाश्च दुःखज्ञानसुखानि च ।
आत्मनो लिंगमित्याह कणादो गौतमः पृथक् ॥८५॥

परे तथा न मन्यन्ते, ज्ञानवत्वं तु लक्षणम् ।
इच्छा ज्ञान प्रयत्नाँश्च गुणास्ते मन्वते पुनः ॥८६॥

ईशो निष्क्रिय एवापि कर्ता विश्वस्य गोपिता ।
निष्क्रिये कर्त्तृगोप्तत्वे गवेष्यं स्यात् प्रयोजनम् ॥८७॥

प्रयोजनं नु तर्क्येत निष्क्रियत्वं कथं भवेत् ॥
“प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।”
इति गीतोक्त माचष्टे न्याय मुक्तावली करः ॥८८॥

प्रकृतेरत्रा दृष्टस्य गुणैरदृष्टजन्मभिः ।
इच्छादिभिश्च कर्त्ताहमेवेत्यर्थो न चेतरः ॥८९॥

अपव्याख्यान मेतत्तु नैयायिकवरस्य ते ।
प्रकृत्यर्थो ह्यदृष्टं तु कुत्रापि नहि भाषितम् ॥९०॥

गुणाः सत्त्वादयः सिद्धा प्रकृते रूपतां गताः ।
नहीच्छादिप्रभृतय उच्छास्त्रं व्याख्ययाऽयशः ॥९१॥

“मायांतु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।”
इत्येवं प्रकृतिर्माया ह्यविद्या श्रुतिशास्त्रयोः ॥९२॥

एवमाद्यान् बहून् दोषान् न्यायशास्त्रे प्रतिष्ठितान् ।
विचारयन्तु सुधियः शोधयन्तु ततः परम् ॥९३॥

सांख्येषु प्रकृतिः कर्त्री, कर्त्तान पुरुषो मतः ।
आधा जडाऽपि कर्त्री, चेत्, भोग कर्त्री कुतो नहि ॥९४॥

क्रियायाः करणात् कर्त्री भोगोप्येका क्रिया यतः ।
पुरुषार्थं प्रवृत्या तु कर्त्तृता नहि भोक्तृता ॥९५॥

भोक्तृता भोगकर्त्तृत्वं कर्तृत्वे भोक्तृता स्वतः ।
वैषम्ये कारणं किं स्यात् स्वातंन्त्र्यं, शृंखला न ते ॥९६॥

प्रकृतिर्यदि कर्त्री स्यात् निष्क्रिया सा कथं भवेत् ।
परिणामः क्रिया ह्येव तत्सत्वे सा तथा कथम् ॥९७॥

परिणामे स्वीकृतेऽपि परिस्पन्दो न सम्मतः ।
परिष्पन्दक्रियाऽभावे निष्क्रियत्वं व्यवस्थितम् ।।९८।।

किंचिच्चलनमित्येव स्पन्दनं तत् क्रिया ततः ।
परिस्पन्दः क्रिया ना स्तीत्येतदुक्तिर्न शास्त्रिकी ।।९९।।

प्रकृतौ यद्धि कर्त्तृत्वमदृष्टवशतो मतम् ।
क्षोभः प्रसवधर्मित्वं प्रवृत्तिः सा परार्थिका ।।१००।।

तर्ह्यव्यक्तं स्वतंत्रं तत् निराश्रयमहो कथम् ।
परस्पर विरुद्धं नु शास्त्रे व्याख्यायते कथम् ।।१०१।।

पुरुषस्य हि द्रष्टृत्वं कर्त्तृत्वं न हि सम्मतम् ।
द्रष्टृत्वं दृशि कर्त्तृत्वं चेन्नरे तत्कुतो न हि ।।१०२।।

कूटस्थः स स्वतो नास्ति विकारी, पुरुषः परः ।
प्रकृतेः परिणामेन देहाहंकारवान् यदा ।।१०३।।

तदा दर्शन कर्त्तृत्वं पुरुषे न स्वभावतः ।
भोक्तृत्वे चैव पुरुषं कारणं प्रथमे विदुः ।।१०४।।

अहंकारवशायातं कर्त्तुत्वं यदि मन्यसे ।
भोक्तृत्वं चाप्यहंकारवशायातं कुतो नहि ।।१०५।।

वैषम्ये कारणं किं स्यात्, उच्छास्त्रं स्यात्स्वतन्त्रता ।
अहंकारवशायाते उभे कर्त्तृत्वभोक्तृते ।।१०६।।

तथापीह विकारस्याऽवसाने स्याज्जडात्मता ।
ततो ह्युपाधि प्राधान्यात् कर्त्तृत्वं प्रकृतौ गतम् ।।१०७।।

भोगः चिदवसानोऽस्ति ततश्चोपहितस्य हि ।
प्राधान्यं, तेन भोक्तृत्वं पुरुषे सांख्य कृन्मतम् ।।१०८।।

मूलं विकारः कर्त्तृत्वे, भोक्तृतेऽपि कुतो न सः ।
वैषम्ये कारणं किं स्या दुच्छास्त्रं स्यात् स्वतन्तता ।।१०९।।

पुरुष व्यतिरेकेण प्रकृतेः सिद्धिरस्ति नो (स्वरुपालाभः) ।
प्रकृति व्यतिरेकण पुरुषार्थो नसिध्यति ।।११०।।

निराश्रयत्वं स्वातन्त्र्यं प्रकृतौ पुरुषे तदा ।
न स्यात्सांख्यवुधः प्रार्थ्यो निज वुद्धि सुधारय ।।१११।।

पूर्पापर विरुद्धोक्तमप सिद्धान्तितं तथा ।
सांख्य शास्त्रे सुवहुलं सुधीभिः शोधनीयकम् ।।११२।।

मीमासकाः कर्मवुधा ब्रुवन्ति कर्मैव संदातृ फलस्य नान्यत् ।
तत्रोच्यते, कर्म जडं, फलाय कल्पेत तद् ब्रूहि कथंनु विद्वन् ? ।।११३।।
साम्यं कथंचिन्नहि कर्मणां स्यात् तत्कर्मिणां भिन्न फलं हि सम्यक् ।
यत्तारतम्यं वुबुधे जडं नो तत्तारतम्यं घटते फले नो ।।११४।।

क्वचित्त्व सिद्धिः किल कर्मणां चेत् ततः कथं स्यात्फलदातृ कर्म ।
स्वयं सुसिद्धः परसाधकः स्यात्, स्वयं त्वसिद्धः परसाधकं नो ॥११५॥

त्रीण्यत्र वस्तूनि हि कर्म, देवता, द्रव्याणि, यत्र प्रथितानि सन्ति भोः ।
ता देवताः कर्म फलानि याजके जीवत्वसाम्यान्न विधातुमीशते ॥११६॥

स्वातन्त्र्य मासां नहि देवताना मन्तः सुयामिश्रुतितो वशेन ।
अतः स्वतन्त्रः फलदः प्रभुर्यः कर्त्तुं त्वकर्त्तुं प्रवलोऽन्यथा वा ॥११७॥

विनश्वरं कर्म यतः, प्रदातुं फलं समर्थं न हि मन्यतेऽतः ।
तत्किन्त्वपूर्व जनयत्यखण्डं तस्मात्फलं यष्ट्रिषु संगतं स्यात् ॥११८॥

तत्राप्यपूर्वे किल पक्षयोर्द्वयं मीमासकानां पुरतो विराजते ।
तदेव सूक्ष्मं तु विधेः समुत्थितं फलं ह्यपूर्वाह्वयमेकपक्षके ॥११९॥

कालान्तरस्मिन् फलसम्प्रदायिका स्यात्कर्मशक्ति स्त्वपरऽत्र पक्षके ।
या या कथाऽभूज्जडकर्म पक्षे सा सा कथाऽपूर्वदलेऽपि बोध्या ।
यतोऽस्वतन्त्रं जडमप्यपूर्वं फलं प्रदातुं कथमीश्वरं स्यात् ॥१२०॥

यंदेवमुद्दिश्य विधीयते द्रव्यस्य विश्रवाणनमेव कर्म ।
विना तु तं नास्ति सुकर्मसिद्धिः, सा देवता कर्मणि मुख्य भूता ॥१२१॥

समागतं कर्म, सुदेवताया आराधनार्थं, न हि शेषिरूपम् ।
तस्याः प्रसादस्य तदाश्रयत्वादपूर्वकं कर्त्तरि संगतं नो ॥१२२॥

संप्रोक्षणादुत्थमपूर्व पुण्यं व्रीह्याश्रयत्वं भजते यथात्र ।
तथा प्रसादः किल देवताया स्तन्निष्ठ एवास्तु न कर्त्तरि स्यात् ॥१२३॥

यद्यंगभूता किल देवतास्ति कर्म प्रधानं, नरवृत्ति तच्च ।
कर्मोत्थितं यज्ञ करेप्यपूर्वं नासंगतिस्तेन, तथाप्यसंगः ॥१२४॥

यस्मिन्मतेऽपूर्वमिदं नु कर्त्तरीत्युक्तं तदप्यस्ति विचारणीयम् ।
प्रयोज्यके कर्त्तरि यायजूके नायात्यपूर्वं, खलु* संगतिस्तत् ॥१२५॥ *(निषेधार्थे)

ऋत्विक्ष्वपूर्वाश्रयता प्रसंगतः सिद्धान्ततः कर्म फलं प्रयोक्तरि ।
अपौरुषेया श्रुतिरस्ति तेन हि प्रयोजिका सा श्रुतिरेव सर्वतः ॥१२६॥

ततो ह्यपूर्वं श्रुतिनिष्ठ मेव न स्याद पूर्वं नरि यज्ञकारे ।
श्री वासुदेवे प्रतिवर्तकान्तर्यामि श्रुतेः प्राप्तमपूर्वमंजः ॥१२७॥

देवाश्रयं कर्त्तरि वाप्यपूर्वं श्रीवासुदेवे ह्युभयत्र सम्मतम् ।
प्रयोजकः कर्मणि वासुदेवः इज्योऽपि सर्वस्य मतेन सैव ॥१२८॥

कर्मानुसारं सकलेभ्य एव फलस्य दाता सहि वासुदेवः ।
एवंकृते कापि न संगतिर्नो, अतोऽन्यथा नैवहि चर्चनीयम् ॥१२९॥

वस्तुद्वयं यत् सगुणागुणाख्यं गृह्णाति लोके किल भावनातः ।
गुणान्वितं छात्रगहस्थवर्गो गुणाद्व हिस्तत्तु तपस्विवर्गः ॥१३०॥

गुणान्विते वस्तुनि सप्तभूम्यो गुणाद्वहिष्ठेऽपि तका यकाः प्राक् ।
वात्सल्य सख्यात्म निवेदनादिकं, दासत्व कान्तत्व गुणानुकीर्तनम् ॥१३१॥

सुतन्मयत्वं सुतदारवर्गे श्री शे प्रभौ वाऽनुगताः प्रशस्ताः ।
रहूगणो वा जनको विदेहो ह्यजातशत्रुप्रभूतिर्निदर्शः ॥१३२॥

उपासनायाः सगुणस्य पाके संजायते निर्गुण वस्तुनः सा ।
दृक् दृश्य रूपं जड चेतनाह्वं, तापायसः पिण्डमिवोपस्टष्टम् ॥१३३॥

तादात्म्यकं यत्त्वनयो र्द्वयोः स्यादुक्ताज्ञताकार्य महंकृतिः सा ।
ज्ञानं त्रिधा स्वात्मनि, तत्र गुह्यं, स्वात्मास्ति देह व्यतिरिक्ततत्वम् ॥१३४॥

देहे ह्यहं गुह्यतरं तु साक्षी, ब्रह्माऽस्म्यहं गुह्यतमं समन्तात् ।
भक्तेर्नवत्वेऽपि त्रिधैव सात्र श्रुतिः स्मृतिः कीर्तनमेव मुख्यम् ॥१३५॥

विना तुं ताभ्यां श्रवणं न विद्यते श्रुतिं विना कीर्तनसंस्मृती नो ।
स्मृतिं विनाऽपि श्रवणं न कीर्तनं, श्रुतिस्मृती तत्र विना न कीर्तनात ॥१३६॥

एवं त्रयाणां नु मिथोऽनुवृत्तेर्भक्त्यन्तरस्मिन्नपि हेतुतायाः ।
गीतासु संज्ञापनमस्ति सम्यक् सुधी वरै राकलनीयमेव ॥१३७॥

तस्यास्म्यहं, सोऽपि ममैव सोऽहं त्रिधैव भक्तिः किल साधनातः ।
अभ्यासपाकाच्च भवेत्सुसाधा श्रीशे प्रभौ तत्र मुहुः सुगीतम् ॥१३८॥

इश्वरे कर्त्तृताबुद्धिः सत्त्वोपादेयतान्तिमे ।
स्वकर्मपरिणामश्च गीता सारार्थं उच्यते ॥१३९॥

कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादि सेवनम् ।
भक्तियोगः परैकान्त प्रीत्या ध्यानादि सेवनम् ॥१४०॥

गुणैः संक्षुब्धके चित्ते धारणावश्यिका मता ।
सामान्यतो विना लक्ष्यं मनः स्थैर्यं तु धारणा ॥१४१॥

तत्तदङ्गे भगवतो भावाद् ध्यानं मनो दृढम् ।
अच्छिन्नतैल चधारावच्चित्तैकाग्रं समाधित । समाधि रेव समाधितः ॥१४२॥

ज्ञानयोगो जितस्वान्त परिशुद्धात्मसंस्थितिः ।
त्रयाणामपि योगानां त्रिभिरन्योन्य संगमः ॥१४३॥

नित्यनैमित्तिकानां च काम्यानां कर्म रूपिणाम् ।
आत्म दृष्टेस्त्रयोप्येते योगद्वारेण साधकाः ॥१४४॥

निरस्तनिखिलाज्ञानः प्रत्यगात्माऽपरोक्षतः ।
प्रतिलभ्य पराभक्ति तयै वाप्नोति तत्पदम् ॥१४५॥

भक्ति योगस्तदर्थी चेत्समग्रैश्वर्यं साधनम् ।
निष्कामाश्चेन्त्रयोऽप्यते तत्कैवल्यस्य साधकाः ॥१४६॥

ज्ञानी तु परमै कान्त भक्तस्तत्तन्त्र जीवनः ।
तत्संश्लेष वियोगैकसुखदुःखस्तदेकधीः ।१४७॥

भगवद्भक्ति योगोक्तवंदन स्तुति कीर्तनैः ।
लब्धात्मा तद्गत प्राणमनो बुद्धिन्द्रियक्रियः ।।१४८।।

निजकर्मादिभक्त्यन्तं कुर्यात्प्रीत्यैव कारितः ।
उपायतां परित्यज्य न्यसेद्देवे तु तामभीः ।।१४९।।

एकान्तात्यन्तदास्यैकरतिस्तत्पदमाप्नुयात् ।
तत्प्रधानमिदं शास्त्रमिति गीतार्थ संग्रहः ।।१५०।।

एवं नु शास्त्रस्य सुरक्षणा कृते विद्यालयस्थापनर्महतां गतम् ।
सहायतायै भवतोऽनुयाचते स्वाशीर्वचोभिः किल वर्द्धयन्तु तत् ।।१५१।।

विद्वद्वरास्तदनुमोदनतत्परास्ते प्रोचुः शुभं मदनमोहनमालवीय ?
सिद्धि लभस्व, नितरां परिपूरयार्थं, विद्यालयस्य रचनां नु विधेहि सम्यक् ।।१५२।।

राधामुकुन्दपदपाथसिजस्य सेवाहेवाकिदेवदययापितभव्यकार्ये ।
सत्यं शिवं विजयसुन्दरभूतिसौख्यं सन्तु श्रियः सकल काम दुधाः प्रसन्नाः ।।१५३।।

हिन्दू विश्वादि विद्यालय इति महाकाब्यवर्यें सुभव्ये ।
निर्माणीये द्वितीयः क्रमशः इह ततः सर्गवर्गो व्यंरसीत् ।।१५४।।

काश्यां साहित्यभागे प्रथमपदगो विश्वविद्यालयेऽस्मिन् ।
राजस्थानी चिरावाभिजनकमधूसूदनो यद्वितेने ।।१५५।।

इति श्री मधुसूदन शास्त्रिणः कृतौ हिन्दूविश्वविद्यालये महाकाव्ये द्वितीयः सर्गः समाप्तिमगमत् ।।

मालवशिरोमणिः राजा भोजः

उदयचन्द्र जैन
संस्कृत महाविद्यालय

इतिहासप्रसिद्धो मालवेशो भोजः प्रसिद्धराजस्य मुञ्जस्य सहोदरस्य सिन्धुराजस्य पुत्र आसीत्। मालवभूमेः परमारवंशीयराजानां मध्ये राज्ञो भोजस्य महत्त्वपूर्णं स्थानमासीत्। खिष्टीयाब्दस्य एकादशशताब्द्यां राज्ञा भोजेन स्वजन्मना धारानगरी, मालवभूमिः, भारतभूमिश्चालङ्कृता। भोजस्य शासनकालः १०१० खिष्टीयाब्दात् १०५५ खिष्टीयाब्दोऽभवत्। यदा भोज आसीत् पञ्चवर्षीयस्तदैव तस्य पिता सिन्धुराजः स्वां वृद्धावस्थां ज्ञात्वा पुत्रं चाल्पवयस्कं विज्ञाय स्वलघुभ्रात्रे मुञ्जाय राज्यस्य भारमदात्। भोजस्य लालनं पालनं च मुञ्जस्य राजप्रासाद एवाभवत्। एकस्मिन् दिवसे मुञ्जः वररुचिनामधेयात् ज्योतिर्विदो भोजस्य विषये निम्नां भविष्यवाणीमशृणोत्—

पञ्चाशत्पञ्चवर्षाणि सप्तमासदिनत्रयम्।
भोजराजेन भोक्तव्यः सगौडो दक्षिणापथः॥

अस्यायमर्थोऽस्ति यद् भोजोऽस्मिन् भूतले पञ्चपञ्चाशद्वर्ष-सप्तमास-दिनत्रयपर्यन्तं शासनं करिष्यति। उपर्युक्तां वाणीं श्रुत्वा मुञ्जो विचारमकरोद् यद् यदि राज्यलक्ष्मीः भोजं गमिष्यति तर्ह्यहं जीवितोऽपि मृतवद् भविष्यामि। अतो बङ्गदेशीयराजानं वत्सराजमाहूयाकथयत् यत् त्वं भोजं गहनवने नीत्वा रात्रौ तस्य वधं कुरु। यदा भोजेन वत्सराजद्वारा स्ववधसमाचारो ज्ञातस्तदा तेन यो दार्शनिक उत्तरो दत्तः स द्रष्टव्यः—

रामप्रव्रजनं बलेर्नियमनं पाण्डोः सुतानां वनम्
वृष्णीनां निधनं नलस्य नृपतेः राज्यात् परिभ्रंशनम्।
कारागारनिषेवणं च मरणं संचिन्त्य लङ्केश्वरे
सर्वः कालवशेन नश्यति नरः को वा परित्रायते॥

तदनन्तरं मुञ्जस्य सकाशे प्रेषणार्थं भोजेन विनिर्मितो निम्नलिखितः श्लोकोऽनुशीलनीयः—

मान्धाता च महीपतिः कृतयुगालङ्कारभूतो गतः
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवं भूपते
नैकेनापि समं गता वसुमती मुञ्ज त्वया यास्यति॥

अतिगंभीरमिममुत्तरं श्रुत्वा तथा भोजस्य वधं परिगणय्य मुञ्जो मूर्च्छितः सन् भूमावपतत्। सौभाग्येन वत्सराजेन भोजस्य वधो न कृतः किन्तु स सुरक्षितस्थाने स्थापित आसीत्। अतो यदा भोजः मुञ्जस्य पार्श्वे नीतस्तदा मुञ्जः पुनश्चेतनतामलभत। तदनन्तरं मुञ्जेन राज्यस्य भारो भोजाय समर्पितः। भोजे बाल्यावस्थायामेव राज्यस्य भारः समापतत्। चतुर्दशवर्षीय एव बालः शासको बभूव। भोजोऽतिशयं धीरः, वीरः, साहसी, पराक्रमी

चासीत् । स्वशासनकाले तेन हि घोरसंग्रामे चेदि, कर्णाट, लाट, गुर्जरादिशासकाः पराजिताः । भोजेन स्वकीयं राज्यं शत्रुभिः विनिर्मुक्तं कृत्वा निरापदं सम्पादितम् ।

भोजराजो न केवलं कुशलः शासको वीरः प्रतापी एवासीत् किन्तु महाविद्वान् विद्वत्प्रियः काव्यरसिकश्चाभवत् । तेन हि विद्वांसः सदा महतादरेण सम्मानिताः । विद्वद्भिरपि स भोजः 'कविराज' इत्युपाधिना अलङ्कृतः । भोजस्य विषये उदयपुरप्रशस्त्यां लिखितं वर्तते यत्—

साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद् यन्न केनचित् ।
किमन्यत् कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते ॥

भोजेन विनिर्मितैः विविधविषयकैः ग्रन्थैः तस्य विद्वत्ताऽनुमीयते । राजमार्तण्ड-सरस्वतीकण्ठाभरण-व्यवहारसमुच्चय--समराङ्गणसूत्रधार--आयुर्वेदसर्वस्व-काव्यचम्पूरामायण-महाकालीविजयकोदण्डकाव्यप्रभृतयो भोजविनिर्मिता अनेके ग्रन्था विद्यन्ते । भोजस्य विद्याव्यसनं गीर्वाणवाणीं प्रत्यनन्यस्नेहं च दृष्ट्वा नैतत् शंकनीयं यदेतेषां ग्रन्थानां रचना तेन कथं कृता स्यात् ।

भोजस्य शासनकाले तस्मिन् प्रदेशे संस्कृतभाषा आसीत् राजभाषा । साधारणजनोऽपि संस्कृते वार्तालापं कर्तुं क्षमोऽभवत् । एकदा भोजः पर्यटनार्थं नगराद् बहिर्गच्छन् एकं नरं स्वशिरसि काष्ठभारं वहन्तमपश्यत् । भोजस्तमपृच्छत्—'किं भारो बाधति ?' स हि भारवाहक उत्तरमदात्—'भारो न बाधते तावत् यावत् बाधति बाधते ।'

अस्य प्रकरणस्यायमभिप्रायो वर्तते यत् तदा काष्ठवाहकोऽपि संस्कृतं सुष्ठुरीत्या वक्तुं समर्थोऽभूत् । भोजेन धारानगर्यां संस्कृतभाषाया अध्ययनार्थं भोजशालानामकं सरस्वती भवनं निर्मापितम् । तन्मध्ये एका अतिमनोज्ञा सरस्वतीप्रतिमा स्थापिता आसीत् या अधुना ब्रिटिशसंग्रहालये वर्तते ।

भोजः स्वयं विद्वान् विद्वत्प्रियश्चासीत् । तेन हि घोषणा कृता यत् मम राज्ये कोऽपि विद्वान् कष्टं न प्राप्नुयात् । प्रत्युत विदुषे सर्वाः सुविधाः प्रदातव्याः । तेन हि एको नियमो विनिर्मितो यत् कोऽपि निरक्षरो मम राज्ये नागरिकताया अधिकारं न प्राप्नुयात् । विदुषां नवीनरचनां दृष्ट्वा भोजस्तेभ्यः लक्षपरिमिता मुद्रा ददौ । भोजस्य अनया उदारतया राजकीयकोषो रिक्तप्रायो बभूव । तदा भोजस्य दानशीलतां नियंत्रयितुं प्रधानमंत्रिणा राजप्रासादस्य भित्ताविदं लिखितम्—

'आपदर्थे धनं रक्षेत् ।' तद् दृष्ट्वा भोजेनेदमपरं लिखितम्---'श्रीमतामापदः कुतः ।' पुनः प्रधानमंत्रिणा लिखितम्—'कदाचिच्चलिता लक्ष्मीः ।'

भोजेनापि प्रत्युत्तरितम्—'संचितार्थो विनश्यति ।'

अनेनेदं विज्ञायते यत् भोजः कोषसंचयचिन्तां नाकरोत् लेशमात्रम् । प्रत्युत कोषं रिक्तं कृत्वा विदुषां सेवया स महदानन्दमन्वभवत् ।

भोजस्यानेन विद्याव्यसनेन धारानगर्यां मूर्खाणामत्यन्ताभावो जातः । एकदा द्रविडदेशात् लक्ष्मीधरनामक एको महान् विद्वान् भोजसभायामुपस्थितः सन् धारानगर्यां निवसितुमैच्छत् । तदा हि इयं परिपाटी प्रचलिता आसीत् यत् कस्यापि विदुषः निवासार्थं कस्यापि

मूर्खस्य भवनं रिक्तं करणीयम् । अत एकस्य कुविन्दस्य भवनं रिक्तं कर्तुं राजाज्ञा घोषिता । तां श्रुत्वा स कुविन्द एकं श्लोकं विरचय्य भोजं प्रति प्रेषितवान् । दृश्यतां तावत्—

काव्यं करोमि न हि चारुतरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि ।
भूपेन्द्र मौलिमणिमण्डितपादपीठ
हे साहसाङ्क ! कवयामि वयामि यामि ।।

अत्र कवयामि, वयामि, यामि इत्येते प्रयोगा दर्शनीया वर्तन्ते । तस्य कुविन्दस्य कवित्वशक्ति विज्ञाय भोजस्तस्मै कुविन्दाय महद् धनं प्रददौ । महता सम्मानेन च स कुविन्दः स्वगृहं प्रेषितः । एवंप्रकारेण भोजकाले प्रत्येको जनः संस्कृतज्ञो विद्वाँश्चासीत् ।

यथा उज्जयिन्याः सम्राज्ञो विक्रमादित्यस्य राजसभायां नव रत्नान्यासन्नेवमेव भोजस्य सभायामपि नव रत्नान्यभवन् । तेषां मध्ये कालिदासोऽन्यतमोऽभूत् । भोजकालीनकालिदासो मेघदूत-अभिज्ञानशाकुन्तलादिरचयितुः कालिदासाद्भिन्न एव । न चात्र कश्चिद्विरोधो यतस्त्रयः कालिदासा अभवन् । यथोक्तं राजशेखरेण—

एकोऽपि जीयते हन्त कालिदासो न केनचित् ।
शृङ्गारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु ।।

एकदा कालिदासो भोजे रुष्टो भूत्वा धारां विहाय एकशिलानगरं गतः । तदनन्तरं भोजोऽपि कापालिकवेषं धृत्वा कालिदासस्यान्वेषणाय एकशिलानगरमगच्छत् । 'किं भोजः कुशली ?' इति कालिदासेन पृष्टः स योगी उवाच—'भोजः स्वर्गं गतः ।' एतदाकर्ण्य भोजं दिवंगतमवधार्य तं सम्बोध्य विलपन्निदमूचे—"यदहमपि त्वत्समीपमेवागच्छामि । नाहं त्वां विना क्षणमपि कुत्राप्यवस्थातुं शक्नोमीति ।" श्लोकं चैकमधोलिखितमपठत्—

अद्य धारा निराधारा निरालम्बा सरस्वती ।
पण्डिताः खण्डिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ।।

इमं श्लोकं श्रुत्वा भोजोऽपि मूर्च्छितः सन् भूमावपतत् । तदा 'अयमेव भोजः' इति विज्ञाय कालिदासेन पूर्वोक्तः श्लोकः पाठान्तरेण पठितः—

अद्य धारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती ।
पण्डिता मण्डिताः सर्वे भोजराजे भुवं गते ।।

अधुना स्वतंत्रे भारते भोजकाल इव संस्कृतभाषायाः प्रतिष्ठा स्यात्, संस्कृतज्ञानां च विदुषां जीवननिर्वाहादिचिन्ता अपाकृता भवेत्, समादरश्च तेषां समुचितः समाजे जायेत इति मे महती कामना ।

जयतु गीर्वाणवाणी सदा ।

* * *

रौद्रधनुषो यक्ष्मा

गोपाल चन्द्र मिश्रः
संस्कृत महाविद्यालयः

उपक्रमः

यक्ष्मा नाम रोगराजः प्रसिद्धः । सोऽयं रोगः पुरुषमधिकुर्वंस्तं कदर्थयतीति सुविदितमेव । एतस्य कदर्थनधर्ममवलम्ब्य धनुष्यपि सयक्ष्मत्वं ज्ञाप्यते वेदेषु । यथा हि यक्ष्मा रोगो जनानभिभवितुं संहर्तुं च सक्षमः, एवं धनुरपि कानिचन साधनानि स्वीयानि उपादाय लोकानभिभवितुं संहर्तुं च सक्षम, इति क्षेमाय धनुषोऽयक्ष्मत्वं प्रार्थनीयं भवति ।

शुक्लयजुषि माध्यन्दिनीयशाखायामप्यस्ति धनुषोऽयक्ष्मत्वप्रार्थना । सा च रौद्राध्याये रुद्रदेवतायाः स्तुतिमुपक्रम्य वर्तते । तत्र रौद्राध्यायस्य आद्याः षोडश मन्त्राः 'शतरुद्रियम्' इति व्यवहृत्य मन्त्रात्मकस्य रुद्रदेवस्य अस्त्रतया शास्त्रतो ज्ञाप्यन्ते, यथा—

'शिवसङ्कल्पहृदयं सूक्तं स्यात् पौरुषं शिरः ।
आशुः शिशान कवचं शिखा स्याच्चोत्तराभिधा ।।
शतरुद्रियमस्त्रं स्यात् नेत्रं विभ्राड् बृहत् स्मृतम् ।। इति ।

अत्र शिवसङ्कल्पसूक्तस्य (माध्यन्दिनीयसंहितायाः ३४ अध्यायसंबन्धिनां १-६ मन्त्राणां) हृदयरूपत्वम्, पुरुषसूक्तस्य (मा० सं० ३१।१-१६) शिरोरूपत्वम्, उत्तरनारायणानुवाकस्य (मा० सं० ३१।१७-२२) शिखात्वम्, 'आशुः शिशान' इत्यप्रतिरथसूक्तस्य (मा० सं० १७।३३-४२) कवचात्मकत्वम्, 'विभ्राड् बृहदि' ति (मा० सं० ३३।३०-४३ सौर्यसूक्तस्य नेत्रत्वम्, शतरुद्रिय (मा० सं० १६ अ०) समन्तर्गतस्य सदाचारानुगृहीतस्य षोडशमन्त्रात्मकस्यावान्तर शतरुद्रियस्य (मा० सं० १६।१-१६) च 'अस्त्र' रूपत्वं स्पष्टमुच्यते ।

अस्त्ररूपे च शतरुद्रीये—अस्+त्रस्य=क्षेपणक्रियया त्राणकारिणो, धनुषः अयक्ष्मत्वप्रार्थनं युक्तिनीतिसङ्गतमेव भवति ।

रौद्राध्याये यस्य धनुषः अयक्ष्मत्वप्रार्थनं तदिदं रुद्रदेवतायाः । रुद्रो हि तमोगुणाधिष्ठाता संहारशक्तिप्रधानश्चेति पुराणेषु भृशं दृश्यते । तस्य च धनुषोऽयक्ष्मत्वप्रार्थनमेवं श्रूयते—

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः ।
तयास्मान् विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिभुज ।। (मा० स० १६।११)

इति । अत्र उव्वटः—

'तया हेत्या अस्मान् विश्वतः सर्वतः त्वम् अयक्ष्मया ।
यक्ष्मा व्याधिः, व्याधिरहितया परि भुज परिपालय ।।' इति ।

महीधराचार्यश्च—

'तया धनूरूपया हेत्या विश्वतः सर्वतोऽस्मान् परिभुज परिपालय । भुजेर्विकरण-

व्यत्यये शप्रत्ययः। कीदृश्या तया—अयक्ष्मया, नास्ति यक्ष्मा रोगो यस्यास्तया निरुपद्रवया दृढया अनुपद्रवकारिण्या वा।'

इति व्याचख्यौ।

अत्रेदं विमर्शनीयम्—धनूरूपाया हेतेः (आयुधस्य) उपद्रवकारित्वं, रोगो (=येनान्ये रुज्यन्ते=भज्यन्ते) वा कैर्भवति येऽत्र यक्ष्मतया निर्दिश्यन्ते। अत्रः रोगो व्याधिर्वा न धनुषः स्वरूपहानिकरं किञ्चित्स्वतन्त्रं तत्वम्, अपि तु लोकवित्रासनकारि धनुःसम्बन्धि साधनभूतं पदार्थजातमेव, रोगत्वेन ज्ञाप्यते, मन्त्राशीःषु तथा दर्शनात्। तत्रेमे सप्त पदार्थाः प्रतिभासन्ते यथा—

१. प्रयोक्ता
२. मन्युः
३. ज्या
४. इषुः
५. शल्यमुखम्
६. इषुधिः
७. सज्जा, चेति।

एतेषां सप्तानामपि लोककम्पनकारिणां यक्ष्मभूतानां धनुर्गतपदार्थानां शान्तिः स्तुतिश्च रौद्राध्याये अभिलषिता, सात्र रौद्रस्य धनुषो यक्ष्मणः शान्त्यै विदुषां मनस्तोषाय प्रदर्श्यंते।

[१] प्रयोक्ता—रुद्रः

प्रयोक्तास्ति धनुषः प्रमुखो यक्ष्मा। धनुर्हि जीवता सशक्तिकेन पुरुषेण बाहुभ्यां च सन्धीयत इति पुरुषस्य शक्तेः बाह्वोश्च नमस्कारः क्रियते, यथा—

'नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहं तेभ्योऽकरं नमः॥' (१६।८)
'नमस्ते रुद्र। बाहुभ्यामुत ते नमः॥' (१६।९)
'उभाभ्यामुत ते बाहुभ्याम् (१६।१४) इति।

एवं हि धनुषो यक्ष्मभूतः प्रयोक्ता शान्तः क्रियते।

[२] मन्युः

धनुषः प्रयोगकुशलोऽपि प्रयोक्ता अमर्षं विना कौशलं न प्रदर्शयति, न वा परं संहरतीति सोऽयममर्षः मन्युरिति वेदे शब्दितो रुद्रस्य नमस्क्रियते यथा—

'नमस्ते रुद्र मन्यवे' (१६।१) इति।

सोऽयं मन्युः 'हेड' इत्यपि व्यवह्रियते, शमनार्थं प्रार्थ्यंते च यथा—

'असौ यस्ताम्रो अरुण बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषां हेड ईमहे॥' (१६।६) इति।

मन्युराहित्ये च सति द्विविधा स्थितिर्भवति पुरुषस्य—उदासीना सौमनसी च। तत्र रौद्राध्याये विमन्यो रुद्रस्य सौमनसी स्थितिः प्रार्थ्यते, यथा—

'या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तन्वा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥' (१६।१३)
'शिवो नः सुमना भव ।' (१६।१३) इति ।

सुमनाः सन् देवः, पुरुषश्च तदनुकारी, स्वीयामनुग्रहशक्तिं प्रार्थयितृषु प्रकाशयति, यथा—

'असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः ।
उतैनं गोपाऽअदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्य्यः स दृष्टो मृडयाति नः (१६।७) इति ।

प्रार्थिविरोधिनां च कृते निग्रहशक्तिं प्रयुङ्क्ते इत्यपि—

'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहींश्च सर्वाञ्जम्भयन् सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परासुव ॥' (१६।५)

इत्याशिषा ज्ञायते । ततश्चैवं मन्युर्नाम यक्ष्मा प्रयोजकत्वेन धनुषि संबद्धः शमीक्रियते ।

[३] ज्या

धनुषि 'ज्या' स्वस्यातिशयं महत्त्वं बिभर्ति । सर्वाणि धनुषो यक्ष्माणि (=परोपतापकराणि साधनानि) सन्ति अपि न तथा संहर्तुमीशते यथा ज्यासहकृतानि । अतः प्रार्थनायां स्वस्य मङ्गलकामनायै रुद्रस्य ज्यारहितं धनुः काम्यते, यथा—

'विज्यं धनुः कपर्दिनः' (१६।१०)
'प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम् ।' (१६।९) इति ।

एवं हि स्तुत्या ज्यारूपं धनुषो यक्ष्मा शाम्यति ।

[४] इषुः

इषुः बाणः, शल्यम्, इतीमानि पदानि एकार्थकानि स्तुतौ प्रयुक्तानि । सोऽयमिषुः धनुषि सन्धाय आकृष्टया ज्यया वेगमापादितः प्रक्षिप्तः सँल्लक्ष्यं विध्यति । तस्मादेतज्जन्यत्रासस्य यक्ष्मभूतस्य विनिवृत्तये नमस्क्रिया श्रूयते—

'उतोत इषवे नमः' (१६।१)

स्तुतौ इषुसम्बन्धिनी चतुर्विधा प्रार्थना उपलभ्यते । तत्र—

१—प्रार्थयितुः कृते शिवत्वापादनाय प्रथमा । शिवत्वापादनं नाम—अनुकूलवदेनीयतानुरूपप्रक्षेपः । यदि हि कर्मभोगेन रुद्रस्य इषुप्रक्षेपो न्याय्य एव, तदा स विद्धस्य भोक्तुरनुकूलवेदनीयो भवेत् । नन्विषुवेधः कथमनुकूलवदेनीयो भवति चेदत्रोच्यते—रुद्रस्य इषवो न तीक्ष्णाग्रा लौहमय्यः शलाका एव, अपि तु प्रत्यवरोहसंज्ञकेषु मन्त्रेषु (मा. सं.१६।६४-६६) । अन्नम्, वायुः, वर्षाः इति जीवनोपयोगिनां पदार्थानामपीषुत्वं स्पष्टमुक्तं यथा—

'नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः' (१६।६६)
'नमोस्तु रुद्रेभ्यो येन्तरिक्षे येषां वात इषवः' (१६।६५)
नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः' (१६।६४)

इति। अन्नम्, वायुः वर्षाः, इत्येतेषां को नाम जीवोऽनुकूलतां न कामयेत। तदेषामनुकूलवदेनीयतापादकत्वेन प्रार्थनं नाम—इषोः शिवत्वकामना।

सा चेत्थं श्रूयते—

'यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र ताङ्कुरु मा हिꣳसीः पुरुषञ्जगत् ॥'

(मा० सं० १६।३) इति।

२—द्वितीया विधास्ति इषोः कृते प्रार्थनायाः—अधिकरणपरिवर्तनम्। अस्मासु प्राथिषु इषुक्षेपस्याधिकरगं मा भूत्, अस्माकं शत्रवो अनभिमतप्रदेशा वा भवदिषुप्रक्षेपाधिकरणं भवेयुरिति स्वरूपा। सा चेत्थं दृश्यते—

'परि ते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः।'

(मा० सं० १६।१२)

'सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः।
तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि।

(मा० सं० १६।५३) इति।

३—तृतीयास्ति विधा—धनुषि अनभिसन्धिताः (अनारोपिताः) एव सर्वेऽपि परिगृहीताः इषवः लक्ष्यं विहाय अवकर (कतवार) वत् निरसनीया इति स्वरूपिणी। एषा प्रार्थना एभिः शब्दैः श्रूयते—

'याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप'

(मा० सं० १६।९) इति।

४—तुरीया चेषुसम्बन्धिनी प्रार्थना भवति कार्याक्षमत्वसम्पादिनी। इषुर्हि तदैव कार्यक्षमो भवति यदा सोऽपेक्षितपरिमाणो दृढः अत्रुटितश्च स्यात्। यदि हि तस्य परिमाणे लघुत्वं जर्जरत्वं भग्नत्वं वा स्यात् तर्हि न स लक्ष्यं विध्येत्। स्वस्य मङ्गलाशंसायां रुद्रेषूणां लक्ष्यवेधानुपयोगिस्वरूपापादनात्मिकापि प्रार्थना दृश्यते यथा—

'अनेशन्नस्य या इषवः' (मा० सं० १६।१०) इति।

अस्य रुद्रस्य याः इषवः ताः अनेशन् = नष्टा भवन्तु लघुत्व—जर्जरत्व—भग्नत्वादिभिः अनुपयोगिनो भवन्तु। अथवा इषवः सन्तोऽपि अदृष्टा भवन्तु यदि रुद्रः अस्माकं ताडनाम कामयेत। वेदे इषशब्दः स्त्रीलिङ्गेऽपि दृश्यते। एवमिषुर्नाम धनुषो यक्ष्मा परिह्रियते।

[५] शल्यमुखम्

शल्यमिति इषोः पर्यायः। शल्यमिति मानसो हृदयदाही विकारोऽप्युच्यते। स चात्र मन्युरिति अमर्ष इति वा पृथगुक्त इति इषोर्बाणस्य वापराभिधानं शल्यमित्येतदेवाभिप्रेतमस्ति। वेगसहकृते इषौ वेधकत्वसंभवेऽपि साक्षान्निरपेक्षतया ईर्मं (व्रण) कारित्वं तीक्ष्णाग्रतयैव संभवतीति तदेव तीक्ष्णाग्रत्वं 'शल्यमुखम्' इति कथ्यते। तदेतन्मुखं यदीषूणां निरस्तं भवति तदा न तस्य तथोपद्रवकारित्वमनुभूयेतेति केषु चिन्मन्त्रेषु शल्यमुखानां निरासः प्रार्थ्यते यथा—

'निशीर्य शल्यानां मुखा' (मा० सं० १६।१३) इति।

एवं पञ्चमीं धनुषो यक्ष्मविधा शान्ता क्रियते।

[६] इषुधिः

एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकं भवतीति न्यायेन इषुधिरपि सम्भवति धनुषो यक्ष्मैव। यदि हि रुद्रस्य सविधे इषुनिधानार्थं तूणीराख्यं पात्रं तिष्ठति तर्हि कदाचित् स निरस्तं धनुः धनुःसाधनानि च पुनरुद्भावयितुं स्मरेत। तस्मात् तूणीरस्य नाम इषुनिधानस्य सत्त्वे मनसि भयं भवत्येव प्रार्थयितुः।

अत एव एकस्मिन् मन्त्रे तस्येषुधेः दूरे स्थापनं स्पष्टमेव प्रार्थ्यते यथा—

अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम् ॥ (मा० सं० १६१२) इति।

वि शल्यो बाणवाँ उत ॥ (मा० सं० १६।१०) इति।

हे रुद्र तव तूणीरं शल्यरहितं बाणरहितं च भूयात्। विगताभिप्रायस्य 'वि' इत्युपसर्गस्य शल्यबाणशब्दाभ्यामुभाभ्यामावृत्या योगः। एवमनया प्रार्थनमा 'इषुधि' पदार्थस्य अव्यवहार्यतया धनुषो यक्ष्मा निवर्त्यते।

[७] सञ्जा

देवस्य शरीरे प्रयोगोपयुक्तावयवेषु धनुषः स्थितिरपि भयावहा भवतीति मन्त्रेषु शरीरस्य प्रयोगोपयुक्तावयवेषु धनुषः स्थित्यभावो धनुषः अवतारणप्रार्थनया काम्यते यथा—

'अवतत्य धनुष्ट्वं······शिवो नः सुमना भव' (मा० सं० १६।१३) इति।

एवमियं सप्तमी धनुषो यक्ष्मविधा व्यावर्त्यते।

उपसंहारः

तस्यैतस्य रुद्रधनुषः अनुपद्रवकारिस्वरूपमयक्ष्मत्वं कथं भवतीत्यर्थे मन्त्रवचनमेवं ज्ञापयति यन्मङ्गलाशंसिभिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिरेवेदं रुद्रधनुषोऽयक्ष्मत्वं तदीयेनैवाभिलाषेण भवति। ततश्च लोकोऽपि सर्वः अयक्ष्मा (अनुपद्रुतः) सुमनाश्च भवतीति। तथा हि मन्त्रः—

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज् जगदयक्ष्मं सुमना असत् ॥ (मा० सं० १६।४) इति-।

एवमयं मया स्पष्टं विश्लिष्टः, मन्त्रेषु प्रतिभासमानो धनुषो यक्ष्मा भगवतो रुद्रदेवस्य कृपया वैदिकधर्मानुयायिनोऽस्माननधिकुर्वन् क्षेमेण लोकं संयोजयेदिति शिवम्।

जैन दर्शनमें अर्थाधिगम चिन्तन

दरबारीलाल कोठिया
संस्कृत महाविद्यालय

अन्तः और बाह्य पदार्थों के ज्ञापक साधनों पर प्रायः सभी भारतीय दर्शनों में विचार किया गया है और सबने अर्थाधिगम का साधन एकमात्र प्रमाण को स्वीकार किया है। **'प्रमाणाधीना हि प्रमेयव्यवस्था'**, **'मानाधीना हि मेयस्थितिः'**, **'प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि'** जैसे प्रतिपादनों द्वारा यही बतलाया गया है कि प्रमाण ही प्रमेय की सिद्धि अथवा व्यवस्था या ज्ञान का साधन है, अन्य कोई नहीं।

जैन दर्शन में अर्थाधिगम के साधन : प्रमाण और नय :

पर जैन दर्शन में प्रमाण के अतिरिक्त नय को भी पदार्थों के अधिगम का साधन माना गया है। दर्शन के क्षेत्र में अधिगम के इन दो उपायों का निर्देश हमें प्रथमतः **'तत्त्वार्थसूत्र'** में मिलता है। तत्त्वार्थसूत्रकार ने लिखा है[1] कि तत्त्वार्थ का अधिगम दो तरह से होता है :—१. प्रमाण से और २. नय से। उनके परवर्ती सभी जैन विचारकों का भी यही मत है। यहाँ उन्हीं के सम्बन्ध में कुछ विचार किया जाता है।

प्रमाण :

अन्य दर्शनों में जहाँ इन्द्रियव्यापार, ज्ञातृव्यापार, कारकसाकल्य, सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माना गया है और उनसे ही अर्थ-प्रमिति बतलाई गई है वहाँ जैन दर्शन में स्वार्थ-व्यवसायि ज्ञान को प्रमाण कहा गया है और उसके द्वारा अर्थ-परिच्छित्ति स्वीकार की गई है। इन्द्रिय-व्यापार आदि को प्रमाण न मानने तथा ज्ञान को प्रमाण मानने में जैन चिन्तकों ने यह युक्ति दी है कि ज्ञान अर्थ-प्रमिति में अव्यवहित—साक्षात् करण है और इन्द्रियव्यापार आदि व्यवहित—परम्परा करण हैं तथा अव्यवहित करण को ही प्रमाजनक मानना युक्त है, व्यवहित को नहीं। उनकी दूसरी युक्ति यह है कि प्रमिति अर्थ-प्रकाश अथवा अज्ञान-निवृत्तिरूप है वह ज्ञान द्वारा ही सम्भव है, अज्ञानरूप इन्द्रियव्यापार आदि के द्वारा नहीं। प्रकाशद्वारा ही अन्धकार दूर होता है, घटपटादिद्वारा नहीं। तात्पर्य यह कि जैन दर्शन में प्रमाण ज्ञानरूप है और वही अर्थ-परिच्छेदक है।

---

[1] 'प्रमाणनयैरधिगमः' तत्त्वार्थसू० १-६।

[2] (क) 'तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ञानं स्याद्वादनय-संस्कृतम्॥'
समन्तभद्र, आप्तमी० का० १०१।

(ख) 'प्रमाणनयाभ्यां हि विवेचिता जीवादयः सम्यगधिगम्यन्ते।
तद्व्यतिरिकेण जीवाद्यधिगमे प्रकारान्तरासम्भवात्।'
अभिनव धर्मभूषण, न्यायदी० पृ० ४।

प्रमाण से दो प्रकार की परिच्छित्ति होती :—१. स्पष्ट (विशद) और २. अस्पष्ट (अविशद)। जिस ज्ञान में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि पर की अपेक्षा नहीं होती वह ज्ञान स्पष्ट होता है तथा असन्दिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होता है। जैन दर्शन में ऐसे तीन ज्ञान स्वीकार किये गये हैं। वे हैं अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। इन तीन ज्ञानों को मुख्य अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहा गया है।[१] पर जिन ज्ञानों में इन्द्रिय, मन, प्रकाश आदि परकी अपेक्षा रहती हैं वे ज्ञान अस्पष्ट होते हैं तथा जितने अंशों में वे व्यवहाराविसंवादी होते हैं उतने अंशों में वे असन्दिग्ध, अविपरीत एवं निर्णयात्मक होते हैं, शेष अंशों में नहीं। ऐसे ज्ञान दो हैं :—१ मति और २ श्रुत। इन दोनों ज्ञानों में परकी अपेक्षा होने से उनकी परोक्ष संज्ञा है।[२] स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम जैसे परापेक्ष ज्ञानों का समावेश इसी परोक्ष (मति और श्रुत) में किया गया है।[३] इस तरह परोक्ष और प्रत्यक्षरूप इन मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान से अर्थाधिगम होता है। स्मरण रहे कि इन्द्रियादि की अपेक्षा से होने वाले चाक्षुष आदि ज्ञान प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोकसंव्यवहार के कारण होते हैं और उन्हें लोक में 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। अतः इन ज्ञानों को लोकव्यवहार की दृष्टि से जैन चिन्तकों ने सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहा है। वैसे वे हैं परोक्ष ही।

अर्थाधिगम का हेतु नय, और प्रमाण से उसका कथंचित् पार्थक्य :

अब प्रश्न है कि नय भी यदि अर्थाधिगम का साधन है तो वह ज्ञानरूप है या नहीं? यदि ज्ञानरूप है तो वह प्रमाण है या अप्रमाण? यदि प्रमाण है तो उसे प्रमाण से पृथक् अर्थाधिगम का उपाय बताने की क्या आवश्यकता थी? अन्य दर्शनों की भाँति एकमात्र 'प्रमाण' को ही अधिगमोपाय बताना पर्याप्त था? यदि अप्रमाण है तो उससे यथार्थ अर्थाधिगम कैसे हो सकता है, अन्यथा संशयादि मिथ्याज्ञानों से भी यथार्थ अर्थाधिगम होना चाहिए? और यदि नय ज्ञानरूप नहीं है तो उसे सन्निकर्षादि की तरह ज्ञापक स्वीकार नहीं किया जा सकता?

ये कतिपय प्रश्न हैं, जो नय को अर्थाधिगमोपाय मानने वाले जैन दर्शन के सामने उठते हैं। जैन मनीषियों ने इन सभी प्रश्नों पर बड़े ऊहापोह के साथ विचार किया है।

इसमें सन्देह नहीं कि नय को अर्थाधिगमोपाय के रूप में अन्य दर्शनों में स्वीकार नहीं किया गया है और जैन दर्शन में ही उसे अंगीकार किया गया है। वास्तव में **'नय'** ज्ञान का एक अंश है[४] और इसलिए वह न प्रमाण है और न अप्रमाण, किन्तु ज्ञानात्मक प्रमाण का एक देश है। जब ज्ञाता या वक्ता ज्ञान द्वारा या वचनों द्वारा पदार्थ में अंशकल्पना करके उसे ग्रहण करता है तो उसका वह ज्ञान अथवा वचन नय कहा जाता है और

---

[१], [२] 'मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलानि ज्ञानम्', 'तत्प्रमाणे', 'आद्ये परोक्षम्', 'प्रत्यक्षमन्यत्'—तत्त्वार्थसू० १-९, १०, ११, १२।

[३] 'मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताभिनिबोध इत्यनर्थान्तरम्'
तत्त्वार्थसू० १-१३।

[४] 'प्रमाणैकदेशाश्च नयाः……' पूज्यपाद, सर्वार्थ० १-३२।

जब पदार्थ में अंशकल्पना किये विना उसे समग्र रूप में ग्रहण करता है तब वह ज्ञान प्रमाण रूप से व्यवहृत होता है। ऊपर हम देख चुके हैं कि मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल इन पाँच ज्ञानों को प्रमाण कहा गया है और उन्हें प्रत्यक्ष तथा परोक्ष इन दो भेदों (वर्गों) में विभक्त किया गया है। जिन ज्ञानों में विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है उन्हें परोक्ष तथा जिनमें विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिविम्बित होता है उन्हें प्रत्यक्ष निरूपित किया गया है। मति और श्रुत इन दो ज्ञानों में विषय अस्पष्ट एवं अपूर्ण झलकता है, इसलिए उन्हें 'परोक्ष' कहा है तथा शेष तीन ज्ञानों (अवधि, मनःपर्यय और केवल) में विषय स्पष्ट एवं पूर्ण प्रतिफलित होता है,[1] अतः उन्हें **'प्रत्यक्ष'** प्रतिपादन किया है।

प्रतिपत्ति-भेद से भी प्रमाण-भेद का निरूपण किया गया है। यह निरूपण हमें पूज्यपाद-देवनन्दि की सर्वार्थसिद्धि में उपलब्ध होता है। पूज्यपाद ने लिखा है[2] कि प्रमाण दो प्रकार का है :—१. स्वार्थ और २. परार्थ। श्रुतज्ञान को छोड़कर शेष चारों मति, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान स्वार्थ-प्रमाण हैं, क्योंकि उनके द्वारा स्वार्थ (ज्ञाता के लिए) प्रतिपत्ति होती है, परार्थ (श्रोता या विनेय जनों के लिए) नहीं। परार्थ प्रतिपत्ति के तो एकमात्र साधन वचन है और ये चारों ज्ञान वचनात्मक नहीं हैं।— किन्तु श्रुत-प्रमाण स्वार्थ और परार्थ दोनों प्रकार का है। ज्ञानात्मक श्रुत प्रमाण को स्वार्थ-प्रमाण कहते हैं और वचनात्मक श्रुत प्रमाण को परार्थ-प्रमाण कहा गया है। वस्तुतः श्रुत-प्रमाण के द्वारा स्वार्थ-प्रतिपत्ति और परार्थ प्रतिपत्ति दोनों होती हैं। ज्ञानात्मक श्रुत-प्रमाण द्वारा स्वार्थ प्रतिपत्ति और वचनात्मक परार्थ-श्रुत-प्रमाण द्वारा परार्थ प्रतिपत्ति होती है। ज्ञाता-वक्ता जव किसी वस्तु का दूसरे को ज्ञान कराने के लिए शब्दोच्चारण करता है तो वह अपने अभिप्रायानुसार उस वस्तु में अंश-कल्पना—पट, घट काला, सफेद, छोटा, वड़ा आदि भेदों द्वारा उसका श्रोता या विनेयों को ज्ञान कराता है। ज्ञाता या वक्ता का वह शब्दोच्चारण उपचारतः वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण है और श्रोता को जो वक्ता के शब्दों से वोध होता है वह वास्तव परार्थ श्रुत-प्रमाण है तथा ज्ञाता या वक्ता का जो अभिप्राय रहता है और जो अंशग्राही है वह ज्ञानात्मक स्वार्थ श्रुतप्रमाण है। निष्कर्ष यह कि ज्ञानात्मक स्वार्थश्रुत-प्रमाण और वचनात्मक परार्थ श्रुतप्रमाण दोनों नय हैं। यही कारण है कि जैन दर्शनग्रन्थों में ज्ञान-नय और वचन-नय के भेद से दो प्रकार के नयों का भी विवेचन मिलता है[3]।

---

[1] 'तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥'

अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसि० का० १।

[2] "तत्र प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्जम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थं च। ज्ञानात्मकं स्वार्थं वचनात्मकं परार्थम्। तद्विकल्पा नयाः।"—पूज्यपाद, सर्वार्थसि० १-६।

[3] "ततः परार्थाधिगमः प्रमाणनयैर्वचनात्मभिः कर्तव्यः स्वार्थ इव ज्ञानात्मभिः प्रमाणनयैः, अन्यथा कात्स्न्येनैकदेशेन तत्वार्थाधिगमानुपपत्तेः।"

विद्यानन्द, तत्वार्थश्लोकवा० पृ० १४२।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नय श्रुत-प्रमाण का अंश है, वह मति, अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञान का अंश नहीं है, क्योंकि मत्यादि द्वारा ज्ञात सीमित अर्थ के अंश में नय की प्रवृत्ति नहीं होती। नय तो समस्त पदार्थों के अंशों का एकैकशः निश्चायक है, जबकि मत्यादि तीनों ज्ञान उनको विषय नहीं करते। यद्यपि केवलज्ञान उन समस्त पदार्थों के अंशों में प्रवृत्त होता है और इसलिए नय को केवलज्ञान का अंश माना जा सकता है किन्तु नय तो उन्हें परोक्ष-अस्पष्ट रूप से जानता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष (स्पष्ट) रूप से उनका साक्षात्कार करता है। अतः नय केवलमूलक भी नहीं है। वह सिर्फ परोक्ष श्रुतप्रमाण मूलक ही है।[१]

अतएव नय न अज्ञानरूप है, न प्रमाणरूप है और न अप्रमाणरूप। अपितु प्रमाण का एक देश है। इसी से उसे प्रमाण से पृथक् अधिगमोपाय निरूपित किया गया है। अंश-प्रतिपत्ति का एकमात्र साधन वही है। अंशी-वस्तु को प्रमाण से जानकर अनन्तर किसी एक अंश-अवस्था द्वारा पदार्थ का निश्चय करना नय कहा गया है[२]। प्रमाण और नय के

---

[१] "मतेरवधितो वापि मनःपर्ययतोपि वा।
ज्ञातस्यार्थस्य नांशेऽस्ति नयानां वर्तनं ननु ॥२४॥
निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वविनिश्चयात्।
तस्येति भाषितं कैश्चिद्युक्तमेव तथेष्टितः ॥२५॥

न हि मत्यवधिमनःपर्ययाणामन्यतमेनापि प्रमाणेन गृहीतस्यार्थस्यांशे नयाः प्रवर्तन्ते, तेषां निःशेषदेशकालार्थगोचरत्वात्, मत्यादीनां तदगोचरत्वात्। न हि मनोमतिरप्यशेषविषया करणविषये तज्जातीये वाप्रवृत्तेः।

त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वृत्तितः।
केवलज्ञानमूलत्वमपि तेषां न युज्यते ॥२६॥
परोक्षाकारतावृत्तेः स्पष्टत्वात् केवलस्य तु।
श्रुतमूला नयाः सिद्धा वक्ष्यमाणाः प्रमाणवत् ॥२७॥

यथैव हि श्रुतं प्रमाणमधिगमजसम्यग्दर्शननिवन्धनतत्त्वार्थाधिगमोपायभूतं मत्यवधिमनःपर्ययकेवलात्मकं च वक्ष्यमाणं तथा श्रुतमूला नयाः सिद्धास्तेषां परोक्षाकारतया वृत्तेः। ततः केवलमूला नयास्त्रिकालगोचराशेषपदार्थांशेषु वर्तनादिति न युक्तमुत्पश्यामस्तद्वृत्तेषां स्पष्टत्वप्रसंगात्।"
विद्यानन्द, तत्वार्थश्लो० १-६, पृ० १२४।

[२] (क) "एवं हि उक्तम्—"प्रगृह्य प्रमाणतः परिणतिविशेषादर्थावधारणं नयः।"
सर्वार्थसि० १-६।

(ख) "वस्तुन्यनेकान्तात्मन्यविरोधेन हि हेत्वर्पणात् साध्यविशेषस्य याथात्म्यप्रापणप्रवणः प्रयोगो नयः।"
—सर्वा० सि० १-३३।

पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करते हुए जैन मनीषियों ने कहा है[१] कि प्रमाण समग्र को विषय करता है और नय असमग्र को।

प्रखर तार्किक विद्यानन्द ने तो उपर्युक्त प्रश्नों का युक्ति एवं उदाहरण द्वारा समाधान करके प्रमाण और नय के पार्थक्य का बड़े अच्छे ढंग से विवेचन किया है। वे जैन दर्शन के मूर्धन्य ग्रन्थ अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहते हैं[२] कि नय न प्रमाण है और न अप्रमाण, अपितु प्रमाणैकदेश है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार समुद्र से लाया गया घड़ा भर पानी न समुद्र है और न असमुद्र, अपितु समुद्रैकदेश है। यदि उसे समुद्र मान लिया जाय तो शेष सारा पानी असमुद्र कहा जायगा, अथवा बहुत समुद्रों की कल्पना करनी पड़ेगी। यदि उसे असमुद्र कहा जाय तो शेषांशों को भी असमुद्र कहा जायेगा और उस हालत में समुद्र का व्यवहार कहीं भी नहीं होगा। ऐसी स्थिति में किसी को 'समुद्र का ज्ञाता' नही कहा जायगा।

अतः नय को प्रमाणैकदेश मानकर उसे जैनदर्शन में प्रमाण से पृथक् अधिगमोपाय बताया गया है। वस्तुतः अल्पज्ञ ज्ञाता और श्रोता की दृष्टि से उसका पृथक् निरूपण अत्यावश्यक है। संसार के समस्त व्यवहार और वचन-प्रवृत्ति नयों के आधार पर ही चलते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक-एक अंश को जानना या कहकर दूसरों को जनाना नय का काम है और उस पूरी वस्तु को जानना प्रमाण का कार्य है। यदि नय न हो तो विविध प्रश्न, उनके विविध समाधान, विविध वाद और उनका समन्वय आदि कोई भी नहीं बन सकता। स्वार्थ प्रमाण गूंगा है। वह बोल नहीं सकता और न विविध वादों एवं प्रश्नों को सुलझा सकता है। वह शक्ति नय में ही है। अतः जैन दर्शन की नयवाद एक विशेष उपलब्धि है और भारतीय दर्शन को अनुपम देन है।

उपसंहार :

वस्तु अनेक धर्मात्मक है, उसका पूरा बोध हम इन्द्रियों या वचनों द्वारा नहीं कर सकते। हां, नयों के द्वारा एक-एक धर्म का बोध करते हुए अनगिनत धर्मों का ज्ञान कर सकते हैं। वस्तु को जब द्रव्य या पर्यायरूप, नित्य या अनित्य, एक या अनेक आदि कहते हैं तो उसके एक-एक अंश का ही कथन या ग्रहण होता है। इस प्रकार का ग्रहण नय द्वारा ही संभव है, प्रमाण द्वारा नहीं। प्रसिद्ध जैन तार्किक सिद्धसेन ने नयवाद की आवश्यकता पर

---

[१] (क) 'सकलादेशः प्रमाणाधीनो विकलादेशो नयाधीनः'।—स० सि० १-६।
(ख) 'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं, तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृतिः ॥' अष्टस० पृ० २९०।

[२] (क) नाप्रमाणं प्रमाणं वा नयो ज्ञानात्मको मतः।
स्यात्प्रमाणैकदेशस्तु सर्वथाप्यविरोधतः ॥ —त० श्लो० पृ० १२३।
(ख) 'नायं वस्तु न चावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते यतः।
नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथोच्यते ॥
तन्मात्रस्य समुद्रत्वे शेषांशस्यासमुद्रता।
समुद्रबहुत्वं वा स्यात्तच्चेत्कोस्तु समुद्रवित् ॥ —त० श्लो० पृ० ११८।

बल देते हुए लिखा है[१] कि जितने वचन-मार्ग हैं उतने ही नय हैं। मूल में दो नय स्वीकार किये गये हैं :[२]—१. द्रव्यार्थिक और २. पर्यायार्थिक। द्रव्य, सामान्य, अन्वय का ग्राहक द्रव्यार्थिक और पर्याय, विशेष, व्यतिरेक का ग्राही पर्यायार्थिक नय है। द्रव्य और पर्याय ये सब मिलकर प्रमाण का विषय हैं। इस प्रकार विदित हैं कि प्रमाण और नय ये दो वस्तु-अधिगम के साधन हैं और दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में वस्तु के ज्ञापक एवं व्यवस्थापक हैं।

---

[१] 'जावइया वयणपहा तावइया चेव होंति णयवाया' —सन्मतितर्क ३-४७

[२] 'नयो द्विविधः, द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च। पर्यायार्थिकनयेन भावतत्त्वमधिगन्तव्यम्, इतरेषां त्रयाणां द्रव्यार्थिकनयेन, सामान्यात्मकत्वात्। द्रव्यमर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ। द्रव्यार्थिकः पर्यायोऽर्थः प्रयोजनमस्येत्यसौ पर्यायार्थिकः तत्सर्वं समुदितं प्रमाणे नाधिगन्तव्यम्।' सर्वार्थसि० १-३३।

घन आनंद की पंजाबी कविता

डॉ० नवरत्न कपूर

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'घन आनंद' शीर्षक ग्रंथ में घन आनंद विरचित कृतियों के संपादन के प्रसंग में 'आनंद घन'[1] नामक तीन व्यक्तियों का उल्लेख किया है; जो निम्नलिखित हैं :—

१. नंदगाँववासी आनंदघन (सोलहवीं शती का उत्तरार्ध)
२. जैन आनंदघन (सत्रहवीं शती का उत्तरार्ध)
३. वृंदावनवासी आनंदघन (अठारहवीं शती का उत्तरार्ध)

इनमें से वृंदावनवासी आनंदघन ही हिंदी के विख्यात कवि 'घन आनंद' माने जाते हैं। किंतु डॉ० केशरी नारायण शुक्ल ने गुरु गोविंद सिंह की शिष्य परंपरा में श्री रामदास के चेले आनंदघन उदासी को घन आनंद से संबद्ध 'इश्क-लता' और 'पदावली' के पंजावी पदों के कृतित्व का श्रेय प्रदान करने की सिफारिश की है[2]।

ये उदासी आनंदघन 'जपजी' के टीकाकार हैं[3]। श्री मेकॉलिफ ने उन्हें गुरु नानक जीवन-चरित का रचयिता भी बताया है[4]। सेंट्रल पब्लिक लाइब्रेरी पटियाला में हमें आनंदघन उदासी की 'आरति सोहिला सटीक', 'सिध गोसटि सटीक', 'रागमाला कली आनंद सटीक' की हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। इन ग्रंथों में व्यक्त भावों से ये निर्गुण-मार्गी विचारक ही सिद्ध होते हैं। इसके विपरीत हिंदी कवि 'घनआनंद' कृष्ण और राधा के प्रेमी हैं।

घनआनंद के काव्य में वर्णित अनेक ऐसे स्थल हैं जो भावसाम्य, वर्णन साम्य एवं शब्द साम्य की दृष्टि से 'इश्कलता' एवं 'पदावली' से मेल खाते हैं :

(क) भाग्य की प्रशंसा

१. मैया महरि जसोमति रानी। भागनि भरी बिधाता बानी ।।५।। गोकुलगीत
२. नैन बैन मन सों समोय राख्यौ बड़भागी ।।५५।। वृंदावनमुद्रा
३. आनंदघन बड़ा तिना दा भाग जिना नाल तुसी वो मोहबत जोड़ै ।।५४७।। पदावली

---

[1] श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : घन आनंद (प्रबोधिनी संस्करण, २००९), पृष्ठ ६७ (वाङ्मुख)।

[2-3] श्री नरेंद्रदेव प्रभृति : संपूर्णानंद अभिनंदन ग्रंथ [डॉ० केशरी नारायण शुक्लः आनंदघन की एक हस्तलिखित प्रति], पृष्ठ २७९ (नागरी प्रचारिणीसभा, २००७)

[4] एम० ए० मेकॉलिफः दि सिक्ख रेलेजन, वाल्यूम १ (क्लेरेंडन प्रेस, ऑक्सफोर्ड) पृष्ठ ७१ (भूमिका)

(ख) प्रेमभाजन की निर्दयता

१. आनँद के घन लखें अनलखें दुहूँ ओर
दईमारी हारी हम आप हौ निरदई ॥३८०॥ सुजान हित

२. जिगर जान महबूब अमाने की बेदरदी दैंदा है ॥१८॥ इश्क-लता

३. आनँदघन निरमोहिया, मोह्यौ सगरो गाम ॥२८॥ इश्क-लता

(ग) चातक और मेघ की उपमा

१. आरतिवंत पपीहन कों घनआनँद जू पहचानौ कहा तुम ॥४०४॥ सुजानहित

२. सदा सनमुखो सब दिन दरसै। मद हसनि आनँदघन बरस ॥७५॥
दृग-चकोर चित-चातक पोषै। अगनित कला बढ़ावत तोषै ॥७६॥ बिचार-सार

३. आनंदघन हो प्रान-पपीहा निसदिन सुध न बिसारी है ॥१८॥ इश्क-लता

४. ब्रजमोहन आनँदघन प्यारिया निपट गरीब पपीहाँ नू पाल ॥४६७॥ पदावली

(घ) सौगंध लेने की प्रवृत्ति

१. तेरी सौं एरी सुजान तो आँखिन देखि ये आँखि न आवति मोपै ॥१८५॥ सुजानहित

२. भईं सूघी सुनौ बाँकेविहारी।
न करिहैं मान फिरि सौं हैं तिहारी ॥५१॥ वियोग-बेलि

३. तुम्हारी सौं मोहिं तुम बिना कछू न भावै ॥५॥ पदावली

(ङ) रचना का नामकरण

१. सरस वसंत प्रीति की गोभा। प्रगटित होत विराजत शोभा ॥२०॥ सरसवसंत

२. प्रगट प्रेम पद्धति कही लही कृपा अनुसार ॥१०९॥ प्रेमपद्धति

३. दानघटा मिलि छबि छटा रस धारनि सरसाय ॥१४॥ दानघटा

४. कृष्ण कौमुदी नाम यह मोहन मधुर प्रबंध ॥८४॥ कृष्ण कौमुदी

५. सब विचार को सार है या निबंध को गान ॥८७॥ विचार सार

६. विरह सूल सों वारि करि, घन आनँद सों सीच।
इस्कलता झालरि रही, हिये चिमन के बीच ॥५॥ इश्क-लता

(च) त्योहारों का वर्णन

१. फागुन महीना की कही ना परैं बातैं दिन-
रातैं जैसें बीतत सुने ते डफ-घोर कों ॥४११॥ सुजानहित

२. बोलै हो हो होरी घनआनँद उमंग-बोरी,
छैल-मति छकै छबि हेरें रदछद की ॥८९॥ प्रेम पत्रिका

३. गावति हैं ब्रजनारि फाग रँगबोरियाँ।
आनँद-जीवन ज्यान सु हो हो होरियाँ ॥१२॥ इश्कलता

(छ) विषय, भाव और शब्द-साम्य

१. हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानैं ।
नीर सनेही को लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानैं ।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानैं ।।४।। सुजानहित

२. हीन भए जल मीन छीन बुधि मैंडी परि न पावै है ।
लाय कलंक यार अपने कूँ तैं ही छिन मरि जावै है ।
आनँदघन इस दिल दी बेदन लहै सुजान बिहारी है ।।४१।। इश्कलता

अतः स्पष्ट हो जाता है कि 'इश्कलता' एवं 'पदावली' के पंजाबी पदों का प्रणेता वही व्यक्ति है जिसने 'कृष्ण कौमुदी', 'दानघटा', 'प्रेंम-पत्रिका', 'सरस वसंत', 'विचारसार', प्रभृति की रचना की है । वह है घन आनन्द (अथवा आनन्द घन), जो वृन्दावन में काव्य-सर्जन किया करता था, वह उदासी साधु आनन्द घन से पृथक व्यक्ति है ।

'इश्कलता' और 'पदावली' के हस्तलेख

छतरपुर राज्य-पुस्तकालय के विशाल ग्रन्थ में 'घन आनन्द' की 'पद' शीर्षक रचना का उल्लेख तो हुआ था, किन्तु 'इश्कलता' उसमें संकलित नहीं थी । तभी मिश्रबन्धुओं ने 'मिश्रबन्धु विनोद' (द्वितीय संस्करण) में घन आनन्द की कृतियों की नामावली में 'इश्कलता' को स्थान नहीं दिया था । इसी अभाव के कारण श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'इश्कलता' के विषय में 'घन आनन्द और आनन्दघन' की भूमिका (पृष्ठ २२) में लिखा था :

"यदि उक्त ग्रन्थ (छतरपुर के राजपुस्तकालय का ग्रन्थ) नष्ट न हो गया हो तो मुझे अभी उसके मिलने की पूरी आशा और विश्वास है ।"

श्री केसरी नारायण शुक्ल द्वारा प्रकाशित लन्दन संग्रहालय के हस्तलेख विभाग की प्रति में भी 'पदावली' का नाम तो आया है, पर 'इश्कलता' वहाँ भी लुप्त है ।

'घन आनन्द और आनन्दघन' के प्रकाशन के बाद निंबार्क माधुरी के सम्पादक श्री बिहारीशरण जी द्वारा प्रदत्त एक प्राचीन हस्तलेख के आधार पर श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'इश्क-लता' को भी 'घन आनन्द' की रचनाओं में संगृहीत कर लिया है । 'पद' शीर्षक कृति का उल्लेख भी बिहारीशरण जी वाले हस्तलेख में हुआ है ।

नागरी प्रचारिणीसभा, काशी की संवत् २००० तक की खोज के विवरणों में 'इश्कलता' के दो हस्तलेखों (१२-४९ तथा ३२-७ ए) तथा 'आनन्दघन जू की पदावली' के अभिधांतर्गत 'पदावली' के दो हस्तलेखों (२६-११ बी, दि० ३१-६) की सूचना मिलती है मिश्र जी को 'आनंदघन जू की पदावली' के दोनों हस्तलेखों में समानता दिखाई पड़ी है, किंतु उन्हें 'इश्क़लता' की एक ही प्रति उपलब्ध हो सकी है ।[1]

'इश्क-लता' की एक अन्य प्रति

आनंदघन विरचित 'इश्क-लता' की गुरुमुखी लिखित एक हस्तलिखित प्रति का हमें

---

[1] श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : घन आनंद (प्रबोधिनी संस्करण, सं० २००९), पृष्ठ ७१ ।

पता चला है, जो पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर के पुस्तकालय में सुरक्षित थी। वहाँ के अधिकारियों से पत्र व्यवहार करने पर उसकी अनुपलब्धि (नॉन अवेलोबिलिटी) का समाचार ही हाथ लगा है। डॉ० दीवाना ने उस प्रति के कुल आठ छंद प्रकाशित किए हैं[१] :—

नागरीकरण करते समय हमने गुरुमुखी वर्णों के प्रयोग का पूरा ध्यान रखा है। उदाहरणार्थ 'न्यारी' शब्द 'नयारी' (वृत्त १) तथा निपारी (वृत्त २) लिखा गया है। हमने ऐसे शब्दों को डॉ० दीवाना वाली प्रति के अनुरुप ही रखा है।

---

[१] अहो अहो नंद साँवरे छिन छिन बानिक नयारी है।
ओढ़ैं जरद दुशाला यारा केसर की सी किआरी है।
आनंद घन हित पिआरे जानी मूरत लगदी पिआरी है।
महर लहिर ब्रिज नंद यार दी जिंद असाडी यारी है ।।१।।

× × ×

सजन सनेही यार नंद दे एती किआ मगरूरी है।
दरदवंद दरसन की खातर वंदी हुकम हजूरी है।
ब्रिज मोह घन आनंद तैंडी निपट अटपटी निआरी है।
महर लहर ब्रिज चंद यार दी जिंद असाडी यारी है ।।२।।

× × ×

यारा गोकुल चंद सलोने दीआ चशमाँ दा धक्का है।
टोर दिआ घन आनंद जानी हुसन शराबी यक्का है।
सैन कटारी आशक उप्पर तैं यारा झुकि झारी है।
महर लहर ब्रिज चंद यार दी जिंद असाडी यारी ह ।।३।।

× × ×

नंद महर दा कुवर कनय्या मैंडा जीवन जानी है।
बिसरै नहीं रैन दिन जीअ सै पयारी प्रीतम प्रानी है।
दीजै यही असां नूँ झाँकी अनंद घन गिरधारी है।
महर नंद दा कुवर कनय्या मैंडा जीवन ज्यारी है ।।४।।

× × ×

दिल पसंद दिलदार यार तूँ मुझ नूँ की तरसाँदा हैं।
रात दिहाड़े तलब तुसाडी अक्कल इलम उडाँदा हैं।
मैंनूं धिआन आन नहि जानी तूँ घन कुंज बिहारी हैं।
महर लहर ब्रिज चंद यार दी जिंद असाडी यारी है ।।५।।

× × ×

घन नूँ क्यों करि गहि सकों घन आनंद पीआ।
मैं तैंडी लटकनि फंदिआ किआ तुझ नूँ कीआ।
क्यों महिबूब सुजान तै अब औरैं कीआ।
मैंडा दिल तों ने अंवें क्यों मुस कै लीआ ।।६।।

× × ×

मिश्र जी द्वारा संपादित 'घन आनंद' में संकलित 'इश्कलता' से तुलना करने पर उपर्युक्त वृत्तों का यह क्रम हैं : १४, १५, १६, २०, १९, २३, २४। यह क्रम-परिवर्तन डॉ० दीवाना की देन नहीं, संभवतः गुरुमुखी वाली प्रति की निजी विशेषता है। गुरुमुखी वाली प्रति में घन आनंद द्वारा प्रयुक्त छंदों के नाम भी थोड़े भिन्न हैं—मझान ('माँझ' के स्थान पर) तथा निशानी ('निसानी' के स्थान पर)[1]। अनुसार, इ, ई, ऐ के चिह्नों (मात्राओं) के प्रयोग में तो लिपिकर्ता ने छूट ली ही है। पुरुषवाचक संज्ञाओं का पंजाबी उच्चारण के अनुरूप परिवर्तन करने में भी उसने संकोच नहीं किया है, जैसे—कनय्या (कन्हैया) तथा ब्रिजमोहन (ब्रजमोहन)। विशेष दृष्टव्य है गुरुमुखी लिपि वाले चौथे वृत्त का चौथा चरण—

"महर नंद दा कुवर कनय्या मैंडा जीवन ज्यारी है।"

मिश्र जी वाली प्रति में (वृत्त २०, चरण ४) इसी स्थान पर इस प्रकार है—

"महर लहर ब्रजचंद यार दी जिंद आसाडी ज्यारी है।"

लिपिकर्ता की ऐसी दो चार भूलें नगण्य ही हैं। तब भी 'इश्कलता' का गुरुमुखी लिप्यांतरित जितना अंश हमारे समक्ष आया है उसके आधार पर घनआनंद की 'इश्क-लता' की प्रामाणिकता सिद्ध करवाने के लिए हम डॉ० दीवाना के उपकृत हैं।

वर्ण्य-विषय—'इश्क-लता' में प्रिय के मुग्धकारी रूप तथा उसके वियोग से उद्भूत विरह विदग्धता एवं उसके प्रति अटूट प्रेम का वर्णन हुआ है। डॉ० गौड़ के अनुसार :

"प्रेमी कवियों में प्रेम का बाग लगाने की रीति सी है[2]। उसी परंपरा का इसमें अनुसरण है। उर्दू फारसी की शैली तथा शब्द प्रयोग से आशिकाना शैली की रचना लगती है। चमन, बुलबुल आदि वर्ण्य विषय फारसी के हैं।"[3]

चर लिआ चित चाह तैं घन आनंद जानी।
मैंडा दिल तैं मोहि कै उर औरहि ठानी।
इशक सहर के बची है एह अकह कहानी।
अलकों सों बाँधे रहैं महिबूब गुमानी ।।७।।

× × ×

कया कहीए ब्रिज मोहना तू मानै नाही।
तूँ ही जानेगा अबै अपने दिल माही।
घन आनंद नित हीं जियै नहि कीजै नाही।
अखीआं तैंडी चुभि रही मैंडे दिल माँही ।।८।।

× × ×

[1] डॉ० मोहन सिंह दीवाना : ए हिस्ट्री ऑव पंजाबी लिट्रेचर (द्वितीय संस्करण, जून १९५६), पृष्ठ ७१।

[2] गौड़ जी का अभिप्राय रसखान की 'प्रेमवाटिका' और नागरीदास के 'इश्क चमक' से है।

[3] डॉ० मनोहरलाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा (प्रथम संस्करण, २०१५) पृष्ठ ७०।

घनआनंद के समकालीन श्री आनंदराम 'मुखलिस',[1] जो कि मुहम्मदशाह रंगीले के वजीर कमरुद्दीन (१७२४-१७४८ ई०) के वकील थे, की ख्याति भी फारसी कवियों में काफी फैली हुई थी। उन्होंने 'हंगामा-ए-इश्क' तथा 'कारनामा-ए-इश्क' में मानवी प्रेमी-प्रेमिका को आधार बनाकर अपनी रचना की थी। किंतु 'इश्क लता' में घन आनंद का प्रेम वायवी नहीं है, उसमें भक्ति की अतिशयता है। घन आनंद की कृति के भक्तिपरक होने की सूचना निम्नोक्त पंक्तियों में निबद्ध है:

> "इश्कलता ब्रजचंद की जो बांचै दै चित।
> बृंदावन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त ॥४४॥" इश्कलता

'इश्कलता' की रचना-प्रेरणा में 'मुखलिस' भी साधक हैं। इस बात का परिचय कवि के द्वारा व्यवहृत अपने प्रिय की नामावलि से भी प्राप्त होता है। 'मुखलिस' साहब का **'मिर्आत-इस्तलाहात'** फारसी शब्दों, मुहावरों, सूक्तियों आदि का कोश है। घन आनंद ने किसी स्वतंत्र रचना द्वारा अपनी कोश-कला-निपुणता का उदाहरण तो नहीं दिया, किंतु उनकी कृतियों के अध्ययन से राधा और कृष्ण के नामों का एक लघु कोश तैयार हो सकता है। प्रस्तुत कृति में प्रयुक्त विभिन्न नामों से व्यक्त होता है कि कवि के प्रिय कृष्ण ही इसके पात्र हैं। किंतु 'कृष्ण' शब्द स्पष्टतया कहीं भी नहीं आया है। उसके स्थान पर अन्य पर्यायों का उपयोग हुआ है, यथा:

(क) प्रचलित अभिधाएँ—छैल छवीलो साँवरो, गोपबधू चित-चोर, नंद किसोर, ब्रजचंद, रसिक बिहारी, नंद के लाडिले, हलधर दे बीर, कान्ह, कान, पीतांबरधारी, घन-कुंज-विहारी, गिरधारी, ब्रजमोहना, मोहन, सलोना।

(ख) पुरातन संज्ञाएँ, किंतु विशेषण नए—स्याम सुजान, सजन सलोना, मनमथ मोहना।

(ग) प्रिय के अर्थ में प्रयुक्त शब्द—चित-चोर, सजन, महबूब, जान, जानी, दिलजान, जीवन ज्यान, यारा, प्यारे, जिगर-जान, दिलपसंद, दिलदार, प्यारा प्रीतम प्रानी, लाडिले, महबूब गुमानी, सुचित के चाडिले, हित-प्यारे, सनेही।

(घ) दयालु व्यक्ति—महर-लहर ब्रजचंद, दरदबंद, गरीब-गिरंदा।

(ङ) समझदार—सुजान, मगजदार।

(च) नंद से संबंध सूचक शब्द कई जगह प्रयुक्त हुए हैं किंतु कई एक स्थलों पर भ्रम हो जाता है। उदाहरण दृष्टव्य हैं:

(१) सजन सलोना यार नंद दा सोहना ॥६॥

(२) अहो अहो नँद-नंद साँवरे.........॥१४॥

(३) सजन सनेही यार नंद दे एती क्या मगरूरी है ॥१५॥

---

[1] (क) सैयद सबाह-उल-दीन अब्दुल रहमान : बज़्म-ए-तैमूरिया (१९४८), पृष्ठ २१०।

(ख) सैयद रफ़ीक मारहरवी : हिंदुओं में उर्दू : दरबार-ए-नज़्म (प्रथम भाग), पृष्ठ १६४।

(४) रहौ सुखी महबूब नंद दे मनमाने तित जावौ जू ॥२१॥

(५) रहैं असानूँ चाव नँद दे तैंडडा ॥३०॥

(६) नंद महर दा कुँवर कन्हैया मैंडा जीवन जानी है ॥२०॥

तीसरे उद्धरण में 'यार' तथा चौथे में 'महबूब' शब्दों से इनका नंद के साथ संबंध होने का भ्रम होता है। किंतु पाँचवें से स्पष्ट हो जाता है कि तीसरे, चौथे और पाँचवें वृत्त में 'पुत्र' अथवा वही भाव बोधक कोई शब्द लुप्त है। पहले में 'नंद दा सोहणा' (नंद की आँखों को प्रिय लगने वाला), दूसरे में 'नँद-नंद-साँवरे' (नंद के साँवले पुत्र) तथा छठे में 'नंद महर दा कुँवर कन्हैया' (नंद महर का बालक कन्हैया) से अर्थ पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है।

नामानुरूप गुण—प्रिय साँवला होने पर भी सुंदर है[१]। वह मन को मस्त करने वाला, वय से किशोर है, किंतु है निर्दयी[२]। मुखड़े का तिल, मस्तक का तिलक, घुँघराली लटें[३], केसर की क्यारी सदृश शोभनीय पीतांबर[४], मुग्धकारी आँखें[५], वंशी की मोहिनी ध्वनि[६] उसके आकर्षण के कारण हैं। पीतांबर और वंशी के साथ मिलकर वनमाल ने उसे बिजली और इंद्रधनुष युक्त गर्जनकारी मेघ सदृश बना दिया है[७]। ऐसे रूपवान प्रेम-भाजन के प्रति आकृष्ट होने पर प्रेमी को किसी भी सांसारिक वस्तु की अभिलाषा नहीं रहती[८]। किंतु उसके रूपदर्शन को तृषित विरही प्रेमी विमोह ग्रस्त हो जाता है[९]। उसके चित्त में एकमात्र 'घन-कुंज-बिहारी' का ध्यान[१०] बना रहता है तथा उसके 'गिरधारी'[११] रूप के दर्शन की लालसा लगी रहती है।

---

[१] सजन सलोना यार नंद दा सोहना ॥६॥

[२] क्यों चितचोर किसोर हुवा वे पीर है ॥८॥

[३] तैंडे मुख पर तिल अबे अति खून करँदा।
अलकैं तैंडी यौं छुटी द्वै नागिन लसँदा।
तिलक बीच छापे अबे दिल का है फंदा ॥३६॥

[४] ओढे जरद दुसाला याराँ केसर की सी क्यारी है ॥१४॥

[५] अँखियाँ तैंडी चुभि रहीं मैंडे दिल माहीं ॥२५॥

[६] वंसी के बिच मोहिनी, मोहन याको नाम ॥२७॥

[७] बीज-छटा पदपीत घटा तन स्याम है।
इंद्रधनुप बनमाल लाल अभिराम है।
बंसी-धुनि घन-घोर रूप-जल छलमलै।
आनंद जीवन जान मेघ लौं झलमलै ॥३१॥

[८] व्रजमोहन घन आनँद जानी जद चस्मों विच आया है।
इस्क सराबी कीया मुजनूँ गहरा नसा पिलाया है।
तन मन और जिहान माल दी सुधि बुद्धि सबै बिसारी है ॥४०॥

[९] दिलपसंद दिलदार यार तू गुजनूँ की तरसाँदा है।
रत्ति-दिहाडे तलब तुसाडी अक्कल इलम उडाँदा है ॥१९॥

[१०] मैं नूँ ध्यान आन नहि जानी तू घन-कुंज-बिहारी है ॥१९॥

[११] बिसरै नहीं रैनदिन जी से प्यारा प्रीतम प्रानी है।
दीजै इन्ही असानूँ झाँकी आनँदघन गिरधारी है ॥२०॥

प्रेमी का व्यक्तित्व—प्रेमी कोई स्त्री नहीं वरन् पुरुष है। 'आशिक' (आसिक-उर पर जान चलाई करद है ॥७॥) तथा 'बंदा' (दरद बंद दरसन दी खातर बंदा हुकम हजूरी है ॥१५॥) से वह पुरुष ही प्रतीत होता है। प्रिय के लिए प्रयुक्त अबे (२३, ३६), तू (१९, २५), हैं (२३), बे (१७, २८) से जहाँ स्नेह की निकटता एवं सख्य भाव की प्रगाढ़ता प्रकट होती है, वहाँ 'दरदबंद दरसन··हजूरी है' में दास्यभाव दैन्य पूर्ण जान पड़ता है।

'पदावली' के पंजाबी पदों का वर्ण्य विषय

'इश्कलता' एक निबन्ध रचना है। वह एक विशिष्ट शीर्षक के अन्तर्गत निबद्ध है तथा उसमें भावों की एकरूपता विद्यमान है। 'पदावली' एक स्फुट रचना है; विषय-विविधता के कारण उसमें भावों की एकरसता का अभाव भी है। 'इश्कलता' में वियोगी प्रेमी अपने प्रिय का दर्शनाभिलाषी है। 'पदावली' में प्रेमी नहीं प्रेमिका है, वह पुरुष नहीं स्त्री है। यह प्रेमिका उस प्रिय की अन्य चहेतियों में से एक है।[1] उस 'एक' की प्रेमानन्यता कहीं अन्य सखियों को सम्बोधित करके व्यक्त की गई है, कहीं वह अकेली ही अपने हृदयोद्गार प्रकट करती है। उस प्रेमिका की तीन दशाएँ 'पदावली' में चित्रित हैं : पूर्वराग, विरह एवं पुर्नमिलन। एक पद कृष्णजन्म की बधाई पर ('लालजू की बधाई' शीर्षक, पद-संख्या ९४५) तथा एक 'पनघट लीला' (पदसंख्या ९११; इसमें पनघट लीला का कोई वर्णन नहीं, अतः शीर्षक गलत है[2]) पर है। 'पुर्नमिलन' वाले दोनों पद (२१२ और ९०९) में एकाध शब्द को छोड़कर एक ही हैं।

'पदावली' में प्रियतम की साज-सज्जा का किंचित् भी वर्णन नहीं है। उसके कतिपय चारित्रिक गुण उपयुक्त विशेषणों द्वारा द्योतित हैं, यथा-मुरलीवाला (१३२, ३६९, ४३६) गुवालिया (ग्वाला : ७९१), गोकुलवालिया साँवलिया (गोकुल निवासी साँवला : ४६४, ७७५), गमरू (युवक : ४४) तथा सोहँणी सूरति (सुन्दर रूपवाला : १५५)। प्रस्तुत विशेषताओं से समन्वित इस प्रियतम की मुरली,[3] नेत्र[4] और साँवली सूरत[5] ही चेटक (चाव, आकर्षण) का कारण हैं।

---

[1] मुझ जेसी उसनूँ बहतेरी बंदी दा अकेलरा।७७५।

[2] साँवला सोहणा मिठबोलन।
महरम दिलजानी भँउरा गुज्झ गलाँ दी घुंडियाँ खोलन।
जीव जिवाँदा गावँदा भावँदा आवँदा नी लटकेदडा ढोलन।
प्रान-पपीहाँ दा आनँदघन रत्त-दिहाडे, छडिया कोलन॥

[3] मुरली सुनाइ साँनुं चेटक लाया सोहन सजन सुजान।१७५।

[4] (क) स्याम नैनाँ दी चोट वो, लागी मैंडे वो।१०४१।
(ख) तेरे नैनाँ ने जुलम किया बे, स्याम तेरे।
भौंहें कमान बान कटाछन बेधा गरीबाँ दा हिया बे।
रहदे मस्त महा मतवारे खंजन मघ जो पिया बे।
आनंदघन ब्रजमोहन जानी मनमोह असाडा लिया बे।१०४०।

[5] साँवली सूरत भाँभी अँक्खीं डाढा चेटक दीता नी।३६९।

अंबे (५४५), बे (५४४, ८३९) तथा वो (२३१, ३९५) संबोधन चिह्नों से प्रेम की निकटता तो प्रकट होती है। किन्तु प्रेमी को मान करने वाला[१] और बेपरवाह[२] भी कहा दिया गया है। तब भी प्रेमिका उसके लिए बेचैन है।[३] उसके वियोग में उसे संसार से विरक्ति हो गई है और वह मृतक सदृश हो गई है,[४] क्योंकि उसकी जिंद (प्राण) एकमात्र प्रिय के सहारे टिकी हुई है।[५] उसके विचार में प्रेम के पात्र ही भाग्यशाली होते हैं।[६] प्रिय के बिना और कोई दिल नहीं परचा सकता।[७]

प्रेमिका के वक्तव्यों में अधिकतर नारी स्वभाव सुलभ दैन्य ही अभिव्यक्त होता है।[८] किन्तु एकाध स्थल पर वह अपने प्रिय को अपनी आहों के अभिशाप से बचने और भगवान का भय मानने के लिए भी प्रेरित करती है।[९]

'पदावली' के पंजाबी पदों की नायिका की समस्त दशाओं का चित्रण कुछ प्रतिनिधि पदों से हो जाता है :

पूर्वराग

सहोणी मैं कद लग इस्क छिपावाँ।
गुंजे घाव दिलां दे अन्दर कित बल कूक मचावाँ।
मुरलीवाले ने माइल कीती दारू-दरसन पावाँ।
वेखें बाजू जिंद न रहदी किस विध इस परचावाँ।
बे मेहरा दे सह्याँ आनंदघन कैनूँ आखि सुनावाँ ॥४३६॥

वियोग

(क) सुण सुण वो गुमाँनियाँ मोहन प्यारियाँ चलदा क्यों नहीं राहीं।
रब्बे दी बल नजर न करदा न डरदा गरीबाँ दी आहीं ॥७२२॥

(ख) निमाणियाँ दी बस्ती, वो होवे चंगी रहै, तैंडी जान।
ऐसी बे तुसाडे दरस-भिखारी, होवे सौदा दस्त-ब-दस्ती।

---

[१] जो सुन वेरवाँ तोसी जीवाँ मान न करबे गुमानी ।१०५४।

[२-३] सुन बेपरवाह निमाणीं दाहानल बुझदा ॥५४४॥

[४] निमाँनियाँ तुझ बिना असी हुइयाँ।
दरस दिखावीं आनि जिवावीं नातर एवी मुइयाँ ॥१२७॥

[५] (क) तैंड नाल जिंद लगी मुझ वो निमाणी दे मान गुमाणी···॥३९५॥
(ख) घुम्मर पाँवदीं जिंद तुसाँ नाल वेखन रंगला चंगला जमाल ॥४६७॥

[६] आनँदघन बडा तिना दा भाग जिना नाल तुसी वो मोहवत जोड़ै ॥५४७॥

[७] (क) तुझ बाजू असी खरी वो निमाँनी कीवाँ दिल परचावीं ॥२३१॥
(ख) वेखैं बाजू जिंद न रहदी किस विध इस परचावाँ ॥४३६॥

[८] (क) क्यों मियाँ मैं तैंडी बेंदी सानू भी निबाहि लैंवीं ॥२१५॥
(ख) सुण वो साँवलिया गोकुल-वालिया दीना नू ना सरसावीं ॥४६४॥
(ग) ब्रजमोहन आनंदघन प्यारिया निपट गरीब पपीहाँ नू पाल ॥४६७॥

[९] रब्बे दी बल नजर न करदा न डरदा गरीबाँ दी आहीं ॥७२२॥

तैंडे बे कारणें फिरणे दिवाने हुस्न-परस्ती अलमस्ती।
आनँदघन ब्रजमोहन जानी तैंडे तलब दी मस्ती ॥८४९॥

(ग) अबे साडे दिल दी मुराद पुजाईं।
साँवले सज्जन साँई जिंद निमानी तपदी आनँदघन सोहन।
मुख चुक बिखलाँई मिहिर नजर बरसाईं ॥५४५॥

पुर्नमिलन

गोपाल प्यारे, भला किया।
खरी पियासी आँखडियानूँ जीय-जियावन दरस दिया।
उमरदराज गरीबाँ दी बस्ती कीती महर सवाब लिया।
आनँदघन ब्रजमोहन जानी कुरबानी मुख वेखि जिया ॥८६६॥

'इश्कलता' की भाँति प्रिय (नायक कृष्ण) के लिए 'पदावली' में भी बहुत से पर्याय प्रयुक्त हुए हैं। कुछेक तो 'इश्कलता' वाले ही हैं। कतिपय नए हैं यथा – ढोलन (१७८), मियाँ (२१५), बलमाँ (३७०), पिय (३७०), मान गुमानी (३९५), रंगला, चंगला, जमाल (४६७), साँवले, सज्जन, साइँ (५४५), मासूकाँ, यार निगाही (५८४), मिठ बोलन, चंगेलरा, महर दा लाड गहेलरा, जिंद चहेलरा, खरा नवेलरा (७७५), गोपाल (८६६), महरम-हाल (८८२), मह्रम-दिलजानी (९११), ब्रज-जीवन (९४५), बेमिहराँ (६२६)।

नायिका (प्रेमिका) द्वारा सखियों के लिए संबोधनात्मक पद—सालूवाली (१३२, चादर ओढ़े हुए कोई विशेष स्त्री), नि (१५५), अनी (२१२), अणी (८८२) सेये (१७८) सहोणी (४३६), अहोणी (९०९)

प्रेमिका द्वारा अपने-आप के लिए—वेंदी (२१५), बंदी (१७५, ३९५), निँमानी, निमाणी (३९५, ५४४), बेमेहरा (४३६), दीन (४६४), निपट गरीब (४६७), दरद-वंदा कुडिया (५८४), दरद दिवानियाँ (६२६), घोली (७९१), बंदियाँ विचारियें (८३९), हत्थ-बिकाणी (८८२)।

गायन के पद—अन्य भाषाओं के पदों की भाँति, 'पदावली' के पंजाबी पद भी राग और ताल बद्ध रचनाएँ हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये गाने के लिए ही रचे गए थे। संभव है ये पद दीर्घकाल तक मौखिक ही रहे अथवा घन आनंद के प्रशंसकों को पंजाबी भाषा की प्रकृति का ज्ञान नहीं रहा, इसी कारण पूर्वराग के दो पदों (२१२ तथा ९०९) में एक ही जैसे भावों और एक दो शब्दों को छोड़कर शब्दों की पुनरावृत्ति हुई है। प्रशंसक की भाषा अज्ञता के द्योतक हैं, शब्दों के बहुविध रूप, यथा—निँमानी तथा निमाणी; अनी और अणी।

पंजाबी प्रयोग

यह निस्संदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि 'इश्कलता' पंजाबी प्रधान रचना है। 'पदावली' के लगभग ३० पद भी पंजाबी में हैं। डॉ० गौड़ ने इस बात को स्वीकार करते हुए भी कुछ ऐसे तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जो परस्पर विरोधी हैं। भ्रम निवारण हेतु उनका अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है वे लिखते हैं:

"डॉ० श्री केशरी नारायण शुक्ल ने अपने 'घन आनंद' विषयक लेख में यह संभावना प्रकट की है कि पंजाबी भाषा का व्यवहर्ता आनंदघन नानक जी का शिष्य आनंदघन है जिसने जपजी की टीका लिखी है। पर इस तरह अवधी और राजस्थानी भाषाओं के कारण उनका भी कोई पृथक कवि कल्पित करना पड़ेगा। अतः जिस प्रकार भाव साम्य के आधार पर इन भाषाओं की रचनाओं को प्रस्तुत आनंदघन जी की ही माना जाता है। उसी प्रकार पंजाबी की रचनाओं को भी इन्हीं की मानना चाहिए। नागरीदास जी ने भी इस प्रकार विविध भाषाओं का प्रयोग का कौतुक दिखाया है। वही कौतुक आनंदघन जी की विविध भाषाओं के प्रयोग में लक्षित होता है। ब्रजनाथ ने स्यात् इसलिए भी इन्हें भाषा प्रवीन कहा हो। पंजाबी आदि भाषा के प्रयोग में कोई साहित्यिक सूक्ष्मता तो लक्षित नहीं होती। इससे यही अनुमान करना पड़ेगा कि ये भाषाएँ किसी कौतुकी ने उनका विशेषज्ञ न होने पर भी काव्य में प्रयुक्त की हैं।"[१]

डॉ० शुक्ल द्वारा प्रस्तुत तर्कों के विपक्ष में हम यह सिद्ध कर ही आए हैं कि हमारे विवेच्य घन आनंद का व्यक्तित्व उदासी साधु आनंदघन से बिल्कुल भिन्न है। न जाने डॉ० गौड़ को कौन से ऐसे कौतुक घन आनंद की पंजाबी रचनाओं में दृष्टिगत हुए कि उन्हें इन कृतियों की साहित्यिक सूक्ष्मता पर अविश्वास हो आया। वस्तुतः डॉ० गौड़ का मत युक्तियुक्त नहीं है। घन आनंद के पंजाबी प्रयोग किसी अन्य व्यक्ति का कौतुक नहीं हैं, उनके निजी कृतित्व की विशेषता है। हमारी धारणाओं की पुष्टि इन कारणों से हो जाती है :

१. घन आनंद का वंशगत संबंध पंजाब से था। असंभव नहीं वहाँ के क्षेत्र विशेष (मुलतान) की लैंहदा भाषा उनके परिवार में साधारण वार्तालाप में प्रयुक्त होती रही हो, उसी का व्यवहार उन्होंने अपने भाषा नैपुण्य के प्रकटीकरण हेतु किया हो।

२. घन आनंद एक राजनीतिक विस्थापक थे। अपने प्राणों की रक्षा के निमित्त उन्हें देश के विभिन्न भागों में रहना पड़ा। भारत के केंद्रस्थान दिल्ली में भी उनका संपर्क भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोगों से रहा होगा। अतः सभी जगह का कुछ न कुछ प्रभाव उनकी भाषा में स्वभावतः ही स्थान पा गया होगा।

३. घन आनंद का कवि के रूप में कार्यक्षेत्र ब्रजप्रदेश था। काव्य में समाहित ब्रजभाषा का, जिसके वे विशेषज्ञ[२] माने जाते हैं, प्रभाव उनके कृतित्व में जाने या अनजाने स्थान पा जाना अस्वाभाविक नहीं।

४. ब्रजभाषा के आश्रय बिना यदि घन आनंद ने एकमात्र पंजाबी में ही किसी रचना विशेष का प्रणयन किया होता, तो भाषा की कठिनाई के कारण घन आनंद के प्रशंसक उसकी उतनी सराहना न कर पाते, जितनी उनके नए प्रयोगों से हुई हो। इस प्रवृत्ति से उनका परिस्थिति जन्य चातुर्य ही प्रकट होता है।

---

[१] डॉ० मनोहरलाल गौड़ : घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा

[२] पं० रामचंद्र शुक्ल : हिंदी साहित्य का इतिहास (संवत् १९९९ संस्करण:, पृष्ठ ३३७

५. घन आनंद की 'पदावली' के पंजावी पद तो गायन के लिए ही विरचित हुए हैं, यह उनकी राग-ताल बद्धता से ही व्यक्त होता है। गायन के पद प्रायः मौखिक ही रहते हैं। उनके पंजावी प्रयोगों में जो बहुविधता दृष्टिगत होती है वह उनके पदों के लिपिकर्ताओं की त्रुटियाँ ही प्रतीत होती हैं।

६. कोई व्यक्ति किसी भाषा की कितनी जानकारी रखता है, इसका पता उसके भाषा-विशेष के व्याकरण-ज्ञान से ही लगता है। ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुरूप बनाने के हेतु उन्होंने फारसी और पंजाबी के कुछेक शब्दों में भले ही तोड़-मरोड़ की हो, अन्यथा उन्होंने पंजाबी व्याकरण के सिद्धान्तों से मनमानी नहीं की है। उनके कारकों, क्रियारूपों, अव्ययों आदि के प्रयोग से इस बात का प्रमाण मिल जाता है कि वे पंजाबी की विभिन्न उपभाषाओं (विशेषतः लेंहदी) के व्याकरण के ज्ञाता हैं, यथा :

१. **संज्ञा**—कान (कान्ह के स्थान पर), मोहना,

२. **कारक**—

कर्ता	रब्बे (रब्ब ने)
कर्म	कूँ, नू, नूँ
करण	सु, सूँ, सों
संप्रदान	सैं
अपादान	×
संबंध	दा, दिया, दी, दे
अधिकरण	बिच, माँ
संबोधन	पुरुषवाचक—बे, हो
	स्त्रीवाचक—अणी, अनी, अहो णी, नि, नी

३. **कारक** (सर्वनामों के क्रिया पुरुष, वचन के अनुसार)

पुरुष	कर्ता		कर्म		संबंध	
	एक०	बहु०	एक०	बहु०	एक०	बहु०
उत्तम	मैं	असीं, असी		सानू, साँनूँ असानूँ	मैंडा, मैंड, मैंडी, मैंडडी	असाडा, असाडी असाडे, साडे
मध्यम	तें, तैं, तू तुज, तुझ, तैं	तुसी, तुसाँ			तेंडा, तैंडी, तेंडे, तैंडे तैंडा	तुसाडा, तुसाडे
अन्य				तिना, जिना, कैनू		इन्हीं, यननूं इननूं

४. **अव्यय**—क्रिया विशेषण—इत्थूं, एती, इत, कदी, कदी-कदी पल-पल, जित्थूं-तित्थूं, जद, हुण, कित्थे, होर, किथांई, कीवाँ

संबंधबोधक—नाल, बल (वल्ल), कोल, बाजू

समुच्चयबोधक—ता (ताँ), लग, एवीं (ईं)

५. **बहुवचन रूप**—पाकदिलाँ, अख्याँ, अख्यीँ, अँक्खीँ, पपीहाँ, मासूकाँ, गल्लाँ, आहौँ, बंदियाँ, गरीबाँ, नैनाँ, सम

६. **विशेषण**--सोहना, सोँहणी, घनी, चंगी

७. **क्रिया रूप**—पूर्वकालिक—प्रथमपुरुष—लीता नी, चम्मड पई

विधि—मध्यमपुरुष—आवीं, जावीँ, दिखावीँ, परचावीँ, वेखलामी
उत्तमपुरुष—कराँ, कूकाँ, उडीकाँ, सुनावाँ, वेखाँ

संयुक्त—उत्तम—सुझदा, तकदा, तपदा, लग्गा, लग्या, पाँवँदा
मध्यम—करंदे, सुनदे

८. प्रिय के लिए विशेष संबोधन—प्यारिया, ज़्यारिया, यारा, याराँ, ढोलन, बलमाँ, रंगला-चंगला

९. पंजावी मुहावरे

(क) "भागनि को लहनो है" (भागाँ दा लहना है) = भाग्य का फल है
(ख) "जी की न जानि परै" (जी दा पता नहीं) = दिल की बात का पता न होना
(ग) "पायँ लगी मिहँदी" (पैराँ नूँ मिहँदी लग्गी) = कार्य न करना
(घ) "मारि मति रे" (मत्त मारना) = समझ खो वैठना
(ङ) "कानों में रूई देना" (कन्नां'च रुँ देना) = बात न सुनना
(च) "घुमेर चढ़ना" (घुमेर चढ़ना) = नशा चढ़ना
(छ) गुज्झ गलाँ दी घुँडियाँ खोलन = रहस्यमयी वातों का रहस्य बताना
(ज) दिल दा भाया = मनोनुकूल
(झ) रो रो झड़ लांना = रोते रोते वर्षा सदृश झड़ी लगा देना

१०. लेंहदी की कतिपय विशेपताएँ –

(क) 'ड़' के स्थान पर 'ड' का प्रयोग—चम्मड, मुखडा, खडा, उडावत, बडा, जोडै, मुखडा, मोडै, कुडिया ।
(ख) 'ह' का लोप अथवा ध्वनि में 'ह' का प्रयोग-मुज, तुज, बाजू, गुंजे, वहतेरी ।
(ग) 'न' के स्थान पर 'ण'–सुण, हुण, आणि, दिवाणी, सोहणा, जीउण जागणा ।

घन आनन्द के काव्य के अध्ययन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उन्हें पंजाबी का विशेष ज्ञान है । इसका परिचय उनकी 'इश्क-लता' और 'पदावली' से ही नहीं अन्य रचनाओं से भी मिलता है । उपर्युक्त मुहावरों में से पहले पाँच तो 'सुजानहित' के ही हैं । इसके अतिरिक्त तैँ, (तूने) का वोधक सर्वनाम सुजानहित (१८४), रसना-यश (९) में भी उपलब्ध होता है । सौँ (सौगंध), भठभुंजन (भड़भुंजा : भठियारा = सुजानहित), इकसार (दानघटा), साथन (सुजानहित) आथन (सुजानहित), ओक (सुजानहित), रूसियै (सुजानहित) आदि शब्द भी घन आनंद के पंजाबी प्रेम का साक्ष्य प्रदान करते हैं ।

भारतीय राजनीति और एनीबेसेण्ट

डॉ० हरिहर नाथ त्रिपाठी
राजनीति शास्त्र विभाग

श्रीमती डॉक्टर एनीबेसेण्ट ने १८८० में अनीश्वरवादी एवं अपने राजनीतिक गुरू ब्रेडला के समर्थन में राजनीतिक जीवन प्रारम्भ किया। १८८३ में लन्दन के सेंट जेम्स के हाल में समाजवाद पर एक विचारगोष्ठी हुई थी, इससे ब्रेडला ने प्रसिद्ध समाजवादी हिंडमैन और बर्नार्ड शा के विपक्ष में भाग लिया। इस गोष्ठी का प्रभाव बेसेण्ट पर पड़ा और वे समाजवाद की ओर आकर्षित हुईं। समाजवाद विरोधी मित्रों से सम्बन्ध विच्छेद करते हुए वे फेबियन समाज की सदस्या बन गईं और समाजवादी विचारों के प्रचार के लिए 'आवर कार्नर' नामक पत्र भी प्रकाशित किया। आगे चलकर यह पत्र स्टीड के सहयोग से 'लिंक' के रूप में प्रकाशित होने लगा। इस स्तर पर एनीबेसेण्ट ने श्रमिक जीवन में राजनीतिक प्रचार और उनमें आत्म-विश्वास के विकास के साथ महिला श्रमिकों के लिए विशेष सुविधा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

भारत की राजनीति में उनकी बहुत पहले से ही रुचि रही है। १९१४ में वे भारतीय राजनीति में आईं किन्तु १८७९ से ही उन्होंने ब्रिटिश सरकार की नीति की आलोचना प्रारम्भ कर दी थी। उनके इस कार्य को इंग्लैंड में देशद्रोह तक माना गया था। १८९३ से १९१४ तक उनका कार्य मूलतः धार्मिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक क्षेत्र तक सीमित था। वे राजनीतिक जीवन की आधारशिला इसमें ही पाती थीं। उनके अनुसार भारतीय राष्ट्र का मूल उसके अतीत में ही है। जब तक भारतीयों में यह श्रद्धा नहीं जगती कि उनका अतीत गौरवपूर्ण था उनमें आत्मविश्वास नहीं आ पाएगा। १८९५ में व्यक्त अपने विचारों में उन्होंने पुनरुत्थान के साथ विदेशी माल के बहिष्कार का सुझाव दिया। १८९९ में सभी समाजों एवं सम्प्रदायों की एकता पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि राजनीति आदर्श नहीं स्थिर करती। आदर्श राजनीति का नेतृत्व करते हैं। भारत विश्व के भौतिकवादी आदर्श से हटकर स्वयं अपनी आध्यात्मिकता के आधार पर राष्ट्र निर्माण करे।

१९०२ में उन्होंने ब्रिटिश सरकार को सलाह दी कि भारतीयों द्वारा संचालित राज्य-व्यवस्था में ही भारतीयों एवं स्वयं इंग्लैंड का भी कल्याण है। १९०७ में उन्होंने भारतीयों को सम्बोधित करते हुए कहा कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए आत्मनियंत्रण सम्पन्न चरित्रवान् नागरिक बनना आवश्यक है। उन्होंने आयरलैंड में धार्मिक विद्वेष भड़काने की अंग्रेजों की नीति को भारतीय राजनीति में भी लागू होते देखा और इस पर भारतीयों का ध्यान आकर्षित कराया। आयरलैंड के ग्रिफिथ दल के उग्रवादी आन्दोलन को वे स्वीकार नहीं करती थीं। भारत में भी उन्होंने इस प्रकार के आन्दोलन के प्रति अरुचि व्यक्त की। उस समय कांग्रेस की स्थिति पर टीका करते हुए आपने कहा कि भारत में एक तरफ उग्र

आन्दोलनों का सूत्रपात हो चुका है। क्रान्तिकारी संगठन स्थापित हो चुके हैं। कांग्रेस की नरम नीति उन्हें सन्तुष्ट नहीं कर पा रही है। "थ्री पी" (प्रेयर, प्लीडिंग प्रोटेस्ट) के स्थान पर नरम दल अपेक्षाकृत अधिक कार्यशील है। यदि इस दल के साथ क्रान्तिकारियों का सम्बन्ध हो गया तो आयरलैंड के सिनफिन के समान उग्रवादी आन्दोलन का सूत्रपात हो जाएगा। इसे रोकने के लिए आपने होमरूल जैसे आन्दोलन का सूत्रपात किया।

इस पृष्ठभूमि में आप १९१५ में कांग्रेस के अधिवेशन में सम्मिलित हुईं। उनके द्वारा प्रस्तुत संशोधन के कारण ही गरम दल पुनः कांग्रेस में आ सका। १९१६ में तिलक ने लखनऊ कांग्रेस में भाग लिया। यहीं वे और लीग भी परस्पर निकट आ सके। १९१३ में डॉ० बेसेण्ट ने अड्यार में थियोसोफिकल सोसायटी का जो सम्मेलन बुलाया था उसमें उन्होंने सदस्यों को सलाह दी थी कि वे राष्ट्रीय निर्माण के लिए धार्मिक, सामाजिक एवं शैक्षणिक कार्य के साथ राजनीतिक कार्य जोड़ें। इस प्रकार का सुझाव आपने दादा भाई नैरोजी, फिरोजशाह मेहता आदि को भी दिया था कि वे ऐसा संगठन कांग्रेस में करें। लेकिन नैरोजी ने १८८६ में अपने अध्यक्षीय भाषण से कांग्रेस को सामाजिक कार्यों से अलग रहने की जो नीति अपनायी थी उसी पर वे अब भी दृढ़ थे। बेसेण्ट ने अपने चतुःसूत्रीय कार्यक्रम के प्रचार के लिए 'वेक अप इंडिया' नामक पुस्तक लिखी और 'कामन विल' नामक साप्ताहिक समाचारपत्र का प्रकाशन किया। इस पत्र में वे भारत में स्वशासन एवं ब्रिटिश मैत्री पर बल देती रहीं। भारतीय स्वतन्त्रता के पक्ष में आपने इंग्लैण्ड में प्रभावशाली विचार व्यक्त किया। वहाँ से वापस आने पर आपने 'न्यू इंडिया' नामक दैनिक का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके माध्यम से आपने कांग्रेस को सहयोग प्रदान किया। कांग्रेस की शक्ति के लिए ही होमरूल की स्थापना की गयी। उनके इस विचार से दादा भाई नैरोजी भी सहमत थे। लेकिन कांग्रेस के कुछ प्रभावपूर्ण लोग इससे सहमत नहीं थे। फलतः प्रारम्भ में होमरूल लीग की योजना स्थगित करनी पड़ी।

गरम दल की शक्ति वृद्धि के लिए लोकमात्य तिलक ने अप्रैल १९१६ में पूना में होमरूल लीग की स्थापना की। उसके बाद सितम्बर १९१६ में एनीबेसेण्ट ने भी मद्रास में इसकी स्थापना की। दोनों के उद्देश्य में समानता के कारण दोनों नेताओं ने साथ-साथ भ्रमण कर विभिन्न नगरों में प्रचार कार्य किया। इसी समय इंगलैंड में भी होमरूल की शाखा स्थापित हुई। फलतः ब्रिटिश सरकार को बेसेण्ट पर सन्देह होने लगा और उसने बेसेण्ट की पुस्तक 'भारत एक राष्ट्र' पर प्रतिबन्ध लगा दिया। होमरूल लीग की लोकप्रियता समाप्त करने के लिए सरकार की ओर से मद्रास में उसके विरुद्ध ब्राह्मण आन्दोलन का उपद्रव कराया गया। १९१६ में न्यू इंडियापत्र से २०,००० रुपये की जमानत मांगी गयी। इसके दो मास बाद बम्बई और मध्यप्रदेश की सरकारों ने बेसेण्ट के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया। ब्रिटिश न्याय व्यवस्था के विपरीत भारत सरकार के अनुचित नियमों का भी बेसेण्ट ने उल्लंघन नहीं किया। कानून की मर्यादा के प्रश्न पर ही आपने गान्धी जी के असहयोग आन्दोलन की निन्दा की थी। १९१७ में आन्दोलन उग्र होने पर बेसेण्ट को बिना कारण बताये गिरफ्तार कर लिया गया। उनकी नजरबन्दी के विपरीत देश में सविनय अवज्ञा जैसे आन्दोलन का प्रारूप तैयार होने लगा और ब्रिटिश कामन सभा में भी प्रश्न

पूछे गये। मद्रास हाई कोर्ट के अवकाश प्राप्त न्यायाधीश अय्यर ने सर की उपाधि त्याग दी। नजरबन्दी की हालत में उनके अस्वस्थ होने के समाचार से जनता ने अनेक स्थानों पर सत्याग्रह और विदेशी माल का बहिष्कार किया। इस आन्दोलन में मुहम्मद अली मौ० शौकत अली, मौ० अब्दुलकलाम आज़ाद जैसे लोगों को भी गिरफ्तार कर लिया गया था। अन्ततः मांटेग्यू के पद ग्रहण कर लेने के बाद बेसेण्ट को कारामुक्त किया गया। वे १९१७ में भी कलकत्ता कांग्रेस की अध्यक्षा निर्वाचित हुई थीं और १९१८ में सारे देश का दौरा किया। इसी वर्ष अप्रैल में शिक्षा सप्ताह मनाया गया और विभिन्न शिक्षा संस्थाओं की स्थापना हुई। लोकमान्य तिलक के सहयोग से एक शिष्टमंडल इंडो-ब्रिटिश असोसिएशन के भ्रामक प्रचार के विपरीत लन्दन भेजा गया। मांटेग्यू चेम्सफोर्ड योजना को बेसेण्ट ने कुछ सुधारों के साथ स्वीकार किया था।

१९१९ में रौलट एक्ट की बेसेण्ट ने आलोचना की किन्तु गान्धी जी के असहयोग आन्दोलन का भी समर्थन नहीं किया। लेकिन तुर्की सन्धि, जालियाँवाला बाग जैसे सरकारी कारनामों पर आपने सरकार की निन्दा की। बेसेण्ट ने गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के प्रति जो रुख अपनाया उससे उनके समर्थकों की संख्या घटने लगी। १९२१ में ग्रेफिक नामक ब्रिटिशपत्र के विरूद्ध मुकदमा चलाने वे इंग्लैंड गयीं। किन्तु उसका निर्णय उनके विपरीत हुआ। १९२२ में भारत लौटने पर उन्होंने द्वितीय सुधार सम्मेलन का आयोजन किया। इसमें सभी दलों को आमन्त्रित किया गया था। सम्मेलन में भारतीय स्वशासन की रूपरेखा एवं भारतीय संविधान के निर्माण का उद्देश्य सामने रखा गया। १९२५ में इस संविधान के साथ वे इंग्लैण्ड गयीं और उसे वहाँ संसद सदस्यों को दिया। मजदूर दल की कार्यकारिणी ने उसे स्वीकार कर लिया और १९२५ में ब्रिटिश कामन सभा में उसका प्रथम वाचन हुआ। तत्पश्चात् १९२७ में उसका दूसरा वाचन हुआ। इस संविधान में सर्वप्रथम स्वशासन की रूपरेखा प्रस्तुत की गयी थी। डा० बेसेण्ट का राजनीतिक जीवन इस रूप में भारतीयों के साथ जुड़ गया।

सैद्धान्तिक दृष्टि से होमरूल लीग और संविधान के प्रारूप मे व्यक्त उनके विचार सामने आते हैं। वे राष्ट्रीय स्वाभिमान, पुनरुत्थान आदि के साथ मानती थीं कि प्रत्येक-राष्ट्र का उत्थान वहाँ के व्यक्तियों के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। बाहर के किसी भी दबाव से उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। स्वतन्त्रता व्यक्ति का नैसर्गिक एवं जन्मसिद्ध अधिकार है। उन्हें ब्रिटेन के स्वतन्त्रता प्रेम पर सदा विश्वास रहा है। लेकिन ब्रिटेन के इन तर्कों को वे स्वीकार नहीं करती थीं कि भारत अभी स्वशासन के योग्य नहीं है और विभिन्न जाति, धर्म भाषा आदि के कारण उसे ऐसे अधिकार नहीं दिये जा सकते हैं। उनका कहना था कि ऐसी स्थिति उत्पन्न करने का भी दायित्व ब्रिटिश सरकार पर ही है, अन्यथा भारतीय स्वयं अपनी राष्ट्रीय एवं राजनीतिक परम्परा से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने भारत के अतीत में लोकतन्त्र, गणराज्य आदि की परम्परा का भी समर्थन करते हुए कहा कि भारत में १८ वीं शती तक स्वशासन एवं ग्राम पंचायत की संस्थाएँ कार्य करती रही हैं जिन्हें अंग्रेजों ने समाप्त किया। उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी कि वह जनता को स्वशासन की शिक्षा दे। मद्रास के तत्कालीन गवर्नर के व्यंग, 'भारतीयों को स्वशासन देना स्वप्न है'

का आपने उत्तर देते हुए कहा कि आरम्भ में सभी विचार स्वप्नवत् होते हैं। इसके लिए इतिहास में अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। यदि दक्षिण अफ्रीका जैसे अनुभवहीन देश के लिए स्वशासन की बात की जा सकती है तो भारतीयों के लिए तो यह सदा स्वाभाविक एवं उनकी परम्परा के अनुकूल है। भारतीयों के लिए स्वशासन स्वयं भारत नहीं, अपितु अंग्रेजी के भी हित में है। १९१५ में बम्बई अधिवेशन के समय आपने विधायिनी, आर्थिक और ऐतिहासिक आधारों पर सिद्ध किया कि भारत के लिए स्वशासन अनिवार्य है।

भारत के लिए होमरूल जैसी व्यवस्था का सम्बन्ध आपने एशियाई जागरण के साथ जोड़ा। उन्होंने ब्रिटेन के इस तर्क का खंडन किया कि ब्रिटेन की भारत में पूँजी लगी है अतएव उसका रहना यहाँ आवश्यक है। उन्होंने इसके लिए अमेरिका और अर्जेण्टाइना का उदाहरण देते हुए कहा कि वहाँ ब्रिटिश पूँजी अपेक्षाकृत अधिक लगी है किन्तु वहाँ से अंग्रेज हट गये। १९१६ में ब्रिटेन की घोषणा कि युद्ध के बाद पाँच राष्ट्रों का संघ होगा और उसमें भारत के अभाव की आलोचना करते हुए बेसेण्ट ने कहा कि यह नीति रंगभेद पर स्थिर है और इससे भारत के साथ विश्वासघात किया गया है। इसी आधार पर ब्रिटिश सरकार भारतीयों को उच्च पदों से वंचित कर उनमें आत्महीनता का विकास करती है।

एनीबेसेण्ट स्वयं एशिया के नवजागरण से परिचित थीं वे ब्रिटिश सरकार को उससे परिचित कराना चाहती थीं। उनके अनुसार भारतीयों का विश्वास अंग्रेजों के जनतन्त्रीय निष्ठा से हटता जा रहा है। देश में धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलनों के कारण नवजागरण हो रहा है। भारतीय अपने राष्ट्रीय महत्त्व से परिचित हो रहे हैं। ब्रिटिश सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति के कारण भारतीय पूँजीपतियों में नया भाव पैदा हो रहा है। महिलाओं में नयी शिक्षा के कारण नव जागरण हुआ है। सन्यासियों तक ने होमरूल के प्रचार में योग दिया है। स्पष्ट है कि भारतीय जीवन के सर्वभौम जागरण का परिणाम व्यापक होगा। भारतीयों ने यह अनुभव कर लिया है कि स्वतन्त्रता जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उनको मिलना चाहिए। अपने अध्यक्षीय भाषण में आपने अंग्रेजों पर जो आरोप लगाया उनमें मुख्य ध्यान उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय परम्परा पर होने वाले ब्रिटिश आघात पर अधिक दिया। उनके अनुसार अंग्रेजों ने भारतीय स्थानीय इकाइयों, सिंचाई व्यवस्था, ग्राम संघटन आदि को नष्ट कर राष्ट्र को प्राणहीन कर दिया है किन्तु राष्ट्रीय शक्तियाँ पुनः जागरित हो रही हैं। अतएव ब्रिटिशों को चाहिए कि वे भारतीयों को शीघ्र स्वशासन सौंप दे।

भारत का राजनीतिक नक्शा कैसा हो, इसके लिए बेसेण्ट ने होमरूल और भारतीय संविधान का जो प्रारूप प्रस्तुत किया, उससे उनके विचारों पर प्रकाश पड़ता है। होमरूल योजना में वे मानती हैं कि भारत ब्रिटेन से सम्बन्ध भंग किये बिना ही औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्त करे। निःशुल्क शिक्षा, प्रतिनिधित्व, मताधिकार, ग्राम इकाई से केन्द्र का क्रमिक संगठन, रंग एवं जातिविहीन समाज आदि के साथ होमरूल में भारत को आन्तरिक सुरक्षा का दायित्व, पुलिस हस्तक्षेप से मुक्त राजनीतिक जीवन और सुरक्षा का सारा दायित्व भारतीयों के ऊपर मानती थीं। उनके अनुसार भारत का शासन भारतीय नेताओं और उसकी परम्परा के अनुसार होना चाहिए। उन्होंने ऐंग्लो इंडियनों के द्वारा प्रस्तावित योजना का विरोध करते हुए कहा था कि इसमें नौकरशाही को शक्तिशाली ही नहीं बनाया

गया है अपितु भारतीयों की निष्ठा में विश्वास नहीं किया गया है। बेसेण्ट की योजना में ग्राम, ग्रामपंचायत, कस्बा, तालुका या तहसील, जिलावोर्ड से होते हुए प्रान्तीय और आगे केन्द्रीय संसद का प्रारूप प्रस्तुत किया था जिसमें भारतीय जीवन का उचित प्रतिनिधित्व होता है। वे भारत को अभी ब्रिटिश संसद से मुक्त करने के पक्ष में नहीं थीं। इस स्वशासन व्यवस्था में वे प्राचीन भारत का पुनरुत्थान पाती थीं। साथ ही उनका विश्वास था कि यह व्यवस्था पश्चिमी जनतन्त्र से अधिक उपयोगी और वास्तविक है।

भारतीय संविधान का जो रूप आपने ब्रिटिश सरकार के सामने प्रस्तुत किया था उसमें भारतीय समाज, कृषि प्रधानता, राष्ट्रीय परम्परा आदि मूल प्रश्न थे जिन पर ध्यान दिया गया। मूलाधिकार में स्वतन्त्रता, सम्पत्ति और शिक्षा पर बल दिया गया था। विधायिका की अन्तिम शक्ति सम्राट् में निहित थी, अतएव गान्धी जी इस संविधान से अन्त में असहमत हो गये थे। मताधिकार के सम्बन्ध में आपने विभाग किया था। ग्राम इकाई में तो वे वयस्क मताधिकार मानती थीं किन्तु आगे के लिए शिक्षा, सम्पत्ति, प्राविधिक योग्यता का वन्धन लगा दिया था। कार्यपालिका में भी वायसराय को प्रधान माना गया था। सुरक्षा में भी उसे अधिक अधिकार थे। मन्त्रिमंडल का परामर्श जिस रूप में प्रस्तुत किया गया था उसमें गवर्नर जनरल पर उतने ही नियन्त्रण थे जितने औपनिवेशिक प्रशासन में सम्भव थे। लेकिन इसमें यह माना गया था कि सर्वोच्च न्यायालय भारत में ही रहेगा। उसे विधि का व्याख्या का सर्वोच्च अधिकार दिया गया था।

संविधान का जो प्रारूप प्रस्तुत किया गया था उसमें अर्ध गणतन्त्र की व्यवस्था का सूत्रपात होता है। उसमें भारतीय परम्परा के साथ ताल-मेल बैठाने का प्रयास किया गया था। प्रान्तों को केन्द्रीय नियन्त्रण से मुक्त नहीं किया गया था। वयस्क मताधिकार सीमित था। विधि के सामने समानता प्रदान की गयी। संविधान निश्चित ही अपूर्ण था किन्तु इसके द्वारा इतना प्रयास तो किया ही गया था कि उस समय तक कांग्रेस की होने वाली माँगों को संहिताबद्ध कर दिया गया था।

डॉ० एनीबेसेण्ट ने भारतीय राजनीति में सक्रिय भाग लिया। उन्होंने उसके आन्दोलनों में भी इसी प्रकार भाग लिया। उसके जीवन और गौरव को आगे बढ़ाया, पूर्ण भारतीय निष्ठा और सम्मान के साथ। उन्होंने सदा सामान्य स्तर से ऊपर उठकर राजनीतिक कार्य किया। उन्हें जितनी सफलता सामाजिक ज़ीवन और राजनीतिक क्षेत्र में मिली और उनका व्यक्तित्व हमारे राष्ट्रीय जागरण के साथ जिस रूप में जुड़ गया, वह उनकी इसी निष्ठा का परिणाम है। हम भारतीय पुनरुत्थान को बेसेण्ट के सन्दर्भ में ही समझ सकते है।

आत्म-चिन्तन

रवीन्द्रकुमार शृंगी

संगीत महाविद्यालय

'मैं क्या हूँ ?' यह एक ऐसा प्रश्न है जो हर व्यक्ति के अन्तस्थल में कभी न कभी, किसी न किसी रूप में उदय होता है। साधारणतः, यद्यपि व्यक्ति कुछ न कुछ विशेष बनने की धुन में इस कदर व्यस्त रहता है कि उसकी प्रायः सभी शक्तियाँ स्वनिर्धारित लक्ष्य की सिद्धि में लगी रहती हैं, अतः उसे ऐसा कुछ सोचने का अवसर ही नहीं मिलता; तथापि यदि ग़ौर से देखा जाय तो हमारे समस्त क्रिया-कलापों के मूल में यह एक प्रश्न बड़ी उग्रतासे हमें ताकता रहता है।

व्यक्ति के लक्ष्य का जो कोई भी वृत्तान्त हो, लक्ष्य की सामान्य धारणा का स्वरूप एक ही है, और वह है 'अहंकार'। लक्ष्य में जीवन की आदर्श कल्पना निहित है और वह निश्चय ही यथार्थ के निरपेक्ष कल्पना में नहीं आती। अर्थात्, यद्यपि यथार्थ ही आदर्श की आधार शिला है, तथापि आदर्श के ध्यान में यथार्थ गौण हो जाता है।

'कुछ न कुछ विशेष' बनने की धुन में व्यक्तित्व का रहस्य छिपा है। लक्ष्य की धारणा में ध्याता और ध्येय पृथक् अवगत होते हैं किन्तु ध्यान में दोनों परस्पर सापेक्ष होकर चेतना में अपृथक् सिद्ध होते हैं। धारणा में चेतना विभक्त होकर ध्याता और ध्येय के रूप में प्रस्तुत होती है। व्यक्तिविशेषोपगत लक्ष्य का जो भी वैशिष्टय हो, सामान्यतः लक्ष्य के स्वरूप में चेतना का संकोच प्राप्त होता है और यही संकोच्च काल में विस्तार है। भूत से वर्तमान के द्वारा भविष्य की कल्पना होती है और कालातीत के पृष्ठभूमि पर देश-कालावछिन्न व्यक्ति की सृष्टि होती है।

धारणा में चेतना ध्याता और ध्येय में विभक्त होती है। यद्यपि चेतना में दोनों अपृथक् सिद्धि होते हैं तथापि धारणा में ध्येय, ध्याता का विपक्ष, यथार्थ का आदर्शरूप है। यथार्थ और आदर्श के अन्तराल में व्यक्ति अपने वर्तमान को पाता है। यद्यपि ध्याता और ध्येय दोनों सहजन्य हैं, परस्पर सापेक्ष हैं; तथापि, धारणा में यह तथ्य दृष्टिगोचर नहीं होता, और ध्येय, लक्ष्य अथवा आदर्श के द्वारा यथार्थ का परिमित रूप, 'ध्याता' उत्पन्न होता है। अर्थात् ध्याता और ध्येय दोनों ही आदर्श के तत्व हैं, लक्ष्य की धारणा में देशोपगत संकोच एवं कालोपगत विस्तार, दोनों ही एक साथ संप्राप्त हैं।

देशकालविशिष्ट चेतना में काल वैशिष्टय की उपेक्षा से ध्यान की धारणा में अवतारणा होती है और वर्तमान से चेतना को धारण कर भूत चित्त की अहंकारवृत्ति बनता है। इस प्रकार चित्त में चेता का भाव जागृत होता है। यह धारणा की स्थिति है और ध्यान में चित्त एवं चेता वर्तमान की चेतना में एकाकार हो जाते हैं।

लक्ष्य विशेष में परिमित चेतना, चित्त एवं चेता, ध्येय एवं ध्याता के प्रतिभास की चेतना में अन्वित अपृथक् सिद्धि की अनवधारणा है। इस अवस्था म ध्याता ध्यय में अपनी

पूर्त्ति को पाने के लिए सदा व्याकुल रहता है और इसी वेदना को कवि लोग एक स्तरविशेष पर प्रिय से वियोग की व्यथा के रूप में जानते हैं और साधारण जन लक्ष्य की अप्राप्ति के रूप में।

लक्ष्य का होना, चेतना का ध्याता और ध्येय में विभक्त होकर, अचेतन में चेतना की भावना का द्योतक है, चेतना की पृष्ठ भूमि पर चित्त में चेता का आविर्भाव है। इस अवस्था में लक्ष्य से अहं का तादात्म्य होने से 'मैं क्या हूँ ?' ऐसा कोई प्रश्न नहीं होता। तथापि 'मैं' चित्त की प्रथम वृत्ति के रूप में रह जाता है। अर्थात् इस अवस्था में चेतना अहंभावात्मक चित्तवृत्ति से आवृत्त रहती है। फलतः चित्त में अहंभाव से चेतना का तादात्म्य प्राप्त होता है, अतः चेतना में इस संकोच का वस्तुगत ज्ञान अचेतन में आवृत्त रह जाता है।

लक्ष्य अथवा जीवन का आदर्श रूप स्वभावतः क्या है, किस प्रकार उसका उदय होता है और किस प्रक्रिया से यह व्यक्ति के चेतना में संकोच एवं प्रसार इत्यादि द्वैत को जन्म देता है यह एक देखने की बात है। लक्ष्य के निर्माण में वासना प्रधान है। वासना की प्रकृति क्या है ? वासना, आनन्द की अपूर्व चेतना का स्मृति रूप है। स्मृति में आनन्द की अपूर्व चेतना का रूपविशेष उस आनन्द के अनुभूति का प्रतीक है। यद्यपि स्मृति आनन्द का प्रतीक मात्र है तथापि ऐसा ध्यान न रहने पर, 'वह आनन्द ही है' इस प्रकार का आभास होता है। स्मृति आनन्द की अपूर्व चेतना का रूपविशेष है, किन्तु वह आनन्द की अपूर्व चेतना नहीं है; वह आनन्द की भूतपूर्व चेतना का रूप है। आनन्द की चेतना सदा अपूर्व होती है, सदा ही विलक्षण होती है, सदा नई होती है। स्मृति में अनुभूति अथवा तद्विषयिक रसास्वाद तो होता नहीं किन्तु उस रसास्वाद की वासना रहती है। वासना के दो तत्व हैं, रस अथवा आनन्द की अपूर्व चेतना और इस चेतनाविशेष का संवेद्य स्वरूप। वासना में स्मृति से संवेद्यस्वरूप की कल्पना तो रहती है किन्तु इस कल्पना में आनन्द का अपूर्वत्व नहीं रहता क्योंकि वासना भूतपूर्व चेतना के आधार पर ही आश्रित है। अर्थात् वासनाजन्य जो क्रियाकलाप होगा उससे यद्यपि आनन्द का संवेद्यस्वरूप भले ही निर्माण में आ जाय तथापि उसमें अपूर्वता का योग नहीं हो सकता। फलतः वासना से तृप्ति होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। वास्तव में वासना उत्पन्न कैसे होती है? अज्ञान से। जब कि सत्य का स्वरूप आनन्द की अपूर्व चेतना में प्राप्त होता है, वासना में इस तथ्य की अनवधारणा रहती है, यानि यद्यपि वासना का लक्ष्य अथवा आश्रय तो आनन्द की चेतना का अपूर्वत्व है तथापि वासना का विषय उस रसास्वाद की स्मृति मात्र है और स्मृति भूतपूर्व की ही होती है, उसके आधार पर अपूर्व की कल्पना नहीं हो सकती।

अब देखा जाय तो वासना के बिना किसी आदर्श की कल्पना हो नहीं सकती। व्यक्तिगत चिन्तन तत्त्वतः एक खोज है। इस खोज का बड़ा ही अनोखा स्वरूप है। एक ओर तो व्यक्ति संसार में निरन्तर परिवर्तन का अवलोकन करता रहता है और इस बीच वह अपने को शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक विकार के बावजूद भी, एक अक्षुण्ण सत्ता के रूप में अनुभव करता है। यह विरोधाभास उसे चमत्कृत कर देता है, निरन्तर परिवर्तनशील संसार की अविराम गति उसे अपनी अक्षुण्ण सत्ता में संदेह उत्पन्न करती है। बाल्या-

वस्था से वृद्धावस्था की यात्रा करने पर व्यक्ति को मृत्यु का भय खाने लगता है। विचार शील लोग, जिनमें बौद्धिक विकास विशेष प्राप्त होता है, अपने व्यक्तित्व की रक्षा एवं विकास में अपनी चेतना को व्यस्त पाते हैं। महत्त्वाकांक्षा की भूख और मान हानि का डर उनके जीवन में व्याप्त रहता है। आदर्श और यथार्थ का अन्तराल जितना ही बड़ा होता है, जीवन में संघर्ष और अशान्ति भी उस पराकाष्ठा को प्राप्त होते हैं। इस संघर्ष से किसी को प्यार नहीं है, लेकिन लगाव फिर भी है। सभी इस अशान्ति का अन्त चाहते हैं। किन्तु सोचते हैं कि 'यह और' यदि हासिल कर लिया जाय तो बस इस संघर्ष का अन्त हो जायगा। अर्थात् चाहते सभी शान्ति हैं, संघर्ष का अन्त ही, किन्तु संघर्ष के द्वारा ही वह संभव देखते हैं। अस्तु। इस विचारवीचि का अभिप्राय यह जानना है कि वह क्या समस्या है जो जीवन में अशान्ति के रूप में व्यक्त होकर, उससे मुक्ति के लिये मनुष्य में चिन्तन की प्रवृत्ति को जन्म देती है। यों तो आकांक्षा के विविध रूप हैं। विभिन्न व्यक्ति अपने स्वरूप में भिन्न-भिन्न आदर्श की स्थापना करते हैं, किन्तु जहाँ भी लक्ष्य है वहाँ संघर्ष जीवन का साधारण धर्म अवगत होता है। लक्ष्य का सामान्य स्वरूप ही है चेतना का सीमित स्वरूप में केंद्रित होना। लक्ष्य का होना आदर्श के रूप 'अहंभाव' का विद्यमान होना है। जहाँ लक्ष्य है, आदर्श है, वहाँ चेतना का अहंभाव में केंद्रीयकरण भी है; और जहाँ केंद्र है वहाँ परिधि भी है, और वहाँ अन्दर और वाहर का भेद भी है, विषय और विषयि का द्वैत भी है। सारांश यह है कि लक्ष्य तथा आदर्श में अहंभाव का रहस्य है। लक्ष्य से तादात्म्य होने पर निरतिशय, निराकार असीम चेतना, अहंभाव में केंद्रित होकर, ससीम होकर, संकुचित स्वरूप में प्राप्त होती है, और चेतना में देशोपगत यह संकोच काल-चक्र में विस्तार को प्राप्त होता है। अतः जीवन में द्वेष का प्रवेश होता है। लक्ष्य का निर्माण वासना के भित्ति पर होता है और वासना अज्ञान में ही जन्म लेती है।

व्यक्ति स्वाभावतः सीमित क्षेत्र में ही ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त होता है। जितना ही उसका ज्ञान सीमित है उतना ही उसका अज्ञान विस्तृत है। व्यक्ति का जीवन ज्ञान और अज्ञान की विलक्षण माया है। यह विषय बहुत गंभीर है। अतः प्रस्तुत इस तट पर विराम हो। विचार जहाँ पहुँचता है वहाँ इतना स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है कि लक्ष्य विशेष से चेतना का चेतना में तादात्म्य, जीवन के यथार्थ का आदर्श रूप में आवृत्त होना, अहंभाव को उत्पन्न करता है, जिसके फलस्वरूप निरपेक्ष यथार्थ का अहंभावात्मक आदर्शरूपी केन्द्र के सापेक्ष अनुभव होने से जीवन में द्वेष और संघर्ष भर जाते हैं। द्वेष और संघर्ष से मुक्ति की सभी कामना करते हैं और सभी अपनी इच्छाओं और आकांक्षाओं के द्वारा उसी निरपेक्ष यथार्थ को चाहते हैं जिसके ज्ञान में, अविकृत चेतना में, सुख है, शान्ति है; जिसमें तमाम संघर्षों का समाधान है।

इतना दूर आने पर यह प्रतीत होता है कि जिस लक्ष्य की खोज में हम नितान्त व्यस्त रहते हैं वह अलक्ष्य ही है, कल्पनातीत है, वह धारणा और ध्यान से परे विशुद्ध चैतन्य है। अहंभाव में भावात्मक सत्ता है, जो निर्द्वन्द्व चेतना में प्राप्त होती है।

अणु-स्पेक्ट्रम और उसकी रचना

डॉ० नन्दलाल सिंह
अध्यक्ष, स्पेक्ट्रास्कोपी विभाग

परमाणु के स्पेक्ट्रम की उत्पत्ति न्यूक्लियस (Nucleus) के चतुर्दिक इलेक्ट्रानों की कक्षागति और उनके परिभ्रमण से होती है। परमाणु स्वयं स्थिर नहीं रहता, विशेषकर पदार्थ की गैसीय अवस्था में, वह इधर-उधर वेग से चलता है किन्तु इस गति का स्पेक्ट्रम पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। केवल डाप्लर-साध्य (Doppler Effect) से रेखायें कुछ मोटी अथवा पतली हो जाती हैं।

अणु के भीतर कई परमाणु होते हैं; अतः इलेक्ट्रान एक ही परमाणु से नहीं बंधा रहता। वह एक से अधिक न्यूक्लियसों के चतुर्दिक भ्रमण करता रहता है। साथ ही इन परमाणुओं के न्यूक्लियस भी स्थिर नहीं रहते और न तो एक सीधे मार्ग पर ही चलते रहते हैं। वे अणु के माध्यमिक अक्ष के चतुर्दिक घूमते रहते हैं और अणु के गुरुत्व केन्द्र की अपेक्षा दोलन करते रहते हैं। इनके सामूहिक घूर्ण और नियमित दोलन से अणु का इलेक्ट्रानिक स्पेक्ट्रम बड़ा ही जटिल हो जाता है। (चित्र सं० 1)।

अणु की ऊर्जा-स्थितियाँ

अणु में ऊर्जा उसकी रेखीय गति से, घूर्ण से, दोलन से और इलेक्ट्रानों की उत्तेजना से पाई जाती है। अतः अणु की संपूर्ण ऊर्जा घूर्णीय तथा दोलनीय और इलेक्ट्रानिक ऊर्जा के योग के बराबर होती है; अर्थात् $W = W_T + W_{rot} + W_{vib} + W_{el}$ होती है। स्पेक्ट्रम केवल घूर्णीय ऊर्जा (W_{rot}), दोलनीय ऊर्जा (W_{vib}) और इलेक्ट्रानिक ऊर्जा (W_{el}) से उत्पन्न होता है।

घूर्णीय ऊर्जा की स्थितियाँ

घूर्णीय ऊर्जा अणु के परिभ्रमण से उत्पन्न होती है और ऊर्जा का मान अणु के कोणीय वेग पर निर्भर करता है। यांत्रिकी-सिद्धान्त के अनुसार अणु में सभी कोणीय वेग नहीं पाये जाते। कुछ थोड़े नियंत्रित वेग ही सम्भव हैं और उन्हीं के अनुकूल घूर्णीय ऊर्जा के मान भी नियमित होते हैं। इनका मानचित्र उसी प्रकार से बनाया जाता है, जिस प्रकार परमाणु की स्थायी स्थितियाँ प्रदर्शित की जाती हैं। अणु की घूर्ण स्थायी स्थितियाँ अणु-रचना पर निर्भर होती हैं क्योंकि घूर्ण ऊर्जा अणु के घूर्ण जाड्य (Moment of Inertia) पर और जाड्य का मान अणु की सममिति (Symmetry) के अनुकूल पाया जाता है।

प्रत्येक अणु में, केवल उन अणुओं को छोड़कर जिनके परमाणु एक सीध में जुटे होते हैं, तीन अक्ष (Axis) होते हैं। तीनों अक्ष एक दूसरे के लम्बवत् माने जाते हैं और तीनों अक्ष अणु के गुरुत्व केन्द्र से होकर गुजरते हैं। अणु इन्हीं अक्षों पर परिभ्रमण करता

हैं और इन तीन परिभ्रमण वेगों से उसमें तीन घूर्ण जाड्य पाये जाते हैं, चित्र संख्या (2) में चार अणुओं की बनावट उनके अक्ष के साथ दिखायी गयी है। असिटिलीन अणु (C_2H_2) में चारो परमाणु एक सीध में रहते हैं। अणु अक्ष a और अक्ष b पर परिभ्रमण कर सकता है। यह तीसरे अक्ष c पर नहीं घूम सकता क्योंकि सभी परमाणु इसी अक्ष पर हैं और सभी के लिए अक्ष की दूरी $r_i=0$ होती है। चित्र के अन्य अणु तीनों अक्ष पर घूम सकते हैं।

किसी अक्ष पर घूर्ण जाड्य का मान परमाणुओं के भार तथा अक्ष से उनकी दूरी के वर्ग के गुणनफल के योग के बराबर होता है; अर्थात् अक्ष a पर घूर्ण जाड्य $I_a = \sum_{i=1}^{N} m_i r^2_{ia}$ होता है जिसमें m_i किसी एक परमाणु का भार और r_{ia} अक्ष a से उसी परमाणु की दूरी है। अणु में N परमाणु माने गये हैं इसलिए अणु का घूर्ण जाड्य सभी परमाणुओं के घूर्ण जाड्य के जोड़ के बराबर लिया जाता है। इसी भाँति अणु का घूर्ण जाड्य अक्ष b और अक्ष c पर ज्ञात किया जाता है। तीनों घूर्ण-जाड्य प्रायः एक दूसरे से भिन्न होते हैं किन्तु अणु की सममिति (Symmetry) के अनुसार उनमें से केवल दो अथवा तीनों परस्पर समान हो सकते हैं। यदि किसी अणु के तीनों घूर्ण-जाड्य असमान हैं तो अणु असममित्याकार (Asymmetrical) कहा जाता है। जिन अणुओं के दो घूर्ण-जाड्य बराबर होते हैं उन्हें सममित्याकार घूर्णक (Symmetrical top) कहते हैं और जिनके तीनों घूर्ण जाड्य बराबर होते हैं उन्हें गोलीय टाप सममित्याकार (Spherical top) कहते हैं।

घूर्ण-ऊर्जा (W_{rot}) गतिज ऊर्जा होती हैं क्योंकि इसकी उत्पत्ति कोणीय वेग से होती है। इसका मान भिन्न आकार के घूर्णक के लिए घूर्ण क्वाण्टम-संख्याओं द्वारा भिन्न रूप से व्यक्त किया जाता है। रेखीय तथा गोल सममित्याकार अणुओं की ऊर्जा क्वाण्टम संख्या J से निर्दिष्ट की जाती है यथा $W_{rot}=J(J+1)Bhc$ होती है। जिसमें $B=h/8\pi^2cI_a$ को घूर्णगुणक कहते हैं, h प्लांक का स्थिरांक और c प्रकाश का वेग है।

सममित घूर्णक (Symmetrical top) की ऊर्जा

ऐसे अणु की ऊर्जा $W_{rot}=J(J+1)Bhc+K^2(C-B)hc$ होती है जिसमें $C=h/8\pi^2cIc$ जो अक्ष C की अपेक्षा उसी अणु का घूर्ण गुणक है। क्वाण्टम संख्या K घनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों होती है किन्तु इसका मान J से अविक नहीं हो सकता।

असममित्याकार अणु (asymmetrical top) की घूर्ण ऊर्जा के लिए कोई अनुकूल व्यंजक नहीं मालूम है जिसमें I_a, I_b और I_c के मान लगायें जा सकें, फिर भी तीनों में किसी दो को लगभग बराबर समझकर ऊर्जा स्थितियों का उल्लेख एक मोटे हिसाब से सममित्याकार अणु की स्थितियों की भांति किया जाता है।

सममित्याकार अणु की घूर्ण ऊर्जा का मान क्वाण्टम संख्या J के वर्ग का समानुपाती होता है। अतः J के बढ़ाने से इनका मान बढ़ता जाता है और दो स्थितियों के बीच का अन्तर J के साथ-साथ बढ़ता जाता है विपरीत इसके हमने देखा है कि परमाणु में प्रमुख

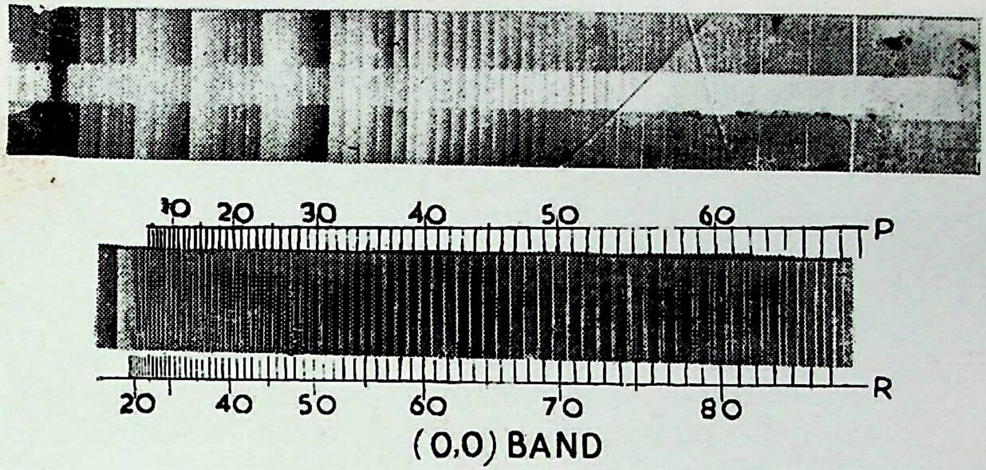

चित्र सं० (1) पृष्ठ 151
स्पेक्ट्रम की कंपनीय और घूर्णनीय संरचना

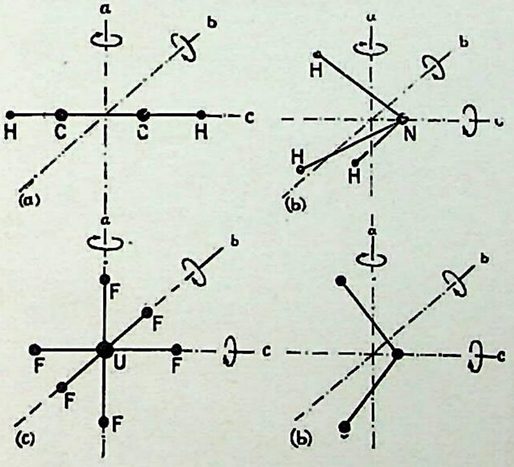
a
b
H
C
C
H
c
(a)
H
N
H
H
(b)
F
F
U
F
F
F
(c)
(b)

चित्र सं० (2) पृष्ठ 152
(a) सरल रेखीय—एसीटिलीन
(b) गोल घूर्णक—यूरेनियम हेग्जाफ्लोराइड
(c) सममित घूर्णक—अमोनिया
(d) असममित घूर्णक—जल

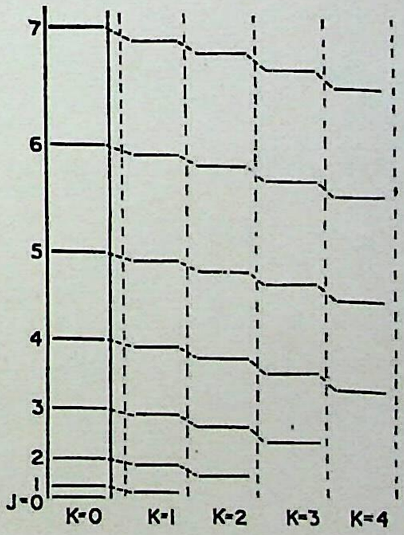
7
6
5
4
3
2
1
J=0
K=0
K=1
K=2
K=3
K=4

चित्र सं० (3) पृष्ठ 153
अणु की घूर्णन स्थितियाँ

क्वाण्टम संख्या के बढ़ाने से स्थितियों के बीच की दूरी घटती जाती है। अणु ऊर्जा के व्यंजक से हमें यह भी विदित होता है कि भारी अणु में घूर्ण ऊर्जा और उनकी स्थितियों के बीच की दूरी हलके अणुओं की अपेक्षा कम होती है, क्योंकि अणु के भारीपन से घूर्ण जाड्य I बढ़ जाता है और B का मान घट जाता है।

चित्र-संख्या (3) में सममित्याकार अणु की घूर्ण-ऊर्जा की स्थितियाँ ऊर्जा-व्यंजक के आधार पर दिखायी गयी हैं। जिसमें $I_a = I_b = \frac{1}{2} I_c$ है। स्तम्भ $K = 0$ में दी हुई स्थितियाँ रेखीय तथा गोल सममित्याकार दोनों प्रकार के अणुओं के लिए मान्य हैं, क्योंकि $K = 0$ रखने पर दूसरा समीकरण ठीक पहले समीकरण के तुल्य हो जाता है। भिन्न प्रकार के अणुओं की घूर्ण ऊर्जा के व्यंजक, उनके घूर्ण-जाड्य तथा उनकी रचना उदाहरण सहित नीचे सारिणी में दिये गये हैं—

अणुओं की घूर्ण-ऊर्जा

अणु भेद	घूर्ण-जाड्य	घूर्ण-ऊर्जा	रचना	उदाहरण
रेखीय घूर्णक	$I_a = I_b$; $I_c = 0$	$J(J+1)\,Bhc$	सारे परमाणु एक सीध में	सभी द्विपरमाणुक, कार्बन-डाइ-आक्साइड, असिटिलीन
गोल सममित्याकार घूर्णक	$Ia = Ib = Ic$	$J(J+1)\,Bhc$	चतुर्निक (Tetrahedral) अष्ठनीक (Octahedral) घनाकार (Cubical)	मियेन, फासफोरस, यूरेनियम, हेक्सा-फ्लोराइड × × ×
सममित्याकार घूर्णक	$Ia = Ib \neq Ic$	$J(J+1) \times Bhc + K^2 \times (C-B)hc$	त्रिकोण स्तूप त्रिकोण प्रिज्म समतल षट्कोणीय	अमोनिया, साइक्लोप्रोपेन, बेन्जीन
असममित्याकार घूर्णक	$Ia \neq Ib \neq Ic$	कोई उपयुक्त व्यंजक नहीं	त्रिसममित्यक्ष अथवा बहुसममित्यक्षरहित कोई संमिति	बहुपरमाणुक

उपरोक्त विवेचन में अणु बिल्कुल स्वतंत्र माना गया है। उनके परिभ्रमण में किसी प्रकार की बाधा निकटवर्ती अणुओं द्वारा नहीं पड़ती। यह तभी सम्भव है जब कि पदार्थ

गैसीय अवस्था में हो और गैस का दाब भी कम हो। द्रव तथा ठोस अवस्था में अणु एक दूसरे से जुटे रहते हैं, वे स्वतंत्र रूप से परिभ्रमण नहीं कर सकते। इन बाधाओं के कारण घूर्ण स्थितियाँ फैलकर एक दूसरे में मिल जाती हैं।

अणु की दोलनीय ऊर्जा

यदि किसी अणु में N परमाणु हैं तो उसमें प्रत्यक परमाणु के हिसाब से 3N भिन्न गतियाँ हो सकती हैं। इसमें तीन तो स्थानान्तरण गति (translational motiom) और तीनों अक्ष पर तीन घूर्ण गतियाँ (rotational motion) होती हैं। इस भाँति रेखीय अणु को छोड़कर अन्य अणु में (3N – 6) गतियाँ होती हैं। रेखीय अणु में (3N – 5) एक अधिक स्वतंत्र गति होती है, क्योंकि इनमें दो घूर्ण गतियाँ पायी जाती हैं। इन स्वतंत्र गतियों का रूप दोलनीय (Vibrational motion) होता है और प्रत्येक दोलन गति की स्वतंत्र आवृत्ति-संख्या होती है यदि कम्पन विस्तार दो परमाणुओं के बीच की दूरी का केवल दशमांश है तो दोलन सरल आवर्तनीय (Simple Harmonic) माना जाता है। यद्यपि प्रत्येक कम्पन का रूप सरल नहीं होता तथापि देखा जाता है कि कोई भी आवर्तनीय कम्पन दो अथवा दो से अधिक सरल आवर्तनीय दोलनों के मेल से उत्पन्न होता है। इन सरल आवर्तनीय दोलनों को अणु का स्वाभाविक अथवा नार्मल दोलन (Normal Vibration) कहते हैं। अणु के किसी स्वाभाविक कम्पन में सभी परमाणु एक ही आवृत्ति से दोलन करते हैं किन्तु हर एक का दोलन विस्तार (amplitude) भिन्न होता है। हर एक का स्थानान्तरण समय के हिसाब से उनकी साधारण स्थिति से ज्या-वक्ररूप होता है। अणु में इस प्रकार के (3N—6) भिन्न दोलन होते हैं और इनके अनुकूल (3N – 6) सरल आवृत्तियाँ होती हैं। इन आवृत्ति-संख्याओं को अणु की मूल आवृत्तियाँ (fundamental frequencies) कहते हैं। मूल आवृत्तियाँ स्वतंत्र होते हुए भी अणु की सममिति के कारण द्विपदी और त्रिपदी हो सकती हैं; अर्थात् दो अथवा तीन आवृत्ति-संख्यायें एक दूसरे के बराबर पायी जाती हैं। अणु की रचना के अनुसार उसकी सममिति को ध्यान में रखकर उसका दोलन, दोलन-विस्तार आदि समझना सुगम होता है। यदि किसी अणु में त्रिसममित्यक्ष अथवा बहुसममित्यक्ष हैं तो उसमें अनेक दोलन द्विपदी अथवा त्रिपदी हो सकते हैं।

दोलन ऊर्जा की भी स्थायी स्थितियाँ होती हैं और उनके बीच संक्रमण से अणु का दोलनीय स्पेक्ट्रम उत्पन्न होता है। सममिति के आधार पर संक्रमण के नियम (Selection Rule) बनाये गये हैं। चित्र संख्या (4) में कई अणु के नार्मल कम्पन दिखाये गये हैं। परमाणुओं का स्थानान्तर चिह्न (→) से और (+) तथा (–) से प्रदर्शित किया गया है। (+) से स्थानान्तर पृष्ठतल से ऊपर की ओर, (–) चिह्न से नीचे की ओर समझना चाहिए।

किसी एक कम्पन v_1 के लिए अणु की दोलन ऊर्जा

$$W_{vib} = (v_1 + \tfrac{1}{2})\, h\nu_1 \text{ होती है।}$$

जिसमें इसी कम्पन के लिए $v_1 = 0, 1, 2 \cdots$ कोई भी पूर्ण संख्या हो सकती है प्रत्येक दोलन

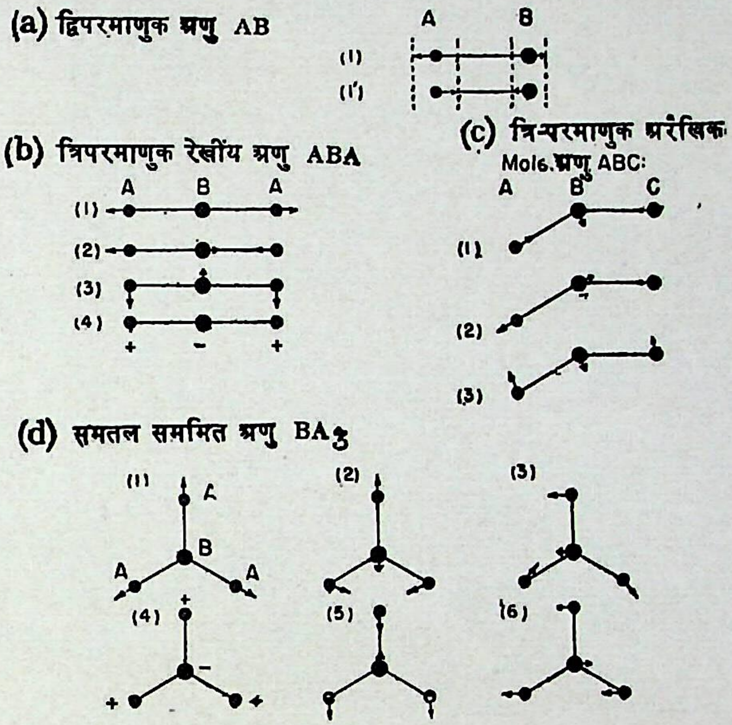
(a) द्विपरमाणुक अणु AB

(b) त्रिपरमाणुक रेखीय अणु ABA

(c) त्रिपरमाणुक अरैखिक Mol6. अणु ABC:

(d) समतल सममित अणु BA_3

A
B
(1)
(1')
A
B
A
(1)
(2)
(3)
(4)
+
−
+
A
B
C
(1)
(2)
(3)
(1)
A
B
A
A
(2)
(3)
(4)
+
−
+
+
(5)
(6)

चित्र सं० (4) पृष्ठ 154

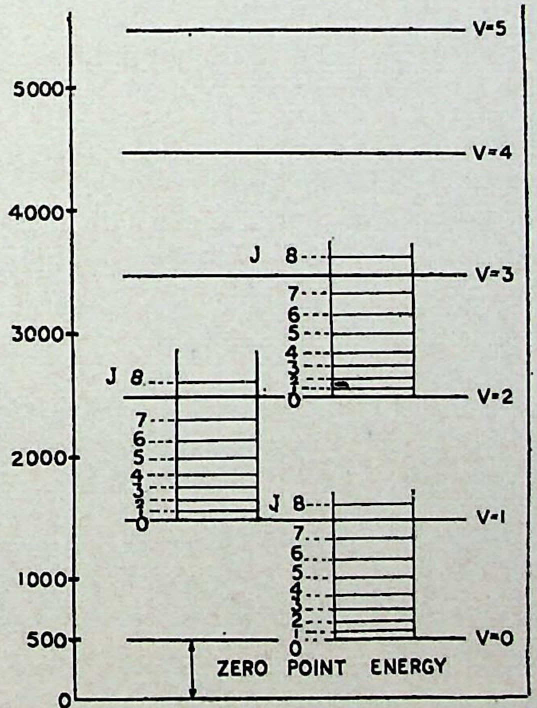
V=5
5000
V=4
4000
J
8
V=3
7
6
5
4
3
2
1
0
3000
J
8
V=2
7
6
5
4
3
2
1
0
2000
J
8
V=1
7
6
5
4
3
2
1
0
1000
500
V=0
ZERO POINT ENERGY
0

चित्र सं० (5) पृष्ठ 155
अणु की दोलन स्थितियाँ

के लिए क्वाण्टम संख्या भिन्न होती है और अणु की संपूर्ण दोलनीय ऊर्जा सभी $(3N-6)$ कम्पनों से उत्पन्न ऊर्जा के योग के बराबर होती है; अर्थात्

$$W_{vib}=\sum_{i=1}^{3N-6} (v_i+\tfrac{1}{2})\, h\, \nu_i \text{ होती है ।}$$

चित्र संख्या (5) में किसी एक द्विपरमाणुक की दोलन ऊर्जा स्थितियाँ दिखाई गई हैं। द्विपरमाणुक में $3\times2-5=1$ एक ही दोलन होता है। बहुपरमाणुक के किसी कम्पन की ऊर्जा-स्थितियाँ भी इसी रूप की होती हैं और ऐसे सभी $3N-6$ कम्पनों को मिलाकर बहुपरमाणुक की एक इलेक्ट्रानिक स्थिति प्रदर्शित की जाती है।

सरल आवर्तनीय दोलक की ऊर्जा-स्थितियाँ सरल होती हैं। उनके बीच का अन्तर लगभग $h\nu$ के बराबर एक समान होता है, किन्तु दोलन सरल आवर्तनीय नहीं रहने पाता। इस कारण स्थितियों के बीच की दूरी भी एक समान नहीं पायी जाती। परमाणुओं का पारस्परिक आकर्षण स्थानान्तरण से बदल जाता है। इन्हीं दोलन स्तरों पर घूर्ण ऊर्जा की स्थितियाँ भी आरोहित रहती हैं क्योंकि किसी दोलन के साथ अणु का परिभ्रमण भी होता रहता है। चित्र में द्विपरमाणुक की दोलन संख्या $1000\ cm^{-1}$ और घूर्ण गुणक $B=15cm^{-1}$ लिया गया है। हजारों अणुओं के दोलन-स्पेक्ट्रम के अध्ययन से यह पता लगा है कि किसी बड़े अणु की अनेक कम्पन-आवृत्तियों में कुछ आवृत्तियाँ उन परमाणु समूह (group) की होती हैं जो अणु में विद्यमान रहते हैं। ये आवृत्ति-संख्यायें उन परमाणु-ग्रूप की विशिष्ट दोलन-संख्यायें होती हैं जो अणु के भीतर अन्य परमाणुओं के होते हुए भी लगभग उसी मान की बनी रहती हैं। बड़े अणुओं के अध्ययन में यह जानकारी बड़ी उपयोगी होती है। अणुओं के भौतिक तथा रसायनिक गुणों का विवेचन तथा उनकी रचना का अनुमान इसी आधार पर किया जाता है; किन्तु सभी कम्पन संख्यायें परमाणु-ग्रूप की आवृत्ति-संख्या नहीं होती। उनमें कुछ संख्यायें सम्पूर्ण अणु की होती हैं जो पूरे अणु की रचना और उसके सभी परमाणुओं पर अवलम्बित होती हैं।

इलेक्ट्रानिक ऊर्जा की स्थितियाँ

जिस भाँति परमाणु के भीतर इलेक्ट्रानों की चार क्वाण्टम संख्यायें होती हैं उसी भाँति अणु के इलेक्ट्रानों का विवरण चार क्वाण्टम संख्याओं द्वारा दिया जाता है। अणु की रचना परमाणुओं के संयोग से होती है। अणु के भीतर भी इलेक्ट्रानों का कोष्ठ होता है और उन कोष्ठों में इलेक्ट्रानों की प्रतिष्ठित पाली के नियम के अनुसार की जाती है। अन्तस्थ कोष्ठों में इलेक्ट्रानों की क्वाण्टम-संख्यायें वही होती हैं जो संख्यायें परमाणु के भीतर थीं। इन इलेक्ट्रानों से परमाणुओं को जोड़कर रखने में अर्थात् अणु-बन्धन में कोई सहायता नहीं मिलती। अतः अणु की इलेक्ट्रानिक ऊर्जा में इनका कोई सहयोग नहीं होता। ऐसे इलेक्ट्रान प्रायः संतृप्त कोष्ठों में रहते हैं। इनके अतिरिक्त बाहरी कोष्ठों के इलेक्ट्रान अणु-बन्धन में सक्रिय रहते हैं। ऐसे इलेक्ट्रान एक ही परमाणु पर नहीं रहते, वे दो अथवा अधिक परमाणुओं के साझे में रहते हैं। ऐसे इलेक्ट्रान बहुत से अणु विशेषकर

द्विपरमाणुक में अथवा परमाणु ग्रंथ में पाये जाते हैं। इन इलेक्ट्रानों की चार क्वाण्टम संख्यायें ठीक उसी प्रकार व्यक्त की जाती हैं जैसे परमाणु के आप्टिकल इलेक्ट्रान की। अन्तर केवल इतना अवश्य रहता है कि परमाणु की चुम्बकीय क्वाण्टम संख्या m के स्थान पर हम अणु में इलेक्ट्रान के कक्षीय क्वाण्टम संख्या e का अक्षीय भाग लेते हैं और इसे λ से व्यक्त करते हैं। यदि अणु में दो परमाणु हैं तो दोनों को जोड़ने बाली रेखा को अक्षर कहते हैं। इसी अक्ष की दिशा में अणु का विद्युत-क्षेत्र (electric field) लागू होता है। विद्युत-क्षेत्र के प्रधाव से इलेक्ट्रान इसी अक्ष के चतुर्दिक घूमने लगता है और इसका अक्षीय खंड सक्रिय होता है। जिसके मान को व्यक्त करने के लिए क्वाण्टम संख्या λ का उपयोग किया जाता है। इस प्रकार अणु के इलेक्ट्रान की चार क्वाण्टम-संख्या में n, l, λ और s होती हैं। इनमें वही संबंध पाया जाता है और उन पर वही प्रतिवन्ध लगता है जो परमाणु की क्वाण्टम-संख्याओं पर बताया गया है। अक्षीय क्वाण्टम-संख्या λ घनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों हो सकती है किन्तु l से बड़ी नहीं हो सकती।

सभी इलेक्ट्रानों की अक्षीय क्वाण्टम संस्थाओं के योग को Λ कहते हैं; अर्थात् $\Lambda = \lambda_1+\lambda_2+\ldots$
और $\Lambda=0,1,2,3,\ldots$होता है। इसी के मान के अनुकूल अणु की इलेक्ट्रानिक स्थिति की संज्ञा निर्दिष्ट की जाती है। जब $\Lambda=0$ हो तो इलेक्ट्रानिक स्थिति का नाम Σ होता है और जब $\Lambda=1$ हो नो स्थिति π, $\Lambda=2$ हो तो Δ, $\Lambda=3$ हो तो ϕ इत्यादि रक्खा गया है।

अणु की इलेक्ट्रानिक स्थितियाँ द्विपदी होती हैं, क्योंकि Λ का मान घनात्मक तथा ऋणात्मक दोनों है। अतः केवल Σ स्थिति को छोड़कर जिसके लिए $\Lambda=0$ होता है अन्य स्थितियाँ द्विपदी होती हैं; किन्तु वे अन्तर्मुखी रहती हैं। परमाणु की स्थितियों के समान इनमें भी विपुलता (multiplicity) होती है। विपुलता इलेक्ट्रानों के घूर्ण (Spin) के योगफल S पर निर्भर होती है। Σ स्थिति को छोड़कर जिसके लिए $\Lambda=0$ होता है अन्य स्थितियों के लिए $\Lambda\neq0$ होता है। जब $\Lambda=0$ होता है तो अक्ष पर कोई चुम्बकीय क्षेत्र नहीं पाया जाता, किन्तु $\Lambda\neq0$ होने पर अक्ष की दिशा में चुम्बकीय क्षेत्र होता है। इसी के कारण अन्य स्थितियों में स्पिन-घूर्ण अणु-अक्ष के चतुर्दिक चक्कर काटता है। इसका अक्षीय भाग $M_s h/_2\pi$ होता है। अणु में M_s को Σ से इंगित करते हैं। $\Sigma=S, S-1, S-2\cdots-S$ होता है; अर्थात् Σ के $2S+1$ भिन्न मान हो सकते हैं। इसी से अणु की इलेक्ट्रानिक स्थिति की विपुलता (Multipicity) का पता लगता है।

अणु का संपूर्ण आवेग $\Omega=\Lambda+\Sigma$ होता है। चूँकि Λ तथा Σ दोनों अक्ष की दिशा में ही लागू होते हैं, इसलिए इनको साधारण रीति से जोड़ दिया जाता है। जब $\Lambda\neq0$ होता है तो अक्ष की दिशा में चुम्बकीय क्षेत्र आरोपित रहता है और प्रत्येक इलेक्ट्रानिक स्थिति $2S+1$ भागों में विभाजित हो जाती है। किन्तु $\Lambda=0$ स्थिति में अक्ष पर चुम्बकीय क्षेत्र शून्य हो जाने से Σ स्थिति का विभाजन नहीं होता। इस प्रकार अणु की इलेक्ट्रानिक स्थिति की संज्ञा $\Sigma\pi\Omega$ होती है जिसमें $\Sigma=2S+1$ स्थिति की विपुलता, और $\Lambda=0, 1, 2, 3,\cdots$के अनुरूप क्रमानुसार स्थिति की संज्ञा Σ,π,Δ,Φ

होती है और $\Omega=1\Lambda+S1$ संपूर्ण आवेग का धनात्मक मान है। यथा H_2, N_2 और Hcl की साधारण स्थिति $^1\Sigma$, O_2 की $^3\Sigma$, और NO की $^2\pi_{\frac{1}{2},\frac{3}{2}}$ होती है।

परमाणु की स्थायी स्थितियाँ पड़ी रेखाओं से दिखायी जाती हैं। अणु की इलेक्ट्रानिक स्थिति की ऊर्जा दो परमाणुओं के बीच की दूरी पर आश्रित होती है। परमाणुओं के बीच की दूरी, $h=0$ के लिए न्यूनतम और $v=1, 2, 3\ldots$ के लिए क्रमशः बढ़ती जाती है। दूरी के हिसाब से ऊर्जा का मान भी बदलता जाता है। चित्र संख्या (6) में द्विपरमाणुक की दो इलेक्ट्रानिक स्थितियों की ऊर्जा का मान भिन्न v के लिए दिखाया गया है। इसको मोर्स लेखाचित्र (Morse Curve) अथवा स्थितिज ऊर्जा चित्र (Potential energy curve) कहते हैं।

अणु की साधारण स्थायी स्थिति में दोनों परमाणुओं के बीच की दूरी न्यूनतम होती है और इसकी ऊर्जा भी होती है। बाहरी ऊर्जा के प्रभाव से क्वाण्टम-संख्या v के साथ दोलन बढ़ता जाता है और जब v बहुत अधिक हो जाता है तो परमाणुओं के बीच पारस्परिक खिचाव नगण्य हो जाता है। परमाणु एक दूसरे से विलग हो जाते हैं। चित्र संख्या (6) में ऐसी परिस्थिति बिन्दु रेखा ED से दिखायी गयी है। न्यूनतम ऊर्जा-स्थिति और इस बिन्दुदार रेखा के बीच ऊर्जामान को अणु की विच्छेदनीय ऊर्जा De (dissociation Energy) कहते हैं। इतनी ही ऊर्जा किसी बाहरी स्रोत (source) से लेकर अणु न्यूनतम स्थिति से उठता हुआ रेखा ED पर जाकर विभाजित हो जाता है।

कोई दोलनीय स्थिति की रेखा इलेक्ट्रानिक ऊर्जा-वक्र को दो बिन्दु पर काटती है। y अक्ष से वक्र के बाईं ओर के बिन्दु की दूरी उस क्वाण्टम-संख्या के लिए दोनों परमाणुओं के बीच की निकटतम दूरी और दाहिनी ओर बिन्दु की दूरी y-अक्ष से उन्हीं दोनों परमाणुओं के बीच की अधिकतम दूरी होती है।

दोनों ऊर्जावक्र अणु की निचली स्थायी स्थितियाँ हैं। सबसे नीचे वाली रेखा अणु की सामान्य इलेक्ट्रानिक स्थिति है और ऊपर की प्रथम उत्तेजित स्थिति है। प्रमुख क्वाण्टम-संख्या के बढ़ने पर उनके बीच की दूरी परमाणु की स्थायी स्थितियों की भाँति घटती जाती है; किन्तु अणु में इन सभी स्थितियों का पाना कठिन होता है, क्योंकि अणु का विच्छेदन हो जाता है। तब भी कुछ अणुओं के अवशोषण स्पेक्ट्रम में सुदूर अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में कई ऐसी रिडवर्ग श्रेणियाँ मिली हैं जिनसे इस बात का समर्थन होता है कि अणु में इलेक्ट्रानों का वितरण परमाणु के समान होता है और अणु की इलेक्ट्रानिक स्थितियाँ परमाणु के समान पायी जाती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अणु में कुछ इलेक्ट्रान ऐसे होते हैं जो अणु के एक ही परमाणु से लगे हैं। कुछ ऐसे मिलते हैं जो दो परमाणुओं अथवा परमाणु-ग्रूप से सम्बन्धित रहते हैं। तीसरे प्रकार के इलेक्ट्रान बड़े अणुओं में पाये जाते हैं जो न केवल एक परमाणु अथवा किसी परमाणु-ग्रूप से ही लगे रहते हैं बल्कि वे अणु के सभी परमाणुओं से संबंधित रहते हैं। इन इलेक्ट्रानों के लिए स्पिन क्वाण्टम-संख्या को छोड़कर अन्य क्वाण्टम-संख्याओं को निर्दिष्ट करना कठिन होता है, क्योंकि परमाणुओं की संख्या अधिक हो जाने पर अणु

का ज्यामिति-आकार वदल जाता है। आकार भिन्न होने पर इलेक्ट्रानों की संज्ञा एक ही रूप से सभी अणुओं में नहीं दी जा सकती। इस कारण ऐसे सभी इलेक्ट्रानों को मिलाकर अणु की इलेक्ट्रानिक ऊर्जा-स्थितियों के लिए एक संज्ञा रख लेते हैं। हर एक इलेक्ट्रान की क्वाण्टम-संख्या अलग-अलग नहीं व्यक्त की जाती। इलेक्ट्रानिक ऊर्जा-स्थितियों की संज्ञा अणु-रचना और सममिति के आधार पर निर्धारित की जाती है। इन्हीं के आधार पर भिन्न ऊर्जा-स्थितियों के बीच संक्रमण के नियम ज्ञात किये गये हैं और अणु-रचना के अनुसार इन एक रूप के इलेक्ट्रानों का वितरण बताया जाता है।

इस प्रकार के इलेक्ट्रानों की ऊर्जा पहले दो प्रकार की अपेक्षा वहुत कम होती है और इनका स्पेक्ट्रम निकट अल्ट्रावायलेट, दृश्य क्षेत्र तथा सुनिकट इनफ्रारेड क्षेत्र में वनता है। ऐसे सर्वनिष्ठ इलेक्ट्रान कार्वनिक अणुओं में पाये जाते हैं जिनमें संयुग्मित द्विवन्ध (Conjugated double band) होते हैं। संयुग्मित शृंखला के परमाणुओं से एक-एक इलेक्ट्रान अणु के इलेक्ट्रान-समूह में योगदान करते हैं किन्तु यह बताना कि अमुक इलेक्ट्रान अमुक परमाणु का है, सम्भव नहीं होता। अणु के सभी परमाणुओं से सम्वन्धित इलेक्ट्रान-समूह सर्वनिष्ट माने जाते हैं। इलेक्ट्रान-समूह की ऊर्जा कम होती है और ऊर्जा-स्थितियाँ लगभग एक दूसरे के समानान्तर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पायी जाती हैं। इन स्थितियों के ऊर्जामान से अणुओं के रासायनिक गुणों तथा उनके अवशोषण स्पेक्ट्रम की व्याख्या की जाती है। ऊर्जा-स्थितियों का सम्बन्ध अणु की ज्यामिति-रचना और संयुग्मित शृंखला के द्विवन्धों से पाया जाता है।

अणु में कई परमाणु-समूह और प्रत्येक ग्रूप का एक इलेक्ट्रान-समूह होता है। यह देखा जाता है कि एक समूह के इलेक्ट्रानों की ऊर्जा पर दूसरे समूह के इलेक्ट्रानों की ऊर्जा का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। वहुत से कार्वनिक अणुओं का अवशोषण स्पेक्ट्रम दृश्य-क्षेत्र में बनता है जो अणु के एक परमाणु-ग्रूप का विशिष्ट स्पेक्ट्रम होता है। वह ग्रूप चाहे जिस अणु में हो उसके अन्य परमाणुओं के होते हुए भी ग्रूप अपने ही अनुकूल रश्मियों का अवशोषण करता है। ऐसे परमाणु-ग्रूप को वर्णाणु (Chromophore) कहते हैं। क्रोमोफोर का अर्थ 'रंग उद्दीपक' होता है जिसके कारण अणु में किसी एक रंग की अधिकता पायी जाती है। किन्तु इस प्रकार के अवशोषण स्पेक्ट्रम दृश्य-क्षेत्र में सीमित नहीं रहते। वे अदृश्य क्षेत्रों में भी पाये जाते हैं। बेन्‌जीन अणु की प्रथम उद्दीप्त स्थिति सामान्य स्थिति से 3800 cm^{-1} ऊपर पड़ती है और इसके अनुकूल अवशोषण स्पेक्ट्रम 2650A° पर पाया जाता है। बेन्‌जीन अणु की रचना मुद्राकार होती है और बेन्‌जीन-मुद्रिका में किसी परमाणु-ग्रूप के आ जाने से अवशोषण स्पेक्ट्रम स्थानान्तरित हो जाता है। क्षारीय बेन्‌जीन (Alkyl benzene) और हैलोजनिक बेन्‌जीन (halogen Benzene) के अवशोषण इसी 2650A° के समीप पाये जाते हैं। ग्रूप के कारण स्थानान्तरण कम पाया जाता है; किन्तु अनीलीन का स्पेक्ट्रम 2950A° पर बनता है। एमिनोग्रूप के लगाने से स्थानान्तर लगभग 300A° दीर्घ तरंगदैर्ध्य की ओर पाया जाता है। इस ग्रूप के समान जिनके परमाणु-ग्रूप से स्थानान्तर दीर्घ तरंगदैर्ध्य की ओर होता है उन्हें आक्सोक्रोम (auxochrome) कहते हैं। कुछ विशेष परिस्थितियों में इन्हें बाथोक्रोम (bathochrome) कहते हैं; कारण

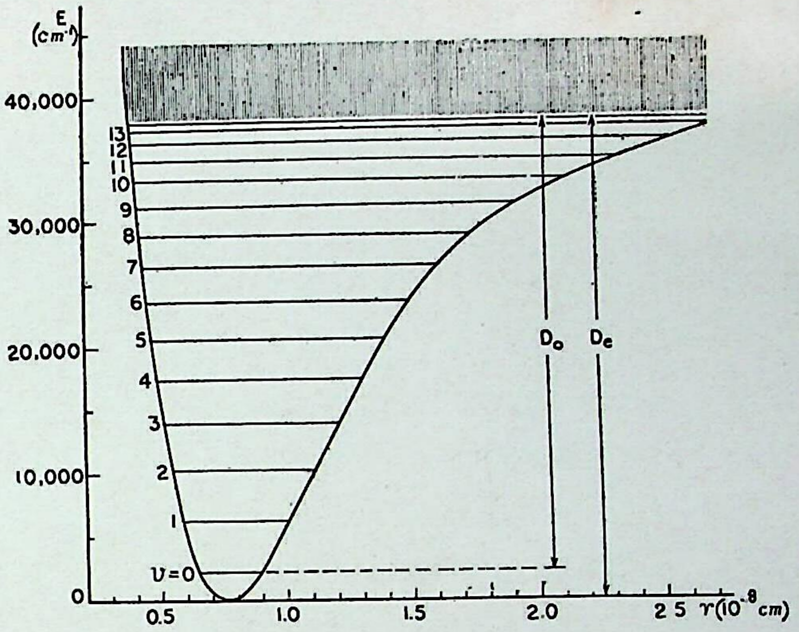

चित्र सं० (6) पृष्ठ 157
मूर का विभव ऊर्जा वक्र

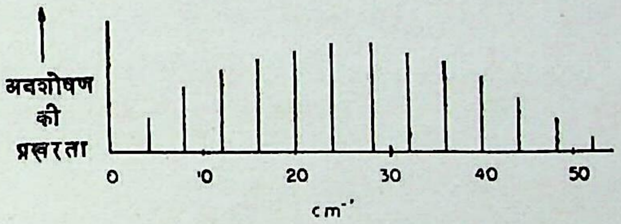

चित्र (7) पृष्ठ 161

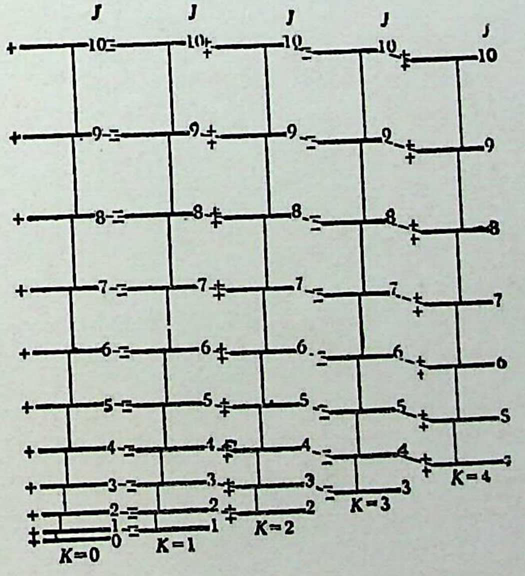
J
J
J
J
J
K=0
K=1
K=2
K=3
K=4

चित्र सं० (8) पृष्ठ 161

कि दीर्घ तरंग-दैर्घ्य की ओर स्थानान्तर होने से वर्णाणु की कम्पन संख्या घट जाती है। यदि स्थानान्तर बहुत अधिक हो तो क्रोमोफोर और आक्सोक्रोम में कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता, दोनों एक नई संयुग्मित संहति बनाते हैं। इससे संयुग्मित श्रृंखला की वृद्धि हो जाती है।

क्रोमोफोर में अवशोषण क्रिया दो अथवा दो से अधिक परमाणुओं की इलेक्ट्रानिक स्थितियों के बीच संक्रमण होने से होती है। आल्डीहाइड में तथा एलिफैटिक कीटोन में अवशोषण कार्बोनील-ग्रूप के दो परमाणुओं द्वारा 2800A° पर पाया जाता है। फार्मास्डिहाइड अल्डिहाइड और एलिफैटिक कीटोनक स्पेक्ट्रम से इसी बात का समर्थन होता है। बेन्‌जीन अणु का अवशोषण स्पेक्ट्रम दो से अधिक परमाणु की इलेक्ट्रानिक स्थितियों के द्वारा बनता है। पारफिरीन अणु में होमीन और क्लोरोफील के परमाणु-ग्रूप पाये जाते हैं।

सारिणी (1) में कुछ वर्णाणुओं का विशिष्ट अवशोषण 1700A° से लेकर 6000A° तक दिया गया है। दूसरे स्तम्भ में अधिकतम अवशोषण का स्थान λmax दिया गया है और तीसरे स्तम्भ में loge दिया गया है जिसमें e उस अधिकतम शोषण बिन्दु पर मोलर एक्सटिंकशन गुणक है। λ max और loge के मान भिन्न अणुओं में उसी क्रोमोफोर के लिए भिन्न होते हैं। इनके मान में अन्तर तापक्रम के प्रभाव से भी पड़ता है। अणु की रचना और पदार्थ की अवस्था से भी इसके मान में भिन्नता पायी जाती है।

सारिणी (१)

वर्णाणुओं के ग्रुप

वर्णाणु	λ max	log e	वर्णाणु	λ max	log e
$C=C$	1920	3·5	$-ON=O$	3700	1·7
$(C=C)_2$	2200	4·2	$-ONO_2$	2700	1·2
$(C=C)_3$	2600	4·6	अणुवलय :		
$(C=C)_4$	2900	4·8	फिनाइल	2700	2·4
$C\equiv C$	1800	∠2	पिरीडाइल	2600	3·2
$-COOH$	2100	1·6	नैपथाइल	3100	2·4
$-CONH_2$	2100	2·2	साइक्लोपेन्टाडीन	2440	3·4
$C=N$	1900	3·7	पाइरोल	2400	2·4
$C\equiv N$	1700	∠2	पिरामिडीन	2450	3·5
$C=O$	2800	1·3	क्वीनोलीन	3100	3·8
$C=S$	3300	1·0	एन्थ्रासीन	3800	2·8
$N=N$	3700	1·2			
$N=O$	6600	1·3			
$-NO_2$	2700	1·2			

क्रोमोफोर में वही परमाणु दिये गये हैं जिनके इलेक्ट्रान सभी परमाणुओं की शराकत

में रहकर अवशोषण क्रिया में भाग लेते हैं। अणुओं के अन्य परमाणु जैसे H अथवा परमाणु-ग्रूप जैसे CH_3 नहीं दिये गये हैं। इनके कारण अवशोषण अन्य क्षेत्रों में पाया जाता है।

यदि दो क्रोमोफोर किसी एलीफैटिक ग्रूप से जुटे होते हैं तो उनका अवशोषण दोनों क्रोमोफोर के अर्थ शोषण के योग के बराबर होता है; किन्तु जब दोनों स्वतः एक दूसरे से जुटकर एक नया क्रोमोफोर बनाते हैं तो उसका अवशोषण बिल्कुल भिन्न पाया जाता है।

क्रोमोफोर $C \equiv C$ के लगाव से संयुग्मित श्रृंखला का λ max लगभग ३०० A° और loge लगभग ०.३ बढ जाता है। किन्तु यदि किसी क्रोमोफोर में द्विबन्ध $C=C$ से और उसे त्रिबन्ध $C \equiv C$ से हटाया जाय तो λ max और loge में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता।

अणु स्पेक्ट्रम संबंधी संक्रमण नियम और स्पेक्ट्रम का स्वरूप

अणु में तीन प्रकार की ऊर्जा होती है—(१) घूर्णनी, (२) दोलनीय और (३) की इलेक्ट्रानिक। इनके अनुकूल अणु की ऊर्जा-स्थितियाँ भिन्न होती हैं। इन तीनों प्रकार ऊर्जाओं में घूर्ण-ऊर्जा सबसे कम मान की होती है। उससे अधिक दोलनीय ऊर्जा और सबसे अधिक इलेक्ट्रानिक ऊर्जा का मान होता है। अणु की इलेक्ट्रानिक उत्तेजना के साथ दोलनीय और घूर्ण ऊर्जा-स्थितियाँ उत्तेजित होती हैं और दोलनीय के साथ घूर्ण; किन्तु उद्दीपक ऊर्जा-मान कम करके केवल घूर्ण ऊर्जा-स्थितियाँ उत्तेजित की जा सकती हैं। घूर्ण ऊर्जा कम होने से अणु का घूर्ण-स्पेक्ट्रम सुदूर इनफ्रारेड में, दोलनीय ऊर्जा अधिक होने से दोलनीय स्पेक्ट्रम घूर्ण स्पेक्ट्रम सहित निकट इनफ्रारेड क्षेत्र में और इलेक्ट्रानिक ऊर्जा अधिकतम होने से अणु का इलेक्ट्रानिक स्पेक्ट्रम दोलनीय तथा घूर्ण स्पेक्ट्रम सहित दृश्य अथवा अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में बनता है। यहाँ हम अणु के इन तीन प्रकार के स्पेक्ट्रम की उत्पत्ति और स्वरूप का विवरण संक्षेप में देते हैं।

शुद्ध घूर्ण स्पेक्ट्रम (Pure Rotation Spectrum)

हम देख चुके हैं कि अणु की घूर्ण ऊर्जा $w_{rot} = J(J+1) B h c$ होती है। इस व्यंजक से रेखीय तथा गोल घूर्णक अणुओं की ऊर्जा का मान व्यक्त किया गया है। इसमें $B = \frac{h}{8\pi^2 CI}$ होता है और J घूर्ण-संख्या है जिसका मान 1, 2, 3...घनात्मक पूर्ण संख्या लिया जाता है। संक्रमण उन स्थितियों में होता है जिनकी क्वाण्टम संख्या में अन्तर

$$\Delta J = 0 \text{ अथवा } \pm 1 \text{ होता है।}$$

$\Delta J = 0$ उन अणुओं में लागू होता है जिनमें विद्युत चुम्बकीय पूर्ण (electric dispole moment) स्थायी रूप से नहीं पाया जाता। $\Delta J = \pm 1$ उन अणुओं में लागू होता है जिनमें विद्युत चुम्बकीय घूर्ण पाया जाता है। इनसे हमें विदित होता है कि जिन अणुओं में स्थायी विद्युत चुम्बकीय घूर्ण नहीं होता उनका शुद्ध घूर्ण-स्पेक्ट्रम नहीं पाया जा सकता। इसी कारण सममित रेखीय अणु जैसे H_2, N_2, O_2, CO_2 और C_2H_2 आदि

अथवा सममित गोलघूर्णक जैसे CH_4, UF_6 आदि के शुद्ध घूर्ण-स्पेक्ट्रम नहीं मिलते। असममित्याकार अणु जैसे CO, Hcl, HCN, N_2O आदि के शुद्ध घूर्ण-स्पेक्ट्रम पाये जाते हैं। स्पेक्ट्रम का स्वरूप घूर्ण ऊर्जा-स्थितियों पर निर्भर करता है (चित्र 7)। स्थितियों में संक्रमण $\triangle J = \pm 1$ के अनुसार होता है और स्पेक्ट्रम रेखा की तरंग संख्या $\nu = 2JB$ पायी जाती है। इसमें J प्राथमिक स्थिति की क्वाण्टम-संख्या है और $J = 1, 2, 3, \ldots$ लिया जाता है। अतः घूर्ण-स्पेक्ट्रम की रेखायें बराबर दूरी पर पायी जाती हैं। घूर्ण-स्पेक्ट्रम का कृत्रिमरूप (चित्र 7) में दिखाया गया है। स्पेक्ट्रम रेखाओं की प्रखरता स्थितियों की अणु-संख्या पर निर्भर होती है। स्थितियों में अणु-संख्या का वितरण वोल्ट्ज-मैन के अनुसार तापक्रम पर निर्भर करता है। यदि तापक्रम अधिक होता है तो अणुओं की संख्या ऊपरी स्थितियों में बढ़ जाती है। उच्चतम प्रखरता उन रेखाओं में पायी जाती है जिनमें प्राथमिक स्थिति में अणु-संख्या अधिकतम होती है।

सैद्धान्तिक विवेचन के अनुसार घूर्ण-स्पेक्ट्रम की रेखायें उद्दीप्त और अवशोषण स्पेक्ट्रम दोनों में मिलनी चाहिये; किन्तु इनका अध्ययन विशेषकर अवशोषण स्पेक्ट्रम में किया गया है। क्योंकि उद्दीप्त करने पर दोलन भी होने लगता है और यदि इलेक्ट्रानिक उतेजना हुई तो अणु का विभाजन भी हो जाता है।

अणुओं की घूर्ण ऊर्जा और घूर्ण आवृत्तियों का पता रमन-साध्य (Raman Effect) से भी किया जा सकता है रमन-स्पेक्ट्रम के उपादान के लिए अणु में स्थायी विद्युत-चुम्बकीय घूर्ण का होना आवश्यक नहीं होता, इसके लिए संक्रमण के नियम भी भिन्न होते हैं। रमन प्रयोग में एक वर्ण की रश्मियाँ पदार्थ पर डाली जाती हैं और इनके अभिलम्बवत स्पेक्ट्रोग्राफ रखकर स्पेक्ट्रम लिया जाता है। घूर्ण ऊर्जा के अनुकूल आपात रश्मियों के तरंगांक में अन्तर पड़ता है। यदि अणु रश्मि का अंश लेकर फिर पूर्व स्थिति में आता है तो रश्मि का तरंगांक घट जाता है और यदि अणु अपने घूर्ण का तरंगांक-रश्मि में योगदान करता है तो रश्मि का तरंगांक बढ़ जाता है। अतः एक वर्णीय रेखा के दोनों ओर घूर्ण आवृत्ति के अनुकूल नवीन रेखायें पायी जाती हैं जिनसे घूर्ण ऊर्जा का पता लगाया जाता है। नवीन रेखायें मुख्य रेखा के समीप ही पायी जाती हैं। इसी भाँति रश्मि के तरंगांक पर दोलनीय ऊर्जा का भी प्रभाव पड़ता है। दोलनीय ऊर्जा की नवीन रश्मियाँ मुख्य रेखा के दोनों ओर दूर पड़ती हैं।

इधर हाल में माइक्रोवेव स्पेक्ट्रास्कोपी द्वारा बहुत से अणुओं की शुद्ध घूर्ण-रश्मियों का अध्ययन लगभग 10000 M तक हुआ है जिसके अनुसार घूर्ण-तरंग-संख्याओं का अनुसन्धान लगभग 1 Cm^{-1} तक हो सका है।

सममित टॉप अणु (symmetrical top molecule) की ऊर्जा-स्थितियाँ ऊर्जा व्यंजक के अनुकूल अधिक जटिल होती हैं (चित्र 8) किन्तु संक्रमण नियम के नियंत्रण से स्पेक्ट्रम का स्वरूप सहज पाया जाता है।

दोलनीय स्पेक्ट्रम (Vibration Spectrum)

अणु के दोलनीय स्पेक्ट्रम निकट इनफ्रारेड क्षेत्र में 2μ से 100μ तक पाये जाते हैं

और इनका भी अध्ययत अवशोषण विधि से किया जाता है। रमन साध्य से अणु की दोलनीय ऊर्जा और दोलन-संख्याओं का अध्ययन दृश्य-क्षेत्र तथा अल्ट्रावायलेट क्षेत्र में भी किया जाता है क्योंकि घूर्ण आवृत्तियों के समान दोलन आवृत्तियाँ भी एक वर्गीय उत्तेजक रेखा के दोनों ओर अपना रमन स्पेक्ट्रम देती हैं और जिस क्षेत्र की रेखा रमन साध्य में चुनी जाती है उसी क्षेत्र में स्पेक्ट्रम बनता है।

चित्र (9) में अणु की दोलनीय ऊर्जा की स्थितियाँ दिखायी गयी हैं। यदि संक्रमण सभी स्थितियों के बीच संभावित हो तो स्पेक्ट्रम बहुत गूढ़ संभावित हो जाय; किन्तु स्थितियों के बीच की दूरी बराबर होने से और संक्रमण नियम के प्रतिवन्ध से $3N-6$ क्वाण्टम-संख्याओं में कुछ के ही बीच संक्रमण होता है। संक्रमण के नियम $\Delta v = \pm 1$ के अनुसार क्वाण्टम संख्या v केवल $+1$ अथया -1 से वदल सकती है और कुछ कम्पन के लिए $\Delta v = 0$ होता है।

अणु के एक प्रकार के कम्पन से स्पेक्ट्रम में एक रेखा पायी जाती है; किन्तु सभी कम्पन के अनुरूप स्पेक्ट्रम-रेखायें एक साथ ही प्रकट नहीं होती। जिन स्थितियों की क्वाण्टम-संख्यायें समान होती हैं, अर्थात् जिनके लिए $\Delta v = 0$ होता है, उनसे रेखा नहीं उत्पन्न होती।

अणु की ज्यामिति-रचना से उसके भिन्न कम्पनों का अनुमान किया जा सकता है। इनफ्रारेड स्पेक्ट्रम में $\Delta v = 0$ उन कम्पनों के लिए लागू होता है जिनसे अणु के विद्युत-चुम्बकीय घूर्ण में कोई परिवर्तन नहीं होता। रमन-स्पेक्ट्रम के लिए यदि अणु का वर्तनांक नहीं बदलता तो दोलनीय क्वाण्टम-संख्या में कोई परिवर्तन नहीं पाया जाता; अर्थात् $\Delta v = 0$ होता है।

इस प्रकार ज्यामिति आकार से ही अणु का स्पेक्ट्रम समझा जाता है और अणु के कम्पनों का वर्गीकरण उसकी सममिति के आधार पर किया जाता है। फिर सममिति के ही अनुसार देखा जाता है। कि ३N—6 में से किन-किन के द्वारा इनफ्रारेड और रमन-स्पेक्ट्रम दोनों मिल सकते हैं। और किनके द्वारा केवल इनफ्रारेड अथवा केवल रमन-स्पेक्ट्रम बनता है। साथ ही कुछ ऐसे कम्पन पाये जाते हैं जिनसे दोनों में किसी तरह का स्पेक्ट्रम नहीं मिलता। इनके व्युत्क्रम से यदि अणु की सममिति न मालूम हो तो उसके इनफ्रारेड और रमन-स्पेक्ट्रम के अध्यय से संक्रमण के नियम लगाकर अणु की सममिति का पता लगाते हैं।

यदि किसी अणु में केन्द्रीय सममिति (Central symmetry) ह जैसे कि रेखीय अणु $A\overset{B}{\text{——}}A$ में तो एक ही दोलन रीति से रमन और इनफ्रारेड दोनों नहीं मिलते। इसी कारण H_2, O_2 आदि अणुओं के जिनमें दो परमाणु हैं, इनफ्रारेड स्पेक्ट्रम नहीं होते। यदि अणु का कोई प्रमुख कम्पन ऐसा है कि अणु की सममिति में कोई परिवर्तन नहीं होता तो जब वह ध्रुवित हो जाता है तभी उसका रमन-स्पेक्ट्रम पाया जाता है।

उपरोक्त विवेचन में यह माना गया है कि अणु में सरल आवर्तनीय दोलन (Simple Harmonic) हो रहा है और अणु पदार्थ की गैसीय अवस्था में है; अर्थात्

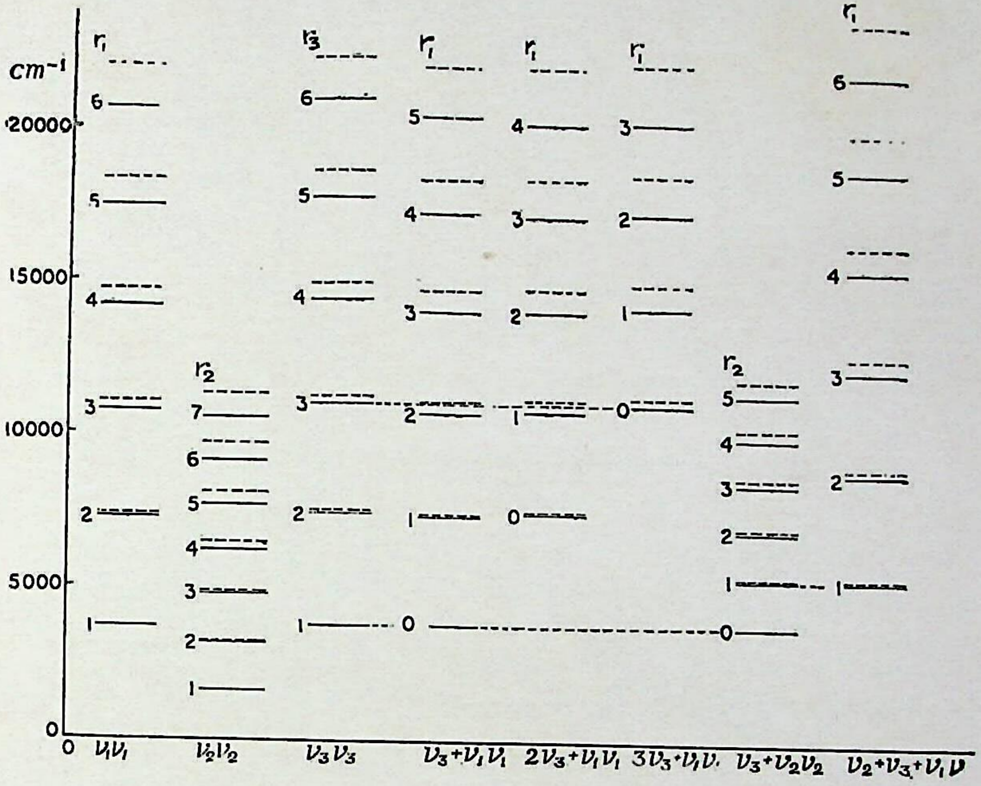
cm⁻¹
20000
15000
10000
5000
0
r1
r2
r3
ν1ν1
ν2ν2
ν3ν3
ν3+ν1ν1
2ν3+ν1ν1
3ν3+ν1ν1
ν3+ν2ν2
ν2+ν3+ν1ν

चित्र सं० (9) पृष्ठ 162

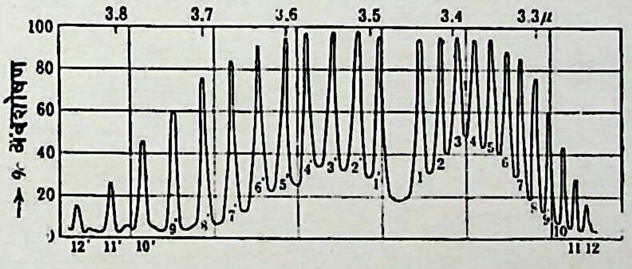

चित्र सं० (10) पृष्ठ 163

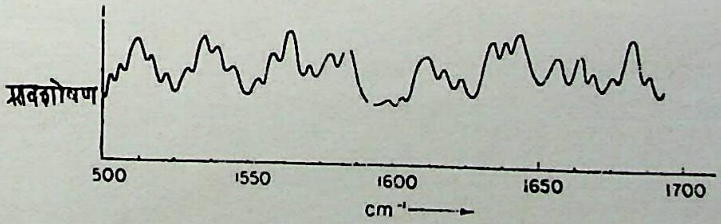

H_2O वाष्प, 6.7μ बैण्ड

चित्र सं० (11) पृष्ठ 163

उसके सरल दोलन में कोई विघ्न नहीं पड़ रहा है। यदि गैस का दाव बढ़ने से अथवा अन्य किसी प्रकार से अणु के सरल दोलन में विघ्न पड़ता है तो संक्रमण न केवल $\Delta v = 1$ के लिए ही होता है वल्कि $\Delta v = 2, 3, 4, \ldots\ldots$ के लिए भी अनुज्ञेय (allowed) होता है और स्पेक्ट्रम में द्विगुण, त्रिगुण तरंगांक मान की रेखायें मिलती हैं। इन रेखाओं की प्रखरता $\Delta v = 1$ रेखा की अपेक्षा बहुत क्षीण पायी जाती ह।

घूर्ण सहित दोलनीय स्पेक्ट्रम
(Vibration-Rotation Spectrum)

अणु की कोई दोलनीय आवृत्ति घूर्ण-आवृत्ति से हजारों गुनी अधिक होती है। अतः दोलनीय स्थितियों के बीच संक्रमण के साथ घूर्ण स्थितियों के बीच संक्रमण होना अनिवार्य होता है और हमें अणु के दोलनीय स्पेक्ट्रम के साथ उसी पर आरोहित घूर्ण-स्पेक्ट्रम भी मिलता है। ऐसे स्पेक्ट्रम में घूर्ण रेखाओं के तरंगांक का मान $\nu\ rot = \nu_{oo} \pm 2JB$ होता है। ν_{oo} शुद्ध दोलनीय स्पेक्ट्रम है। J घूर्ण क्वाण्टम-संख्या है जिनका मान 1, 2, 3,...... होता है। चित्र (10) में HCl गैस का घूर्ण में स्पेक्ट्रम सहित दोलनीय स्पेक्ट्रम की रूपरेखा दिखायी गयी है। संक्रमण नियम $\Delta J = \pm 1$ के अनुसार ν_{oo} के अनुकूल कोई रेखा नहीं मिलती और वह स्थान रिक्त रहता है। इस रिक्त स्थान (null line) के बायीं ओर बैंड की P शाखा और दाहिनी ओर R शाखा होती है। P शाखा की रेखाओं का तरंगांक

$$\nu_{rot} = \nu_{oo} - 2JB$$

और R शाखा की रेखाओं का तरंगांक

$$\nu_{rot} = \nu_{oo} + 2\ JB$$ होता है।

सभी द्विपरमाणु के अणुओं और कुछ सरल बहुपरमाणु की अणुओं के स्पेक्ट्रम में जिनके परमाणु एक लाइन में होते हैं, ऐसा रिक्त स्थान अवश्य मिलता है; और यह तभी सम्भव होता है जब कि अणु का डाइपोल मोमेण्ट अणु के अक्षीय रेखा की सीध में दोलित होता है। ऐसे स्पेक्ट्रम को समानान्तर बैंड (parallel band) कहते हैं। अन्य दोलनीय गतियों में अणु का डाइपोल मोमेण्ट अणु की अक्षीय रेखा के अभिलम्बवत होता है। इनमें संक्रमण नियम

$$\Delta J = 0, \pm 1$$

लागू होता है। स्पेक्ट्रम में P और R शाखाओं के अतिरिक्त एक तीसरी Q शाखा प्रकट होती है जिसके लिए संक्रमण नियम $\Delta J = 0$ होता है। इस शाखा की सभी रेखाएँ लगभग एक ही स्थान पर पड़ती है क्योंकि J के मान में अन्तर नहीं पड़ता और स्पेक्ट्रम में एक मोटी रेखा ठीक रिक्त स्थान पर बनती है। जिस स्पेक्ट्रम में तीनों शाखायें P, Q और R बनती हैं उन्हें अभिलम्ब बैंड (perpendicular band) कहते हैं। सरल अणुओं के घूर्ण स्पेक्ट्रम सहित दोलनीय स्पेक्ट्रम की रूपरेखा चित्र (11) में दिखायी गयी है। बड़े अणुओं के स्पेक्ट्रम इनसे बहुत जटिल होते हैं क्योंकि सममिति का तथा असममित्याकार अणुओं में अनेक स्थायी स्थितियाँ होती हैं। साथ ही भार की अधिकता

से उनके बैंड की रेखाएँ अलग नहीं हो पातीं। भार अधिक होने से घूर्ण-जाड्य अधिक होता है और अणु का घूर्णांक बी (B) बहुत कम होता है। ऐसी स्थिति में बैंड अखण्ड मिलता है। यदि अणु पदार्थ की ठोस अथवा द्रवित अवस्था में है तो पारस्परिक क्रिया से सारी घूर्ण-स्थितियाँ सिमट कर एक हो जाती हैं। दोलन तथा घूर्ण ऊर्जा में आन्तरिक क्रिया बढ़ जाती है और उनकी स्थितियों में परिवर्तन हो जाता है। इन सब कारणों से स्पेक्ट्रम गूढ़ हो जाता है, जैसा कि H_2O के स्पेक्ट्रम की रूपरेखा में पाया जाता है चित्र (10)। H_2O का अणु लट्टू के समान असममित्याकार होता है और स्पेक्ट्रम में कोई नियत क्रम (regularity) नहीं पाया जाता है।

चित्र (12) में बेन्जीन का स्पेक्ट्रम दिया गया है। भार अधिक होने से घूर्ण-जाड्य इतना अधिक और घूर्णांक का मान B इतना कम है कि घूर्ण रेखायें सब आपस में मिल गयी हैं। घूर्ण की स्थायी स्थितियों का अन्तर (separation) इतना कम है कि उनका आवरण (envelope) ही स्पेक्ट्रम में दिखायी पड़ता है। इससे भी अधिक भार वाले अणु के स्पेक्ट्रम में आवरण (envelope) सिमट कर समरूप हो जाते हैं। विशेषकर जब कि ऐसा भारी अणु ठोस अथवा घोल में रहता है। द्रव अवस्था में बेन्जीन का वही बैंड चित्र संख्या (12) के समान हो जाता है।

द्विपरमाणुक अणुओं का इलेक्ट्रानिक स्पेक्ट्रम

अणु के इलेक्ट्रानिक स्पेक्ट्रम में इलेक्ट्रानिक स्तितियों के बीच संक्रमण होने के साथ दोलनीय और घुर्ण स्थायी स्थितियों के बीच संक्रमण होता है। स्पेक्ट्रम शून्य अल्ट्रावायलेट क्षेत्र से लेकर इनफ्रारेड क्षेत्र में किसी भी स्थान पर इलेक्ट्रानिक स्थितियों के अन्तर के अनुकूल बनता है। इलेक्ट्रानिक क्वाण्टम संख्या के साथ दोलनीय तथा घूर्ण दोनों क्वाण्टम संख्याओं के बीच संक्रमण होता है और स्पेक्ट्रम में नियमित रचना पायी जाती है। घूर्ण-रेखाएँ जो दोलनीय स्पेक्ट्रम में अलग-अलग शाखाओं में प्रकट होती हैं वे सन्निकट बैंड के रूप में दिखायी पड़ती हैं और विभिन्न दोलनीय संख्याओं के संक्रमण से इसी प्रकार के कई बैंड पाये जाते हैं। यदि स्पेक्ट्रम बड़े स्पेक्ट्रोग्राफ पर लिया जाता है तो प्रत्येक बैंड की रेखायें अलग-अलग शाखाओं के रूप में प्रकट होती हैं।

इलेक्ट्रानिक क्वाण्टम-संख्याओं के बीच संक्रमण के नियम वैसे ही पाये गये हैं जैसे कि परमाणु की ऊर्जा-स्थितियों की क्वाण्टम-संख्याओं के बीच लागू होते हैं। संक्रमण में स्थितियों की सम्पूर्ण स्पिन-संख्या में कोई परिवर्तन नहीं पाया जाता अर्थात्

$$\Delta S = 0$$

होता है और अक्ष की दिशा में कोणीय संवेग का भाग Λ या तो केवल इकाई मान से बदलता है, अथवा बदलता ही नहीं, अर्थात्

$$\Delta \Lambda = 0, \pm 1$$

होता है, किन्तु अणु के परिभ्रमण संवेग, इलेक्ट्रानिक स्पिन और कक्षीय संवेग में आन्तरिक क्रिया के कारण स्पेक्ट्रम बहुत गहन हो जाता है। यह आन्तरिक क्रिया अनेक रूप से व्यक्त होती है।

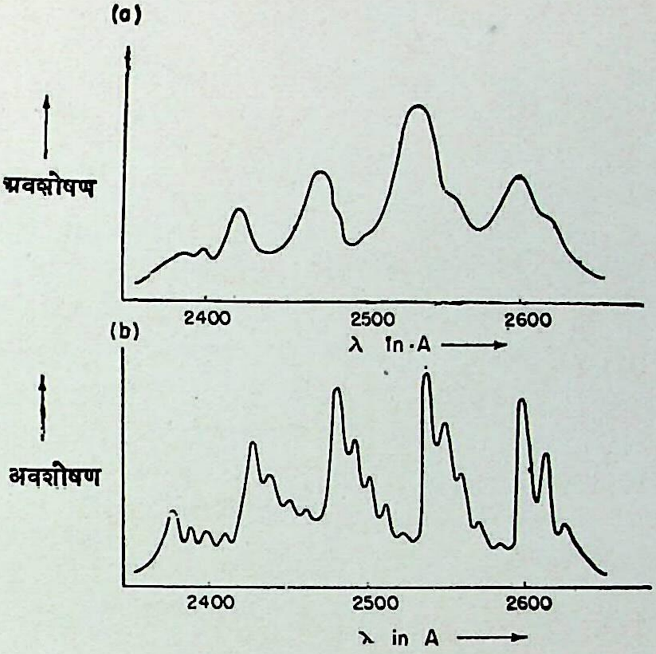

चित्र सं० (12) पृष्ठ 164

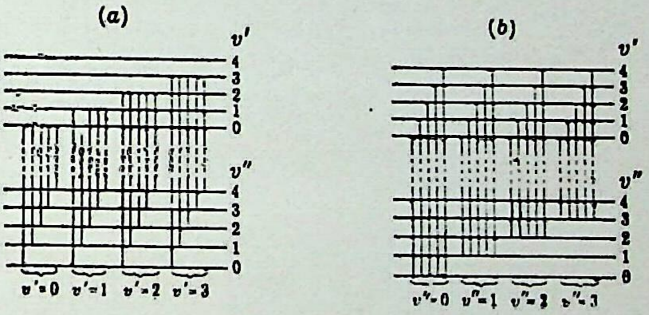
(a)
v'
4
3
2
1
0
v''
4
3
2
1
0
v'=0
v'=1
v'=2
v'=3
(b)
v'
4
3
2
1
0
v''
4
3
2
1
0
v''=0
v''=1
v''=2
v''=3

चित्र सं० (13) पृष्ठ 165

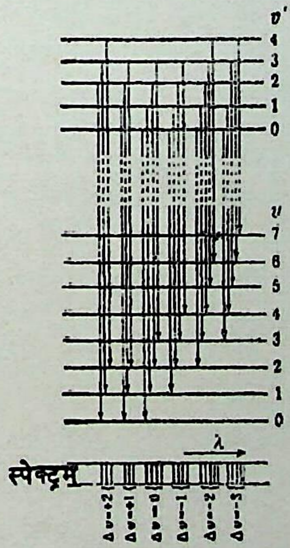
v'
4
3
2
1
0
v
7
6
5
4
3
2
1
0
λ
स्पेक्ट्रम
Δv=+2
Δv=+1
Δv=0
Δv=-1
Δv=-2
Δv=-3

चित्र सं० (14) पृष्ठ 165

द्विपरमाणुक अणुओं का दोलनीय स्पेक्ट्रम

इलेक्ट्रान की कक्ष-गति लगभग 10^8 से॰ मी॰ प्रति सेकेंड होती है और दोनों न्यूक्लियस के बीच दोलन-गति बहुत धीमी होती है। दोलन-गति कक्ष-गति की अपेक्षा लगभग $\frac{1}{100}$ होती है। एक कक्ष से दूसरे की दूरी लगभग 10^{-8} सेण्टीमीटर होती है और संक्रमण में लगभग 10^{-16} सेकेंड लगता है। इतने समय में दोलित न्यूक्लियस केवल 10^{-10} सेण्टीमीटर जा सकते हैं। न्यूक्लियसों के बीच की दूरी 10^{-8} से॰ मी॰ होती है। अतः मानना पड़ता है कि इलेक्ट्रानिक संक्रमण में न्यूक्लियसों के बीच की दूरी में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है तो न्यूक्लियसों के बीच की दूरी पूर्ववत पायी जाती है; अर्थात् r स्थायी रहता है और इलेक्ट्रान सीधे ऊपर जाता है, अथवा ऊपरी स्थिति से नीचे वाली स्थिति पर सीधे नीचे उतरता है। इसे फ्रांक-काण्डन का नियम कहते हैं।

यदि प्रारम्भिक स्थिति में $r=r_e''$ तो वाहरी ऊर्जा से प्रेरित होकर इलेक्ट्रान ऊपरी स्थिति में ए (A) विन्दु पर जाता जाता है, किन्तु इस स्थिति में विन्दु ए (A) पर न्यूक्लियसों के बीच की दूरी r_e'' नहीं है। स्थायी साम्यता के लिए r_e'' बदलकर r_e'' होता है और अणु में इस परिवर्तन के कारण रेखीय संवेग उत्पन्न होता है। वह C बिन्दु पर चला जाता है, किन्तु C बिन्दु की दूरी r_e'' नहीं है, अतः वह फिर बिन्दु A पर आता है। यही क्रम चलता रहता है; अर्थात् अणु बिन्दु A और C के दीच दोलन करने लगता है। दोलन विस्तार क्वाण्टम संख्या $v'=2$ के अनुकूल पाया जाता है और हमें अवशोषण स्पेक्ट्रम का (0,2) वैंड मिलता है जिसके लिए $\Delta v=+2$ होता है। यदि r_e' का मान r_e'' की अपेक्षा इतना हो कि $v''=0$ से चलकर अणु $v'=5$ पर पहुँचे तो हमें (0,5) बैंड मिलता है। इस प्रकार किसी एक इलेक्ट्रानिक संक्रमण में कई बैंड मिलते हैं। किसी एक वैंड के लिए Δv का मान फ्रांक-काण्डन के नियम से ज्ञात किया जाता है। एक इलेक्ट्रानिक संक्रमण से अणु का एक बैंड-समूह पाया जाता है।

बैंड-समूह में कई बैंड ऐसे होते हैं जिनके लिए एक ही v' और कई v'' पाये जाते हैं; अथवा एक ही v'' और कई v' मिलते हैं। इनको बैंड सोपान (progression) कहते (चित्र संख्या 13) हैं। पहले को v'' सोपान और दूसरे को v' सोपान कहा जाता है। साथ ही कई ऐसे भी बैंड होते है जिनके लिए Δv का मान एक ही होता है। इन्हें बैंड-श्रेणी (band sequence) कहते हैं।

चित्र (14) से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उत्सर्जन स्पेक्ट्रम (emission spectrum) और अवशोषण स्पेक्ट्रम (Absorption spectrum) के बैंड यदि अणु की ऊपरी अथवा नीचे की इलेक्ट्रानिक स्थिति से एक ही दोलन क्वाण्टम-संख्या की स्थितियों से उतरते अथवा चढ़ते हैं तो वे स्पेक्ट्रम में एक ही स्थान पर नहीं पाये जाते। अणु ऊपरी स्थिति के $v'=0$ से चलकर $v''=3$ पर और $v'=1$ से उतरकर $v''=4$ पर जाता है और इसी क्रम से हमें उत्सर्जन स्पेक्ट्रम की $\Delta v=-3$ श्रेणी और $\Delta v=-3$ पंक्ति (sequence) मिलती है। नीचे की स्थिति के $v''=0$ से ऊपर चढ़कर अणु $v'=2$, $v''=1$ से $v'=3$, $v''=2$ से $v'=4$ पर जाता है और हमें इसी अणु के

अवशोषण स्पेक्ट्रम में $\Delta v = +2$ पंक्ति के बैंड मिलते हैं जो स्पेक्ट्रम में भिन्न स्थान पर पाये जाते हैं।

यदि किसी इलेक्ट्रानिक स्थायी स्थिति के दोलनीय स्तरों को धीरे-धीरे बहुत ऊँची क्वाण्टम संख्या तक उत्तेजित किया जाय तो एक स्तर तक जाकर अणु के परमाणु पृथक् हो जाते हैं और अणु का विच्छेदन हो जाता है। जितनी ऊर्जा से अणु विच्छेदित होता है उसे अणु की उस स्थिति की विच्छेदनीय ऊर्जा कहते हैं। चित्र में इसे D_e' और D_e'' से व्यक्त किया गया है। हाइड्रोज अणु H_2 और हैलोजन-अणुओं के लिए विच्छेदनीय ऊर्जा (Disociation energy) का मान इसी रीति से ज्ञात किया गया है। यदि विच्छेदनीय ऊर्जा का मान अधिक है, जैसा कि N_2 और CO अणुओं के लिए तो बहुत उच्च दोलनीय स्थिति तक क्रमशः उत्तेजित करना कठिन हो जाता है।

बैंड-समूह के किसी एक बैंड की रचना

हमने देखा कि किसी बैंड-समूह का एक बैंड प्रारम्भिक इलेक्ट्रानिक स्थिति के एक दोलनीय स्तर और अन्तिम इलेक्ट्रानिक स्थिति के किसी एक दोलनीय स्तर के बीच संक्रमण से उत्पन्न होता है। इस दोलनीय संक्रमण के साथ दोनों स्तरों के घूर्ण-स्थितियों के बीच भी संक्रमण होता है। घूर्ण-स्थितियों के बीच संक्रमण जब होता है तो उनकी क्वाण्टम संख्याओं में परिवर्तन $\Delta J = 0, \pm 1$
होता है, किन्तु जब दो $^1\Sigma$ स्थितियों के घूर्ण स्तरों के बीच संक्रमण होता है तो परिवर्तन केवल

$$\Delta J = \pm 1$$

होता है। इसी कारण $^1 \quad -^1\Sigma$ बैंड-समूह के किसी बैंड में दो शाखायें मिलती हैं, जैसा कि दोलनीय स्पेक्ट्रम की रचना में अणु-अक्ष के समानान्तर दोलन के स्पेक्ट्रम में पाया जाता है। भेद केवल इतना ही होता है कि दो इलेक्ट्रानिक स्थितियों के दोलनीय स्तरों के घूर्ण संवेग में बहुत अन्तर होता जाता है जब कि किसी एक ही इलेक्ट्रानिक स्थिति के दो दोलनीय स्तरों के घूर्ण-संवेग लगभग बराबर होते हैं। जब दो इलेक्ट्रानिक स्थितियों के दोलनीय स्तरों के घूर्ण-संवेग में बहुत भिन्नता होती है तो उनके घूर्णांक के मान में भी बहुत अन्तर पाया जाता है। यदि ऊपरी स्तर का घूर्णांक B'' और निचली का B' हो तो बड की रेखाओं का तरंगांक

$$\nu = \nu_{oo} \pm (B' \pm B'')\,J + (B' - B'')\,J^2$$

होता है। बैंड में तीन शाखायें मिलती हैं। एक शाखा का नाम P, दूसरी का R और तीसरी शाखा का नाम Q रक्खा गया है। P शाखा की रेखाओं का तरंगांक $\nu = \nu_{oo} - (B' + B'')\,J + B\,(B' - B'')\,J^2$, R शाखा की रेखाओं का $\nu = \nu_{oo} + (B' - B'')\,J + (B' - B'')\,J^2$ और Q शाखा की रेखाओं का तरंगांक $\nu = \nu_{oo} + (B' - B'')\,J + (B' - B'')\,J^2$ होता है और Q शाखा की रेखाओं का तरंगांक $\nu = \nu_{oo} + (B' - B'')\,J + (B' - B'')\,J^2$ होता है। इनमें $J = 1, 2, 3, \ldots$ लिया जाता है। P शाखा के लिए J का मान नीचे वाली स्थिति के अनुसार और R के

लिए ऊपरी स्थिति के अनुसार लगाया जाता है। Q शाखा में दोनों स्थितियों की घूर्ण क्वाण्टम संख्या एक ही होती है; अर्थात् Q शाखा के लिए $\Delta J = 0$ होता है। यदि दोनों स्थितियों में घूर्णांक B का मान एक ही हो अर्थात् $B' = B''$ हो तो व्यंजक एक ही स्थिति के समान पूर्ववत् पाया जाता है; अर्थात्

$$\nu = \nu_{00} \pm (2\,BJ) \text{ होता है ।}$$

प्रायः ऊपरी स्थिति में घूर्णांक का मान कम होता है, क्योंकि उत्तेजना से परमाणुओं के बीच की दूरी अधिक हो जाती है और उसके कारण घूर्ण-जाड्य बढ़ जाता है। किन्तु यही परिस्थिति सभी अणुओं में नहीं पायी जाती। कुछ ऐसे भी अणु हैं जिनमें उत्तेजित अवस्था में न्यूक्लियसों के बीच की दूरी घट जाती है।

शाखाओं की रेखाओं का तरंगांक B' और B" तथा J के मान पर निर्भर होना है। यदि B' का मान B" से कम हो ($B' < B''$) तो अणु का घूर्ण-जाड्य ऊपरी स्थिति में नीचे वाली की अपेक्षा अधिक होता है। P शाखा की रेखाओं का तरंगांक पहले J के बढ़ने के साथ घटता है। रेखायें बैंड स्रोत से दीर्घ तरंग की ओर पायी जाती है और उनके बीच का अन्तर बढ़ता जाता है। शाखा की रेखाएँ बैंड स्रोत (band origin) से लघु तरंग की ओर पायी जाती हैं। उनके बीच दूरी J के बढ़ने के साथ घटती जाती है; किन्तु J के एक निश्चित मान पर अन्तर शून्य हो जाता है। तदनन्तर रेखाओं का तरंग-दैर्घ्य बढ़ने लगता है और शाखा की रेखायें लौटने लगती हैं। इस J के पास बहुत-सी रेखायें एकत्र हो जाती हैं और यहीं पर बैंड का शीर्ष (head) बनता है जो तरंगाभिमुखी (degraded to red) पाया जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जब उत्तेजित अवस्था में परमाणुओं के बीच की दूरी बढ़ जाती है तो बैंड का शीर्ष शाखा में बनता है और वह दीर्घ तरंगाभिमुखी होता है।

यदि $B' < B''$ हो अर्थात् यदि उत्तेजित अवस्था में परमाणुओं के बीच की दूरी घट जाती है तो P शाखा की रेखाओं का तरंग-दैर्घ्य दीर्घ तरंगदैर्घ्य की ओर धीरे-धीरे घटता जाता है और किसी एक J पर पहुँच कर रेखाओं के बीच का अन्तर शून्य हो जाता है जिससे रेखायें विपरीत दिशा में लौट पड़ती हैं। बैंड का शीर्ष इसी J पर बनता है और लघुतरंगाभिमुखी (degraded to violet) होता है।

अतः यदि किसी स्पेक्ट्रम में बैंड के शीर्ष दीर्घतरंगाभिमुखी हैं तो समझना चाहिए कि शीर्ष R शाखा में बना है और r' का मान r'' की अपेक्षा अधिक है। यदि बैंड के शीर्ष लघुतरंगाभिमुखी हैं तो शीर्ष P शाखा में बना है और मान r'' की अपेक्षा कम है।

यदि बैंड में तीसरी शाखा Q भी विद्यमान है और $B' < B''$ है तो Q शाखा की रेखायें R शाखा की रेखाओं के समान लघु तरंग की ओर पायी जाती हैं और यदि $B' < B''$ है तो Q शाखा की रेखायें P शाखा की रेखाओं के साथ-साथ पायी जाती हैं। भारी अणुओं में बैंड स्रोत के पास इस शाखा की रेखायें सन्निकट पायी जाती हैं और बैंड में एक शीर्ष बनता हुआ दिखायी पड़ता है। इसका रुख $B' < B''$ होने पर R शाखा के साथ दीर्घतरंगाभिमुखी और $B' < B''$ होने पर P शाखा के साथ लघुतरंगाभिमुखी होता है।

इस प्रकार ऐसे बैंड समूह में बैंड में दो शीर्ष दिखायी पड़ते हैं। Q शाखा का शीर्ष $J=0$ पर बैंड स्रोत के समीप ही बनता है।

उपरोक्त विवरण अणु के ऐसे स्पेक्ट्रम के लिए दिया गया है जो एक ही स्थायी स्थितियों के बीच संक्रमण होने से उत्पन्न होता है जैसे $^1\Sigma-{}^1\Sigma$, $^1\pi-{}^1\Sigma$ आदि। यदि स्थायी स्थितियों में विपुलता पायी जाती है तो विपुलता के अनुसार हर एक में कई शाखायें बनती हैं और शीर्ष भी अधिक बनते हैं।

शाखाओं में रेखाओं की प्रखरता एक समान नहीं पायी जाती। प्रायः सभी शाखाओं में J के मान के साथ प्रखरता घटती जाती है। प्रखरता मुख्यतः स्थितियों में विद्यमान अणु-संख्या पर निर्भर होती है जो J के बढ़ने के साथ घटती जाती है। अणु संख्या किसी J के लिए किसी तापक्रम पर बोल्टजमन नियम के अनुसार पायी जाती है। अतः रेखाओं की प्रखरता नापकर हम भिन्न स्तरों में अणु-संख्या का पता लगा सकते हैं और फिर उनके आधार पर तापक्रम का अनुमान करते हैं। इस विधि से किसी ज्वालक, आर्क अथवा स्पार्क का तापक्रम ज्ञात किया जा सकता है जिसका मापन साधारण रीतियों से सम्भव नहीं होता।

बैंड की रचना से हमें अणु की साधारण और उत्तेजित अवस्थाओं के घूर्ण जाड्य का मान मालूम होता है और फिर परमाणुओं के भार आदि के ज्ञान से हम उनके बीच की दूरी भिन्न स्थायी स्थितियों में निकाल सकते हैं। किन्तु इसके लिए हमें सबसे पहले शाखाओं का विश्लेषण और उनकी प्रत्येक रेखा की घूर्ण-संख्या निश्चित कर लेना आवश्यक होता है। शाखाओं के व्यंजक में ν और J का मान लगाकर हम पहले $(B'+B'')$ तथा $(B'-B'')$ के मान ज्ञात करते हैं और फिर इनकी सहायता से B' और B'' निकालते हैं।

DATE OF MAHAKAVI SHRI HARSHA

Dr. GAJANAN-SHASTRI MUSALGAONKAR
Sanskrit Mahavidyalaya

महाकवि श्रीहर्ष, the celebrated Sanskrit poet enjoys a very exalted place among Sanskrit literary personalities. From his fertile pen have come down to us two works, namely, an epic called नैषधीयचरितम् and a philosophical treatise called खण्डनखण्डखाद्यम्. We do not propose to assess here the merits & demerits of the two works. The aim of this article is to show that the theory about the date of the poet, as propounded by many eastern and western scholars, which goes to prove that the poet flourished in the 13th century A. D., is founded on fallacious arguments. In fact, the poet's date falls somewhere between the 9th century A.D. and the middle of the 10th century A.D.

We shall begin with an examination of those arguments put forth by such eminent scholars as Mm. Shivadatta Shastri, Dr. Bulher, Dr. Baburam Saxena, Sitaram Jayaram Joshi, Pt. Baldeo Upadhyaya, Shri Chandrashekhar Pandeya and Shri Bholanath, all of whom contend that the poet flourished in the 13th century A.D.

The concluding verse of the नैषधीयचरित bears out this fact that महाकवि श्रीहर्ष was a protege of कान्यकुब्जेश्वर. We understand from a gift-order issued by Jayanta Chandra, whom history calls by the name of Jayachand, the ruler of कान्यकुब्ज that he lived in 1187 A.D. (विक्रमसंवत्-1243). This illustrious king was the ruler of Varanasi also. When it is determined that Jayachand or Jayantachandra lived in the 12th century A.D. then it is also determined that महाकवि श्रीहर्ष too lived in the same period. It is because of this that the fact of महाकवि श्रीहर्ष having composed विजयप्रशस्ति and गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति eulogising विजयचन्द्र the father of जयचन्द्र, comes to light from his several verses. In those times there was no other king who could fittingly be called गौडोर्वीशकुलप्रदीप. Consequently, this description appearing in the विजयप्रशस्ति and गौडोर्वीशकुलप्रशस्ति evidently alludes to विजयचन्द्र.

राजशेखर in his प्रबन्धकोश written about 1348 A.D. also describes म. क. श्रीहर्ष as a member of the Council of Ministers at the Court of जयन्तचन्द्र. This fact also goes to prove that महाकवि श्रीहर्ष flourished in the 12th century A.D.

चाण्डूपण्डित a resident of the village named ढोलका, near अहमदाबाद, wrote in 1296 A.D. विक्रम सं० 1353 a commentary on the नैषधीयचरित. One of his verses runs thus

"श्रीविक्रमार्कसमयाच्छारदामथत्रि-
पञ्चाशता समधिकप्रमितेष्वितेषु ।
तेषु त्रयोदशसु भाद्रपदेच्च शुक्ल-
पक्षे त्रयोदशतिथौ रविवासरे च ॥"

चाण्डूपण्डित speaks of the नैषधीयचरित as a new poem

"श्रीसानालिगपण्डितः स्वसमयाविर्भूतसर्वश्रम-
श्चाण्डूपण्डितसंज्ञितं प्रसुषुवे श्रीगौरिदेवी च यम् ।
वुद्ध्वा श्रीमुनिदेवसंज्ञविबुधात्काव्यं नवं नैषधं
द्वाविंशे च स वर्णने वितरणं सर्गे च चक्रे क्रमात् ॥"

From the statements of the same चाण्डूपण्डित we come to know during his time there was only one commentary written by विद्याधर on नैषधीयचरित

"टीकां यद्यपि सौपपत्तिरचनां विद्याधरो निर्ममे
श्रीहर्षस्य तथापि न त्यजति सा गम्भीरताम्भारती ।
दिक् कूलङ्कषताङ्गतैर्जल धरैरुद्गृह्यमाणम्मुहुः
पारावारमपारमम्बु किमिह स्याज्जानुदध्नंक्वचित्" ॥

On the basis of all these evidences the aforesaid scholars have come to the conclusion that महाकवि श्रीहर्ष lived in the latter half of the 12th century A.D. But we agree to differ with these scholars on the ground that the above arguments are not sound enough to be relied upon.

महाकवि श्रीहर्ष, in the concluding verse of each canto, refers only to कान्यकुब्जेश्वर. He never refers to any particular king like जयन्तचन्द्र. Just as जयन्तचन्द्र was a कान्यकुब्जेश्वर so also were his forefathers viz. विजयचन्द्र, गोविन्दचन्द्र and others.

Rajashekhar's statement cannot be treated to be historically reliable as otherwise one will have to admit that कालिदास was the court poet of the emperor भोज.. Again, गौडोर्वीशकुलप्रदीप

is not the title of any particular king. This epithet is equally applicable to both जयचन्द्र and his father. श्रीहर्ष himself says that he has composed a poem called विजयप्रशस्ति. Commonsense says that a poet generally eulogises the king whose protege he himself is. So the composition of this poem goes to establish one very important point viz. that महाकवि श्रीहर्ष was not a court poet in the times of जयचन्द्र but he was there in the regime of विजयचन्द्र.

The word नव as used by चाण्डूपण्डित should not be construed to mean novelty "in the composition". It is a well-known tradition in the world of scholars to refer to an extra-ordinary or wonderful thing by the word नव, चाण्डूपण्डित seems to have called the नैषधीयचरित as नवीन because out of the famous five sanskrit epics, viz. रघु, किरात, कुमार, शिशुपाल and नैषध the last one surpasses the rest in point of lofty imagination. We can quote innumerable verses even from his own compositions wherein he himself describes his ideas as novel or wonderful or extraordinary. So चाण्डूपण्डित too meant to describe the extra-ordinariness, not the anteriorty of the composition. चाण्डूपण्डित's statement that upto his time there was only one commentary by विद्याधर available on the नैषधीयचरित, is also not correct. For, चाण्डूपण्डित lived in 1296 A.D. (वि० सं० 1353). Much before him a scholar named भूदेवपण्डित had written a commentary in the year 1050 A.D. वि० सं० 1107.

"युग्माश्वाङ्कैर्निरुवत्ते (९७२) शकनृपसमये कान्यकुब्जेश्वरस्य
ह्यादेशम्प्राप्य यस्मान्नलचरित महाकाव्यटीकां व्यधत्त।
सूरिर्भूदेवसंज्ञो दिनमणितनयः कूर्म पूर्वाङ्गजन्मा
तुष्यात्तेनान्तरात्मा त्रिभुवनजनकोमापगिः श्रीमहेशः" ॥

From this verse also it is clear that भूदेवपण्डित too attempted his commentary only after being ordered to do so by कान्यकुब्जेश्वर. Thus भूदेव's commentary on नैषध was composed in 1050 A. D. Eventually on the authority of the मङ्गलश्लोक of the commentary written by भूदेव, we shall have to accept that महाकवि श्रीहर्ष lived before 972 saka era.

In this connection there is yet another point which deserves careful consideration. चाण्डूपडित in the beginning of his commentary has alluded to the fact that श्रीहर्ष wrote his philosophical work styled as खण्डनखण्डखाद्य in order to refute his father's opponent—उदयन-राजशेखर without mentioning the name of उदयन, substantiates this fact. Now it is a matter of conjecture that उदयन referred to here is the same celebrated उदयन, the author of कुसुमाञ्जलि and that he was a contemporary of श्रीहर्ष. उदयन in his लक्षणावलि, gives his own date as 984 A. D. i.e. वि० सं० 1041. The definitions given by उदयन in his लक्षणावलि have been refuted by श्रीहर्ष in his खण्डनखण्डखाद्य.

A specimen may be reproduced here—श्रीहर्ष writes in the chapter on अनुमान in his खण्डनखण्डखाद्य :

"तस्मादस्माभिरप्यस्मिन्नर्थे न खलु दुष्पठा ।
त्वद्गाथैवान्यथाकारमक्षराणि कियन्त्यपि ॥"

उदयन also has refuted the reference occurring in the खण्डनखण्डखाद्य in the second chapter of his work called आत्मतत्त्वविवेक. Therefore it is quite logical to suppose that श्रीहर्ष and उदयन were contemporaries. Both these authors have refuted each other's views, which fact indicates that both were contemporaries.

There is another fallacious argument which the scholars of history make and that is this गोविन्दनन्दन the word गोविन्दनन्दन appearing in this verse has been interpreted to mean जयचन्द्र and the word तात associated with the विजयप्रशस्ति has been taken to prove that विजयचन्द्र was the father of जयचन्द्र. The word गौडोर्वीश also has taken to mean जयचन्द्र. But all these contentions are erroneous.

Really speaking, the word गोविन्दनन्दन is a बहुव्रीहि compound and it suggests मदनपाल, the father of जयचन्द्र. As to the valour of मदनपाल the following verses are worth remembering :

"तस्यात्मजो (श्रीचन्द्रदेवात्मजः) मदनपाल इति क्षितीन्द्र-
चूडामणि विजयते निजगोत्रचन्द्रः ।
यस्याभिषेककलशोल्लसितैः पयोभिः
प्रक्षालितङ्कलिरजः-पटलन्धरित्र्याः ॥"
"यस्याऽऽसीद्विजयप्रयाणसमये तुङ्गाचलोच्चैश्चल-
न्माद्यत्कुम्भिपदक्रमासमभरभ्रश्यन्महीमण्डले ।
चूडारत्नविभिन्नतालुगलितस्त्यानासृगुद्भासितः
शेषः शैशववानिव क्षणमसौ क्रोडे निलीनाननः ॥"

The word विजयप्रशस्ति appearing in विजयप्रशस्ति तातस्य is a relative word. The answer to the curious query, whose विजयप्रशस्ति is this-the विजयप्रशस्ति of the poet's patron. This means that word विजयप्रशस्ति here does not allude the eulogy of जयचन्द्र but the विजयप्रशस्ति of the kings of the Gauda.

Gangesh Upadhyaya, the author of तत्त्वचिन्तामणि a treatise on नव्यन्याय, has refuted महाकवि श्रीहर्ष's views. गङ्गेश flourished in the 13th century A. D. This goes to point out that महाकवि श्रीहर्ष lived before 13th century A. D. In this way, on the strength of the references made by चाण्डूपण्डित and the internal evidence of the works of उदयनाचार्य it is established that श्रीहर्ष was a contemporary of उदयनाचार्य himself refers to his date as 984 A. D. The date of the composition of भूदेवपंडित's commentary is 1050 A.D. These evidences enable us to conclude that it is proper to maintain that the date of महाकवि श्रीहर्ष falls between 9th century A. D. and the middle of 10th century A. D. and not 11th or 12th century A. D. It is hoped that scholars will give due consideration to this new approach.

A SURVEY OF HINDĪ-DIALECT DICTIONARIES

RAM PRAKASH KULSHRESHTHA

The purpose of this article is to give an account and history of the work done so far on dialect dictionaries of Hindī area. The author does not aim at, presenting the methodology of collection and analysis of data pertaining to dialect dictionaries. He would rather "expect a dictionary of a local dialect to give all the words that are current in non-standard speech with phonetic accuracy and with reasonable care in the definition of meanings".

In the Western countries the work on dialect dictionaries had begun in the last decades of 18th century. Walter William Skeat founded 'The English Dialect Society' whose aim was 'to collect words with divergent pronunciation, to record technical terms and proverbs and to transcribe specimens of dialect texts'. After that was published Joseph Wrighter's 'English Dialect Dictionary' in 1905. This dictionary contained 'the complete vocabulary of all dialect words in use or known to have been in use during the last two hundred years'.

But in India, the work on dialect dictionaries was started in the last decades of the 19th century. The history of Hindī-dialect dictionaries, according to their period, may be classified as follows :—

A. The dialect dictionaries published before 1885.
B. The dialect dictionary published in 1885, and
C. The dialect dictionaries published after 1885.

The work done on Hindī dialect dictionaries before 1885 had a greater importance as these contained technical terms which were prevailing in those days. This type of work contributed a lot in the courts and in government offices in their day to day proceedings. These collections of glossaries attracted government officials as well as non-officials and consequently there came out a series of dialect dictionaries one after the other either in India or in Western countries. Here, it may be mentioned that the credit for this goes to the Westerners for the collection, analysis as well as publication of these glossaries.

The aim of these dictionaries was to collect the terms used in courts and in establishing contacts with Indian villages and culture. It is worth-mentioning here that these dictionaries were not prepared linguistically or on the principles of lexicography.

There is a vast difference of opinion amongt he linguists as well as learned people about the first Hindī-dialect dictionary. One group is of the opinion that 'Kutcherry Technicalities' edited by Mr. Carnegy is the first dialect dictionary. But besides it, we also get several other dictioaries which were published before it. Duncan Forbes edited 'A Dictionary of Hindustānī Language' which was first published in 1848, its revised and enlarged second edition came out in 1866. The first part of 'Hindustānī-English Dictionaries' contains 802 pages and the second part 'English-Hindustānī Dictionary' consists of 342 pages. The presentation is according to Persian character. The first part of this dictionary is based on the following dictionaries and books which may be mentioned here—

1. Hunter, William—Dictionary Hindoostanee and English, 2 Volumes.
2. Gilchrist, Dr. Hindee Moral Preceptor, 8 volumes.
3. Gladwin—A Dictionary of Mohomedan Law and Bengal Revenue Terms.
4. Elliot, H. M.—A glossary of Indian Terms, 8 volumes.
5. Prof. Johnson.—A Dictionary of Persian and Arabic and English.
6. Adam, Dr.—Hindi Dictionary.
7. Lallū Lāl—Prēm Sāgar.
8. Thompson—Hindī and English Dictionary.
9. Herklots, Dr.—Qanoon-e-islam.
10. Duknnee Unwari Soheelee.
11. Wilson, N. H.—A Glossary of Judicial and Revenue terms and of useful words occuring in official documents, relating to the Administration of the Government of British-India 1855.

The second part of Forbe's 'A Dictionary of Hindustanī Language' is based on Dr. Gilchrist's Dictionary, English and Hindustani, in two volumes which was published in 1796 at Calcutta. The aforesaid discussion concludes without going in details of controversy that 'A glossary of Indian Terms' by H. M. Elliot stood first in chronological order of Hindi-dialect dictionaries. This dictionary was meant for the use of the various departments of the Govt. of East India Company. In 1842, a preliminary 'glossary of Indian Terms' prepared with a blank column on each page for suggestions and additions, was circulated in India as a basis for a comprehensive official glossary. The only important result of the circulation was a supplement to the 'glossary of Indian Terms'. This remarkable work has been revised, re-arranged and re-edited with additions. Āgrā, the city of Tāj, has the honour of publishing it in the year 1845.

Another dictionary is of Patrick Carnegy's 'Kutcherry Technicalities' or 'A glossary of Terms, Rural, official and general, in daily use in the courts of Law, and in illustration of the Tenures, Customs, arts and Manufactures of Hindustān'. It was first published in 1853 in Mission Press of Allāhābād. Its Hindī version can be seen in Bhārtīya Sāhitya (Volume No. 2-3, July 1957). Carnegy mentioned the fact that he started collection of data in the year 1850. The order of its presentation in Roman; Nagari and Persian characters. Its revised and enlarged second edition was published in 1877.

In the year 1879, William Crooke published his 'A digest of Rural and Agricultural terms' or 'Materials for a rural and agricultural glossary of the North-Western provinces and oudh'. It is a collection about 15 thousand words. This collection, before publication, was sent, for valuable suggestions and corrections, to the civil and educational officials. It deserves mention here because its first edition was arranged on the basis of subject but its revised edition was in alphabetical order. Another characteristic of this dictionary is that it is a collection of different divergent pronounciation of terms. It should also be mentioned here that Crooke utilised the following dictionaries :

1. Elliot, H. M.—A glossary of Indian Terms for the use of the various departments of the Govt. of East India Company.
2. Reeds, J. R.—Āzamgarh glossary, and
3. Wilson, H. M.—A Glossary of Judicial and Revenue terms of useful words occuring in official documents, relating to the administration of the Government of British-India, 1855.

With the publication of Crooke's dictionary, we get another 'A new Hindustānī-English Dictionary with illustrations from Hindustānī literature and Folklores by S. W. Fallen published in the same year. This dictionary is not much of linguistic significance since it deals with more folkoristics than of linguistics. Its importance lies in the fact that 'prominence is given to the spoken and rustic mother tongue of the Hindī speaking people of India, the exhibition, for the first time of the pure, unadulterated language of women and the illustrations given of the use of words by means of examples selected from the everyday speech of the peoole and from their poetry, songs and proverbs and other folkore'. The compiler has utilised the advantage of residence for many years in Delhī and Bihār, the two poles, so to speak of the Urdū and Hindī phases of the language which are together represented in the common term, Hindustānī. He also resided at Mathurā, the headquarters of the Braj dialect as well as at Āgrā, Kashī, Ayodhyā, Bīkānēr, Jodhpore'.

The first part of this dictionary consisting of the words nearest in the sense to the root meaning and the next group of words less closely allied to it than the first. No sketches are there in this dictionary.

We cannot ommit mentioning here the importance of John. T. Platts 'A Dictionary of Urdū, classical Hindī and English. Its first edition came out in 1884. The order of presentation is according to Persian alphabetes.

The above mentioned discussion is the first phase of the development of Hindī-dialect dictionaries. These dictionaries, actually are not based on the principles of lexicography. We largely agree with Dr. Grierson when he says, 'Each writer copied his predecessor, according to his capacity, corrected a few mistakes or not, introduced a few more or not, and proclaimed a new gospel which was not new'.

In 1885, Dr. Grierson published his 'Bihār Peasant Life, a discursive catalogue of the surrounding of the people of that province'. This Peasant life initiated the second phase of the development of Hindī-dialect-dictionaries. It might be possible that Dr. Grierson might have been inspired by Mr. Lāl Biharī Dey's 'Govind Sāmant' published in 1874, later its revised edition was called, 'Bengal Peasant Life' published in 1878.

"Bihār Peasant Life" is a collection of about 10 thousand terms, collected from the conversational speech of the people and noted on the spot where it was spoken either by writer himself or by his assistants. It was carefully compared with every available book of reference and where discrepancies occured, they were either reconciled or explained. Finally, proof-sheets were circulated to all the Bihār districts and were again checked on the spot by competent observers different from the original persons who collected the materials on which the book was founded. 'This book, Dr. Grierson says, 'may claim to be entirely original, and to a certain degree accurate'.

There were two sources of collection of data. First, Dr. Grierson's own researches ; secondly, Mr. Crooke's book 'A digest of Rural and Agricultural Terms', and all the books on which Mr. Crooke's book depended. The author does not claim originality in its general system and arrangement. This is modelled on Crooke's book. The terms have been explained with illustrations, sketches and photos.

'Bihār Peasant Life' is an important mile-stone in the field of dialect dictionaries whether they are of Hindī or other dialects. It is the main source of inspiration to the Indian linguists. The second phase of the history of Hindī dialect dictionaries ceases with this valuable book.

It is regretable that for about six decades of the 19th century not a single dictionary came out, but with the inspiration of Dr. Dhīrēndra Vermā and on the foot-steps of Dr. Grierson, Shri Harihar Prasād Gupta collected "Glossary of Rural Industries". Guptā's 'Gramōdyog aur unkī Shabdāwalī' (Glossary of Rural Industries) begins the third phase in the development of Hindī dialect-dictionaries. It is an apt to mention here, that Gupta's work was meant for D.Phil degree of Allāhābād University. His is a limited field of work and brief in scope as well as in collection. His limited scope and brief collection of about 2500 terms, do not interefere with his distinction of being the first Indian dialect lexicographer in Hindī area. Dr. Gupta's area was Parganā Ahiraulā, Tahsil Phūlpur and district Āzamgarh. In the opinion of Dr. Gupta, the work of Dr. Grierson is not scientific and authentic because it covers a wide area of Bihār and is done not by a man but by many parties. Thus he selected a little area and collected the material personally with a view to make his work more scientific and authentic. The first portion of his work is arranged according to industries and the second portion is arranged alphabatically. Alphabetically arranged terms are explained with grammar, etymology and the numbers of paragraphs and sub-paragraphs are also given. But apart from all these characteristics, Dr. Gupta did not try to explain the terms with sketches and figures. Had Dr. Gupta used sketches and figures; his work would have become more valuable and important.

Mention may also be made here of a booklet 'Krishi-Kōsh' (Agricultural Glossary) of Shri Pyārelal Garg, containing 33 pages, published by Nāgrī Prachārnī Sabhā, Kashī. This is a mere collection of Agricultural glossary. It is not fruitful even for the people who are engaged in this field.

In 1956, there came a Braj Bhāshā Kī Krishak Jīwan Shambandhī Shabdāwalī (Agricultural Glossary of Brajbhāshā) by Ambā Prasād Suman. Dr. Suman worked with view for his research. Two collections—one huge i.e. Dr. Grierson's 'Bihār Peasant Life' another brief i.e. Dr. H. P. Gupta's Glossary of Rural Industries'—were before him. Dr. Suman was inspired and collected about 14 thousand terms of Agriculture.

The field work for collection of data was made by Dr. Suman himself with a view to make his work more scientific and authentic. That is why he collected nouns, verbs, indeclinables, proverbs and idioms. When he found discrepancies, he discussed with the peasants on the spot in Alīgarh district. Terms are explained with etymology and compared with other dialects. There are about 846 sketches and thirty nine figures used in both the volumes.

Dr. Suman hopes that his work will be helpful in Brajbhāshā as a dialect and its literature. He is of the opinion that his scope of work is more wide and more accurate than that of Bihar Peasant Life.

The first part of the Krishi-Kōsh (Agriculture-Glossary) was published in the year 1959 with a long introduction containing techniques and methodology of collection, analysis and presentation. Dr. B.N. Prasād who is one of the senior most linguists of India is editing this work. This is the only collection which is according to the principles of lexicography and with all the applications of principles of linguistics. The collection of data for this work was made by trained research assistants. Collection was made from the mouths of the people at the spot, the controversial points, if available, were discussed with the people concerned. The proof-sheets were also sent to the spot for the necessary corrections before its publication.

Its arrangement is in alphabatic order. The terms are explained nearest to its meaning, after that the place of its existence is also mentioned in abbreviated forms in the brackets. The standard forms of the terms are given, and, in case, there is any slight phonetic variation that has also been mentioned in it. If a word has more than one meaning, all the meanings are given in order of its nearest relation to the term. The terms are compared with other dialects, and to make these terms more clear and accurate, sketches are also given. The synonyms and antonyms given therein are the main characteristics of this dictionary, which are not found in any other dictionaries.

This dictionary, linguistically, has more importance. It is more scientific, accurate and authentic. It is the light house in the ocean of the Hindi-dialect dictionaries.

Dr. Prasād not only edited the agriulture glossary but he also inspired his pupils to engage themselves in this direction. Devī Shankar Dwivēdi worked on 'Glossary of Bāiswārī' under the supervision of Dr. B.N. Prasād. Another work 'Glossary of Garhwālī' by Haridutt Bhatt was completed under the supervision of Dr. R.N. Sahāi of K.M. Institute of Hindi studies and Linguistics, Agra.

The study of 'Garhwālī Kā Shabda Sāmarthya' (Glossary of Garhwālī dialect) was made by Haridutt Bhatt in 1960. The data were collected by his own efforts for about three years. The presentation of the first part is according to subject and the second part is alphabetical. The etymology is also given for most of the terms. The terms are analysed on the grammatical categories. But the author did not try to give the sketches and figures to make his work more valuable.

Dr. Dwivēdī, in his 'Baiswārī Kā Shabda Sāmarthya' (Glossary of Baiswārī dialect) has adopted the same principles as have been established by Mr. Bhatta. The author has tried his best to give etymologies of most of the terms but this lacks in the sketches and figures. The author has also worked on grammatical categories of the glossary. We do not find any difference in the presentation of the works by Mr. Bhatta and Mr. Dwivēdī.

Another work limited in area and matter by Shrī Sāligrām Sharmā is 'Allāhābād Zile Kī Krishi Shambandhī Sabdāwālī

(Agriculture-glossary of Allāhābād district). The first portion of the work gives the details of meanings arranged on the subject, the second part is arranged alphabetically. The author claims the authenticity of etymologies for more than 50% of the terms. Dr. Sharmā personally collected the material with an aim to make his work more accurate and scientific. He had the opportunity to discuss the doubtful terms, if available, on the spot.

After this work, there comes a study of 'glossary of Kumāyūn dialect' done by Rām Singh. Mr. Singh travelled, from one place to another in Almörāh, Nainītāl and Pithārāgarh districts, for the collection of data. The recording of the divergent phonetic differences, is the only main feature of this work. Etymologies of the terms, sketches and figures are not given.

Recently, another research 'Hariyānā Kī Sānskritik Shabdāwalī (Cultural Glossary of Hariyānā) has been done by Vishnu Dutta Bhārdwāj. This work is meant for research and done under the supervision of Dr. R. N. Sahāi of K. M. Institute, Agrā. The author of this work, Mr. Bhārdwāj personally collected the material, and, in an interview told the author of this paper that all the problems relating to the glossary were discussed at the spot with the people concerned, with a view to make this work more authentic and scientific. The presentation of this work is according to subject. The terms are explained in details and its etymology is also given at the same time. The second half of the work is arranged alphabetically. The number of paras and sub-paras are also given. Had Bhārdwāj given the sketches and figures, his work would have become more valuable.

The aforesaid works are the major works of great importance. But apart from all these major efforts, we get minor efforts too. The minor works cannot be excluded from this discussion. These works play minor role in the books which are the works of the dialects. As we get in 'Mrignayanī, the famous novel of Dr. Vrindāvan Lāl Vermā, the terms of Bundelī dialect are explained in the end. It was made on the advice of Dr. V. S. Agrawāl. The main aim of it was to make his novel more understandable. In the same way, Dr. K. C. Agrawāl and Dr. R. P. Agrawāl have also given a little glossary in their works 'Descriptive Analysis of Shēkhāwatī dialect' and Linguistic analysis of Bundelī dialect' respectively, Linguistically and on the principles of lexicography, these works exist no where but mere collection of the glossary.

The major and minor works, if we critically examine, may be classified clearly under two main heads. These works are meant for the purpose of degree only and independent works. Independent works are very little and may be counted on finger's end. Dr. Prasād's 'Agriculture-glossary' and Dr. Grierson's 'Bihār Peasant Life' deserve mention here as an independent works. The rest of the works are directly meant for the purpose of Research Degrees.

It is a highly gratifying that people are being drawn to this direction. The result of this attraction is that a number of reserch scholars are engaged in this field. B. M. Jāwalā is collecting the 'Agricultural glossary of Mēwār of Rājasthān'. T. R. Sharmā's work is on, 'The glossary of Rural Industries of Muzaffar Nagar' A. C. Gaur's works' 'Agriculture-glossary of Tahsil Bhāgwat (Mēērut district), N. C. Rāi's work on 'Agricultural glossary of Bhjōpurī (based on Gāzipur district) and H. G. Singh's work on 'Agriculture-glossary of Bundēlī, all are under preparation.

THE 'NĀGAS' IN THE MAHABHARATA*

KRISHNA CHANDRA MISHRA
Junior Research Fellow
Deptt. of Ancient Indian History

The 'Nāga' and 'Sarpa' are distinct ethnic appellations for two kindred groups of autochthones in ancient India. They do not find mention in the oldest scripture of Indo-Aryans which is full of the description of encounter with Dasas, Dasyus and Asuras. It is, however, significant that the Ṛgveda applies epithet 'Ahi' for some demoniac foes, '*Vṛtra*' or '*Śambara*' (R.V. II. 12-3, 11). But its interpretation as denoting some such people as later 'Naga' of the Epic and Buddhist literature is very doubtful[1]. The word 'Nāga' is met with in much later strata of Vedic literature. Coming to the 'Great Epic of India' we find that Dasa and Dasyus were now extinct or absorbed into the fourth category of Hindu caste system. Asuras faired better and were gradually being submerged into the upper two strata of Aryan community. Fierce among these pre-Aryan elements were classed with Rākṣhasas who were bitterly against the Brahmanas and their rituals. During this period Aryans were not so much afraid of the Nāgas as of the Asuras and Rākshsas. Nāgas appear to have been a peaceful jungle tribe spread all over in the plains of North India. They remained passive in the beginning and cast a non-chalant look over the new intruders (Āryans) who were engaged in breaking the forts of their city-dweller enemies in North-West. But soon the conquerers wanted more lands for their cattle and agriculture and they began to clear off the jungles by burning them. Those sylvan people (Nāgas) were the worst victims of this primitive practice for the acquisition of free lands and consequently tried to avenge their foes in a fitting manner. Their continued hostility towards the Aryans of Madhyadeśa is recorded in the epic. The incident of burning Khāṇḍava forest by Arjuna and Kṛiṣṇa, wherein lay the abode of Takṣhaka, the most powerful of the contemporary Nāgas, indicates this. Parīkṣhit, the sole surviver of Kuru race, was killed by Takṣhaka. His son Janamejaya re-established his superiority having subjugated them in their stronghold, Takṣhaśila and Chalked out a plan for the wholesale massacre of their race. Janamejaya's plan was, however, abondoned by the mediation of a Brahmana, Asīka, who himself was born of a Nāga mother. He could, thus save the life of Takshaka and the Nāgas, afterwards, seem to have reconciled with the Aryans.

---

* Paper read in All India Oriental Conference, XIIIrd session of Aligarh, 1966.

[1] A Sāyaṇa interprets '*Ahi*' as 'offender' (*Āhantaram*) RV. 11.12.11.

The Nāgas are considered to be a branch of Asuras[1]. One great difficulty in identifying the pre-Aryan ethnic names is that in ancient records they are all grouped together and made descendants of a common eponymous progenitor, Kaśyapa. The genesis, described repeatedly in the Mahābhārata (I.59, 60) mentions in the first case only Nāgas, as the sons of Kadrū. In the next chapter which is explicity a bardic inflation of the former the Nāgas and Pannagas (Sarpa ?) are mentioned as different groups, born of Surasā and Kadrū respectivly. Though, the Gita (x-28, 29) has set Śeṣa and Vāsuki as the models of of Nāga and Sarpa, both are described as the sons of Kadrū at the same place in the Mbh. (I.59.40).

Śeṣa was the first and the greatest of the Nāgas, who abandoned his kingdom, having been disgusted with his belligerent clansmen. Vāsuki was the next great king of Nāgas who planned to rescue his race from the holocaust launched by Janamejaya. But the most venomous and wrathful Nāgas was Takṣhaka. He was a friend of Indra and retained a long drawn animosity with the Kurus. Some of the other important Nāga nams are (Mbh. 1.31) Airāvata, Karkoṭaka, Nahuṣa, Dhṛtarāṣṭra, Kauravya and Dhanañjaya, . It is striking that many Nāga names are akin to the names of the Kings of Kuru race, which testifies that, earlier, the stronghold of Nāgas was

---

[1] vide "Asura India" JBORS, Vol. XII, p. 353 f.

Kurukṣetra where same of them had been assimilated to the Kurus[1].

Besides, matrimonial relation between Nāga and Āryan tribes was quite prevalent in the days of the Mbh., which speaks very clearly in favour of their human and not merely a mythological serpentine form, recognised even at a quite later date. Both Brahmaṇas and Kṣhatriyas married Nāga women freely and their offsprings belonged to the father's caste. Thus Somaśravā, the Chief priest of king Janamejaya, was born of a Nāga mother (1.3.15). The birth of Āstīka is noted above. The genealogy of Puru and Bharatas mentions a Paurava king Ṛkṣha who married the daughter of Nāga Takṣhaka (Mbh. 1.90.24, 39). Bhīma was saved, while drowned in the waters, by a Naga king, Āryaka, who was his mother's (Pṛthā's) mother's father (1.119, app. I.73). Arjuna married a Nāga princess known as Ulūpī (1.206.18). Mātali goes to Nāgaloka in search of a suitable match for his daughter (V.97).

Marriages with Nāga maidens were still common in medieval India and many historical dynasties are known to have emerged from a Nāga mother.[2] Even to this day many local dynasties in India claim descent from the Nāgas.[3] In all such cases Nāga clans embrace human relations.

The Epic mentions some cities as strongholds of the Nāgas. Chief among them, Pātāla, is described at length in some cantoes of Udyogaparva (97-101). This was understood later as "Underworld" but from the account it appears as a real city of Nāgas where "Fire God of the Asuras" was worshipped and people followed a kind of strange 'cult of cow' (*Govrata*). Similarly, 'Rasātala' and 'Bhogavatī', which Matali traversed through the realm of Varuṇa (western quarters), were two other cities of Nagas. The description of Rasatala in the Mbh. (V. 100) is greatly mythologised. But Bhogavati appears frequently as the name of the city of Nagas in the Epic and Puranas. Its location is very uncertain. At one place (*Tīrthayātrā* of Balarāma) in the Epic this is described as situated on the 'desert tract of the Nāgas' (*Nāgadhanvā*) (9.37.300). But in the Tirthayatra of Vanaparva (III.83.72) Bhogavati is mentioned as a sacred pool maintained by Vasuki Naga near the confluence of Ganga and Yamuna. Valmiki (4.41.37) refers to it in the south near the hermitage of Agastya. This is also known as the "Golden City of Nagas" in the Buddhist legends.[1] From the various references in earlier and later records it seems that Bhogavati had become a general name for the city of Nagas.[2]

---

[1] The Kuru lineage itself amulgamated from an earlier bargaining between Purus and Bharatas.

[2] Vide, Kosambi "Autochtonous elements in the Mbh." JAOS-84(I) p. 38.

[3] Vogel: Indian Serpent Lore, p. 633 f.

No less significant historically, is the name of Nāgapura or Hastināpura (Mbh. 1.105.19, 21 etc.), which appears to have, originally been occupied by the Naga tribes, before the Kurus could have seized it from them. Later, as the distinction between Nāga tribe and serpent was forgotten, the elephant (Nāga) was also associated with their name (Mbh. 1.2.145). The old esteemed Airāvata family of Nāgas was engrossed with the name of a celestial white elephant which became the vehicle of Indra.[3]

It is quite evident from various records in the Purāṇas and Jātakas that Nāgas, at one time, had built many strongholds in Northern and Central India, from Takshasila in the west to Rajagṛha (Manignāga) and Vaiśālī in the east and Māhiṣmatī in south.[4] All such reflections prove wide occupation of India by a race of Nagas, who either followed the cult of snake-worship or maintained the tradition of their descent from the snake, from pre-Epic days. However, in later mythologies and legends any distinction between Naga tribes and serpent was completely forgotten and so the Nāga chronicles in the Epic, Purana and Jatakas pose an odd problem before a modern scholar.

---

[1] Vide, R. L. Mehta: Pre-Buddhist India, 415.

[2] *ibid.*

[3] The conception might have arisen due to the later adoption of this Aryan God by the Nagas. To emic animals of Pre-Aryan tribes were made vehicles of Aryan Gods in later sychronistic Hinduism.

[4] Vide, Epic Mythology, p. 28; also, Ancient Ind. Hist. Tradition, pp. 153, 263 ff.

The recognition of Nagas as an actual tribe or race is much disputed and nothing definite can be said about their identification with any existing racial element in India. James Fergussion,[1] considered the Nāgas as "serpent worshippers, a race different from Āryans and Dravidians probably belonging to Turanian stock", which is also supported by Prof. N. L. Dey.[2] On the other hand, Vogel, following Oldenberg, Winternitz and others has denied the above theory and considered the account of Nāgas as pure fables of the type of animal saga and fairy tale.[3]

It is argued that Nāgas lived in a different Loka or world. But this cannot be *prima facia* a case for their celestial or unhuman aspects. For, '*Loka*' in the anecdote of *Mātalivarānveṣaṇa* in the Mbh. (V. 97) and Pātālakhaṇḍa of Pūrāṇas signifies nothing but a locality or some distinct islands. The Mbh. (V. 97-7) adduces derivation for the name Pātāla as "where water falls abanduntly". The existence of such a city is evidenced from Greek sources. Both Strabo and Ptolemy[4] mention Pātalene, a city state on Indus delta, which is supposed to have been located at the cite of modern Brahmanabad near Haidarabad in West Pakistan.[5] It was only in muchl ater mythical accounts that this abode of Nāgas was confused with an imaginary 'underworld'. Underground mansion of Nāgas is frequently alluded to,[6] and the analogy of 'snake's pit' is always carried out to express their sole charge of earth's metallic and mineral wealth.[7] Nāga's extreme devotion to jewel, may be an indication of their pre-eminence as miners.

---

[1] "Tree and Serpent Worship in India", 2nd ed., 1873.

[2] "Rasatala".

[3] I. S. L., p. 3 ff.

[4] Vide, Classical Account of India, pp. 260, 372.

[5] Historical Geograpyh of India, p. 280.

[6] Vide, *Uttaṅka* episode in the Mbh. (1-3).

[7] *ibid.*, The 'jewel of serpent' has been still a stock subject in medieaval romances.

There is also no force in the argument that 'the names of principal Nagas belong to Indo-Aryan language and therefore, the theory of existence of any such Non-Aryan racial element may easily be discarded'.[1] Tilaka[2] had pointed out similarity between Vedic and Chaldean names of serpent. Nahuṣ appears as a distinct tribal name in Ṛgveda (X. 80.60). He is enlisted among serpent kings (Mbh. I. 31.9) and becomes a 'boa' in Epic and Purānic legends (Mbh. III. 177). According to some scholars.[3] Nahuṣ is equivalent to old Hebrew-Naghos, =a brazen serpent, worshipped by the people of Judea. Words like, *Uru-gula, Aligi, Valigi* (Ath. Veda 5.13.6-8) occur in Accadian language as the name of old Assyrian serpents. Vāsuki is fairly comparable to Semetic serpent Basku.[4] According to Prof. N. L. Dey most of Sanskrit serpent names belong to Hunic or Turanian language.[5] J. Przyluski has shown the Austro-Asiatic affinity of some important snake names like Karkota and Kudhara.[6]

Whatever may be their original racial and linguistic position, the Nagas are almost invariably associated with Asuras in Epic and Puranic legends. The 'snake worship' is said to have originated in Assyria as the symbol of earths generative power.[7] This was recognised in India at least in post-Saṁhita period. The Satapatha Br. personifies the earth as Kadru, the mother of Nagas.[8] Their connection with sea and waterpools and the matrilineal descent traced in the Sambhava-parva of the Mbh. (1.59, 60) also suggest their affinity with the Asuras. Whether the Nagas were later affiliated to this proto-Indian race which, in terms of Indian traditional ethnography, combines all Non-Deva-Manus [Indo-(Vedic) Aryan ?] elements or formed an immediate offshoot branch of the Asuras is not easy to decide. Dr. A. P. Banerji Shastri, in his eminent studies on "Asura India"[1] considers them a northern branch of Asuras who originally lived in Hunja-Nagar as the outskirts of Kasmir. According to the same author 'Nagas had contested every bit of ground from N.W. to Magadh'.[2] But this is not corroborated by the evidences in the Epic. For, ancient Nāgas (unlike modern ones in Assam) had never been a warlike people. They easily stooped and vacated their homes before the advancing conquerers. Their main features in the Epic are supremacy over the jungles, sea and lake (*Hrada*), possession of metallic wealth (jewel), mastery in building craft and the knowledge of some occult practice which included both elixir and poison.[3]

---

[1] Indian Serpent Lore, p. 6.

[2] Bhand. Comm. Vol., p. 32 ff.

[3] Hewitt, "Notes on Early history of N. India", JRAS, Vol. XXI, p. 265.

[4] Buddhaprakash : Political Social Movements in Panjab, pp. 47-48.

[5] Rasatala, p. 51.

[6] Vide, Indian Serpent Lore, p. 6 (footnotes).

[7] Hewitt, op. cit. ; also 'Asura India' by A. Banerji.

[8] (*a*) *Iyaṁ pṛthivī Kadrūh*, 3. 6. 2. 2.
(*b*) *Iyaṁ pṛthivī Sarparājnī*, 2. 1. 4. 30.

Naga is still the Indian peasant's favourite 'guardian of fields' (*Kshetrapāla*) and their intimate connection with underearth was at the bottom of a widespread cult of snake among primitive people, who had just begun to explore the mineral resources of earth and were set on the path of agriculture. Prof. Kosambi considers them only the remnants of most primitive people who had not advanced from 'the stage of foodgathering'.[4] Presumably Indian Nāgas like Dāsa, Dasyus were different from Asuras and probably formed the original layers of native population, who gradually coalesced with the Asuras due to a similarity in cult. The worship of snake as the symbol of earth's generative power was prevalent among almost all the prominent nations of ancient world.[5] Apparently, the word 'Nāga' becomes a generic term for a forest aboriginal in the Epic.

The *Epic Age* is predominantly characterised by a sychronysm between diverse aboriginal and Aryan elements of religion, culture and race. Life depicted in the Epic is remarkably in contrast with the orthodox behaviour in the age of Brahmanas. The Bhārata battle had brought the end of an era of first Aryan imperial power and reduced their racial supremacy to a considerable extent. Nagas emerged as a powerful and most widely diffused race in the post-war period. The Epic bears testimony to the reciprocal acculturation of Aryan and primitive elements by interwoving various Nāga episodes which, as Prof. Kosambi rightly observes, are 'essential parts of its fabric and not merely a result of some mental quirks of the bards'.[1] The movement was poineered and accomplished by two progressive families of priests, viz., Bhārgavas and Kaśyapas, both of whom ware conspicuous for their secular character, and the latters particularly noted for the recruitment of aboregenes into Aryan fold.

---

[1] JBORS, XII.

[2] JBORS, p. 355.

[3] Cf. Mbh. *Uttaṅka* episode 1-3, and 1-30-20, 1-119 etc.

[4] op. cit.

[5] Hewitt, op. cit., p. 265.

V. S. Sukhankar has shown tremndous influence of Bhārgavas on the extant Mahabharata.[2] Now it is possible to say that they were poineered and helped in the redaction and inflation of the Epic text by Kaśyapas,[3] who, though unknown in the Vedas, are dominating in the Puranic texts and Buddhist legends. Kaśyapa is elevated to the position of *Prajāpati* of all creatures including Nāgas, in the Puranas.

The synchronysm discernible in the Mbh. was worked out by an essential compromise between these two families of Brahmanas and the aborigines—which arose as a popular demand of the redaction of the Epic. The Nagas were the last remnants of the Pre-Aryan occupants of this country, who anyhow survived till the historical periods. It was natural that their deeds should occupy a prominent place from the very beginning of the national saga of India.

---

[1] Kosambi, op. cit., p. 83.

[2] 'Bhṛgu & Bhārata', ABORI, 18, 1-76.

[3] Vide, Kosambi, op. cit.

CARAKA ON INHERITED VARIETIES OF HUMAN CONSTITUTION AND THEIR PSYCHOSOMATIC CHARACTERISTICS : A PRE-CHRISTIAN VIEW

Dr. H. C. SHUKLA

The object of this article is to present the Caraka's views on human-typology, a subject which is receiving serious thought in the contemporary medical world. Looking into the history of Āyurveda (knowledge of life), the period of Caraka, the redactor of Agniveśtantra by Agniveśa, a pupil of Maharṣi Ātreya, has been established as second century A.D. by M. Sylvan Levi,[1] but according to the internal evidence of the work, there is a greater likelihood of his being anterior to the Indo-Scythian Buddhist king Kaniṣka, with whom he has been associated by the former and he may be safely placed between the third and second century B.C.[2] As he was only a redactor, the ideas present in Caraka Saṁhitā, which is the title given to Agniveśtantra after its redaction by Caraka, represent the medical school of Ātreya, who flourished in India in a period not later than seventh century B.C.[3] Therefore, the following description of human types represents at the latest seventh century B.C. view on the subject.

According to Caraka Saṁhitā, the pattern of development of the foetal body is dependent on the nature of the following factors.[4]

1. Śukra (male-seed). 2. Ārtava (female seed). 3. Season during pregnancy. 4. Uterus. 5. Maternal diet. 6. Maternal engagements and 7. Geography of the maternal habitate during pregnancy.

---

[1] Caraka Saṁhitā: (Jamnagar, Shree Gulabkhunverba Ay. Society, 1949), Vol. I. p. 95.

[2] Mukhopadhyaya, G.N.: History of Indian Medicine (Calcutta University Press, 1929), Vol. III, pp. 610; 612-613.

[3] Caraka Saṁhitā: (Jamnagar, Shree Gulabkunverba Ay. Society, 1949), Vol. I, p. 64.

[4] Caraka Saṁhitā: Vimāna 8/95: (Bombay, Nirnaya Sagar Press, 1941).

One or more of the *doṣas* (Vāta, Pitta and Śleṣmā), which predominate in the aforesaid seven factors, are incorporated in the foetus and thence the *prakṛti* (psychosomatic constitution) of human beings determined antenatally, is named after the predominating *doṣa* (Vāta, Pitta or Śleṣmā as the case may be). As a result of the sum total effect of the above influences, human beings inherit anyone of the following five types[1] of psychosomatic constitution: 1. Śleṣmala, 2. Pittala. 3. Vātala, 4. Saṁsṛṣṭa[2]. or mixed (In it the characteristics of the three Vātala, Pittala and Śleṣmala types are variently mixed up and thus the Samsṛṣṭa constitution can have a number of sub-types depending upon the relative strength of the characteristics of the unmixed constitutions of which it is a mixture). 5. Sama[3] or equipoised (Here the better[4] qualities of the three unmixed constitutions are present in an equal[5] proportion).

Sama and Śleṣmala types of constitutions are considered to be the best from the point of view of health and longevity[6].

It is difficult to describe exactly the nature of Vāta, Pitta and Śleṣmā in modern biochemical language, but the description of the effect these produce on the foetus and ultimately on the life long psychosomatic behaviour of the individual, may provide food for thought to any one interested in the problem.

The description of the characteristics of the three *ekadoṣaja prakṛtis* (*Monodoshic* psychosomatic constitutions) known as Śleṣmala, Pittala and Vātala is given below, the remaining two types can be apprehended by the relative presence of the characteristics of these three as mentioned before. The nearest English version of the original description by Caraka is presented with the addition of very short notes within brackets, just to assist the appreciation of the idea conveyed.

---

[1] Ibid.

[2] Ibid. 8/99.

[3] Ibid. 8/100.

[4] Cakrapāṇi: Caraka Saṁhitā, Vimāna 8/100 (Bombay, Nirnaya Sagar Press, 1941).

[5] Ibid.

[6] Ibid. 8/122.

Characteristics of Śleṣmala[1] Prakṛti or Constitution :

The body of an individual belonging to Śleṣmala constitution is unctuous, smooth (as if polished) pleasing to look at, soft and fair, but at the same time stable, compact and proportionately well developed. They are sexually vigorous (with well developed secondary sex characteristics) and have a large number of progeny. Their movements, speech and diet are less and slow. Their mental initiation, agitation and alternations are delayed. Their steps are steady and purposeful. (In the physical sense as their body is compact and heavy, their gait is stable, on the psychological side, they take steps in any direction after sufficient thought, after which their movements are steady and purposeful to achieve the goal). They suffer less from thirst, hunger, heat, sweat and diseases. Their joints are supported and surrounded by strong and well knit muscular tendons and ligaments. Their outward appearance and voice is gracious and friendly. Because of the combination of aforesaid qualities, individuals of Śleṣmala, *prakṛti* are strong (physically and immunologically) rich, learned, august, vigourous, composed and longlived (with average longevity between sixty one and hundred years).[2]

Characteristics of Pittala[3] Prakṛti or Constitution :

Individuals of Pittala constitution can not stand heat, their normal oral temperature is (relatively) high, they have soft and tender physique and are of fair complexion (lack Cutaneous tanning). Their skin presents dry eruptions and discolourations in plenty ; they suffer more, from hunger and thirst. They have a tendency for premature baldness, greying of hair and wrinkles on the skin ; over all hair on their body are less, soft, thin and brown (not dark). They cannot endure suffering (either psychic or somatic); their muscles and joints are lax and soft. They sweat urinate and defecate in larger amounts. Foul odour is emitted out of their oral cavity, armpits, head and body. They have lesser sexual and procreative capacity (midway between Śleṣmala and Vātala Types), therefore, have less progeny. Thus, due to above combination of (psychosomatic) characteristics, Pittala individuals are endowed with medium (physical and immunological) strength and longevity (thirty one to sixty years as maximum span of longevity).[1] They have medium intellectual, spiritual and material equipments.

---

[1] Caraka Saṁhitā : Vimāna 8/96 : (Bombay, Nirnaya Sagar Press, 1941).

[2] Ibid. 8/122.

[3] Ibid. 8/97.

Characteristics of Vātala[2] Prakṛti or Constitution :

Physique of persons of Vātala constitution is dry (due to low sebacious glands' secretion or there is less subcutaneous fat), wasted and small, Their voice is harsh, weak, sunk, discontinuous and dull. They are alert (over-cautious) and their gait, behaviour, food and discourse is swift and unsteady. Their joints, eyes, eyebrows, jaws, lips, tongue, head, shoulders, hands and feet are unstable. They do much incoherent talking and many tendons or tendon like prominences and venous ramifications are visible on their body; they quickly start with any enterprise, quickly get agitated, perturbed, frightened, and have very unsteady likes and dislikes; they grasp quickly but are of a very short memory. They cannot tolerate cold and prepetually suffer from tremors and stiffness (of limbs) due to it. The hair on their head, body and face, their nails, teeth, face, hands and feet are rough. Their limbs are cracked (due to less body water) and their joints constantly produce sound during movement. Consequent on the combination of aforesaid characteristics, individuals belonging to Vātala constitution are usually weak, short lived (with average longevity of less than 31 years)[3] poor, with less progeny and limited (socio-economic) resources. Caraka believes in the specific constitutional predisposition[1] for diseases and have given three separate lists[2] of diseases, to which the individuals belonging to Vātala, Piṭtala and Śleṣmala constitution are respectively more susceptable. Aphoristic rules (Sūtra) for constitutional hygiene are also mentioned, which can be dilated to suit the individual subjects, belonging to different environments.

---

[1] Ibid. 8/122.

[2] Ibid. 8/98.

[3] Ibid. 8/122.

---

[1] Ibid. 6/15.

[2] Ibid. Sūtra 20/11, 17.

[3] Ibid. Vimāna 6/16, 17, 17.

FIVE SCIENTIFIC DISCOVERIES WHICH ORIGINATED IN THE COMMONWEALTH

SHIVA PRASAD

Central School, Banaras Hindu University

The major discoveries of the world can be divided into four different categories. In the first one we put those discoveries which relieve humanity of its sufferings directly. These are generally in the medical or surgical field. The discoveries of the second class are those, which are used to advance technology and industry. These types of discoveries raise people's standard of living. The discoveries of the third kind are fundamental, which neither relieve humanity of its sufferings nor are directly useful for industry. They only increase our understanding of nature. Lastly, there are discoveries which can be used for the destruction of humanity, such as the discoveries relating to martial weapons.

The discoveries in the first group are the most important ones, because it is the duty of each and every person to help those who are suffering. It is said that the cousin of Lord Buddha once shot a bird which was injured and which fell upon the ground near the Lord, who was called Prince Gautam at that time. Gautam took hold of the bird, dressed its wounds and cured it. Meanwhile the cousin arrived at the place and asked for the bird. His claim was based on the fact that he had shot the bird. Gautam did not agree with him. So the result was a quarrel between the two. A saint was passing by at the same time and he settled the matter. He rightly decided that the right of love was greater than the right of killing and the bird belonged to Gautam by virtue of love.

From this point of view, the work of Sir Ronald Ross which led to the vicory over malaria is one of the most important scientific discoveries which originated in the Commonwealth.

Malaria was a dreadful disease. Millions of people used to die of malaria in the world. Even those who recovered were very much weakened and were unable to do hard work. So Sir Ronald Ross, a doctor in the 'Indian Medical Service', started doing research work on malaria. He met Sir Patric Manson, a famous medical scientist in England. Manson advised him to perform experiments on mosquitoes, because most probably mosquitoes were instrumental in spreading this disease.

After returning to India, Ross took various kinds of mosquitoes and forced them to bite the malarial patients. After killing and dissecting these mosquitoes he put them under a microscope, but he was not able to find out any malarial microbes in them. This failure did not discourage him. Once in the stomach of a new kind of mosquito, he saw round microbes of malaria and also saw them multiplying. Hence he came to the conclusion that those malarial microbes are parasites, which thrive on the blood of the mosquitoes.

Ross then took three birds, one of which was suffering from malaria. Mosquitoes sucked its blood. Ross dissected those mosquitoes and examined them under a microscope. He was able to see those malarial parasites living in the stomach of the mosquito. He saw them growing and ultimately going to the spitting gland of the mosquito.

Ross now, again forced non-malarial mosquitoes to bite a healthy bird. He did not see any effect of it on the bird. But when those mosquitoes sucked the blood of the bird which suffered from malaria and then bit a healthy bird, the latter did suffer from malaria. In this way, he got two new results: Firstly, malaria can only be spread by a special kind of mosquito. Secondly, when that kind of mosquito sucks the blood of a malarial patient, parasites move into the stomach of the mosquito. They multiply there and then go to the spitting gland of the mosquito. When this mosquito bites a healthy person parasites move into the blood of that person and the man becomes a victim of malaria.

Thus knowing the cause of the spread of malaria, mankind started a war against mosquitoes, the only kind of war, which is useful to mankind. In this way the number of deaths owing to malaria has been considerably reduced.

Another wonderful discovery of the first category is that of penicillin by Alexander Fleming. Fleming was a microbe hunter. He used to make cultures for growing microbes in his laboratory, in London. Once in 1928 he found that there was no growth around a speck, which seemed to have fallen upon it by chance. He concluded that the speck was responsible for stopping the growth of his culture. He later found that the speck was a kind of mould which produced some such thing which would not let his microbes grow in the culture.

He collected the broth near the mould and extracted some compound from it. He injected this compound to the patients who were suffering from a disease caused by a particular type of microbe called cocci. He found that those patients were cured. Since this compound came from Penicillium, he called it Penicillin.

Penicillium mould is a living organism so is the cocci. In Fleming's experiment there was a struggle between the two kinds of organisms. Penicillin was produced by Penicillium to check the growth of cocci. Penicillin also checks the growth of cocci in the blood of human bodies and so the patients recover. As Penicillin acted against a living organism, so the class of such compounds began to be called antibiotic meaning against life, Of course, here 'life' denotes the life of microbes.

Penicillin was the first antibiotic to be discovered and it was followed by a number of antibiotics. Since penicillin caused wonderful cures, it was called a 'wonder-drug'.

Radar is another important discovery developed in the commonwealth, which saved the lives of millions of people. During the Second World War, Germany heavily bombed the British cities. So the Britishers were interested in inventing some instrument which could inform them of the arrival of the enemy planes when they were at a distance. The British planes could then go up and stop them, before they could bomb the British cities. Radar was developed in search of this instrument.

Radar works on the principle of echo. When the sound is made in front of building and its echo is heard, we can detect the direction of the building which reflected the sound energy by knowing the direction of the echo. If we know the velocity of the sound and the time interval between the sound and its echo, we can also calculate the distance of the building. The same thing happens in a radar. Radio-waves of very small wavelength are emitted from an aerial at regular intervals in all directions as in a rotating search-light. When an aeroplane crosses their path they are reflected. A radar receiver receives them and shows the time between their emission and reception. From this data the exact position of the aeroplane can be determined.

A radar is not only used in war times but it is also very useful in peace times ; for example, if there is a mist or frost in atmosphere, and the pilot of an aeroplane is not able to find the landing place, the radar of an aerodrome helps it to make a blind landing.

In the second category of discoveries we can put those which are concerned with production of electricity.

This is an age of electricity. It has raised our standard of living. Our houses and roads are lighted with the help of electric current. Our rooms are heated by electric radiators and cooled by electric fans. It acts as a messenger, when we send our messages telegraphically from one place to another. By its help we can talk with our friends at a distance on telephone. The radio, the television and the refrigerator all use electricity. Hence the discovery of the method of the production of electricity is an important achievement. Electricity is generated by means of dynamos. These machines work on the principles which were discovered by Michael Faraday, who rose from a book binder's apprentice to one of the most celebrated scientists of all time. The laws which he discovered are known as Faraday's laws of electro-magnetic induction.

Suppose there is a magnet placed at a particular place. We bring a magnetic pole near it. There will be some force which will act on it. It may be attraction or repulsion. We say that the space surrounding the magnet consists of a magnetic field. We also draw imaginary lines in this field to show the direction of the force which will act on a unit North Pole. These lines are called magnetic lines of force. If the force is great, we draw a greater number of magnetic lines of force; but if the force is less, we draw a smaller number.

We take a hollow wooden cylinder and wind a coil of insulated wire on it, the two ends of which are connected to a sensitive galvanometer. Since there is no current in the coil there will be no deflection in the galvanometer. Now we bring a bar-magnet inside the coil. The galvanometer will be deflected which indicates the induction of electric current in the coil. The force which induced this current is called the electromotive force (E.M.F.). When the magnet is fixed in the coil there will be no deflection but when we remove the magnet the galvanometer is again deflected which again shows the production of current.

Before the magnet was brought there were no lines of force in the coil. But when the magnet was brought there was an increase in the number of magnetic lines of force, which induced current. Similarly when the magnet was removed there was a decrease in the number of lines of force, which also induced the current. Hence E.M.F. can be induced in the coil by an increase or a decrease in the number of lines of force passing through it. This is Faraday's first law of electro-magnetic induction.

Suppose we bring the magnet or romove it very quickly, a greater E.M.F. will be induced in it. On the other hand if we do this slowly a smaller E.M.F. is induced. This gives rise to the second law of electro-magnetic induction which states that the induced E.M.F. is directly proportional to the rate of change in the number of magnetic lines of force passing through a coil.

There is a third law of electro-mangetic induction also which tells the direction of E.M.F.

The same results that have been obtained above will be found if the magnet is fixed and the coil is brought over it or removed from it. The number of lines of force can also be changed if a coil is rotated in such a way that in one position it is perpendicular to the lines of force and in another position it is parallel to them. This is the principle adopted in modern dynamo. In them many coils of wire are wound on a soft iron core called the armature. The armature is rotated in a magnetic field produced by electro-magnets. In the other type of generators the coil is fixed and electromagnets are rotated.

Raman Effect, discovered by the famous Indian scientist Professor C. V. Raman can be kept in the third category, because it is of fundamental nature.

Light is propagated as a wave motion. The number of the waves sent out in a second by a source of light is called its frequency. Frequency determines the colours of visible light. If we illuminate the slit of a spectrometer by the light of one frequency that is by monochromatic light we will be able to see its image in the telescope of the spectrometer in the form of a line. The position of the line will differ if we illuminate the slit by the light of another frequency. Suppose we illuminate a substance by monochromatic light and allow the scattered light to fall upon the slit of a spectrometer, the images formed by it are sometimes found to be different from the original ones. It shows that the frequency of the original light has changed after its scattering. This is called Raman Effect and the new lines are called Raman Lines.

The difference between the frequencies of the original and Raman lines is characteristic of the scattering molecules. Thus by studying Raman lines we can get information about the structure of the molecules and their methods of vibration.

The development of the atom bomb comes in the last category but it does not form the subject of this essay, because it did not originate in the Commonwealth.

IN DEFENCE OF NEW TYPE OF TESTS

LAL MANI MISHRA

Research Scholar, Deptt. of Psychology.

Much is said today on the present educational system of our country. Much more is said on the present examination system. Persons from all walks of life and shades of opinion have been giving their own views on the pattern of education that our Country might adopt. Politicians and Government have found education a convenient object of frequent experimentation. Whether we have really achieved something as a result of these experiments, remains a debatable issue. Is it not a time when we might take advantage of sucess already achieved in pedagogic researches ? Change in the system of examination is an issue which is hotly discussed in our country today. It is in this context that a case is presented below in defence of new type of tests.

The traditional examination system of India is that of essay type. Question papers generally seek answers in the form of short essays. Question papers, usually contain some ten questions and a candidate is required to write short essays on any five or six of them within the prescribed time limit. Marks are awarded by the examiners on these essays. These marks are accepted as indicies of students' proficiency in various subject.

It can be seen at the outset that a question paper does not and can not cover the entire scope of study prescribed for the whole year. Even if it is done it can not be possible for the candidates to answer the questions on entire syllabus in the form of essays. Naturally, the examiner frames limited number of questions which are supposed to be representative of the entire syllabus. This encourages guessing on the part of the candidates. Candidates invariably try to guess the probable questions which they are likely to find in the examination papers. Their studies and preparations for the examination become selective and remain confined to a limited portion of the syllabus. Now their luck comes to play a major role. They are favourably placed if the examination paper contains the questions they had anticipated and prepared. They are gravely handicapped if the examination question paper dodges their guesses. Examiners' evaluation in the form of marks is therefore largely a product of their fortunate and unfortunate guesses.

Studies of the candidates have become examination oriented. Candidates indulge in selective studies on the basis of their guesses in order to score the best possible marks which indicate their levels of proficiency in a subject. It must be remembered that examination is not an end in itself, it is a tool to measure a student's achievement and the efficiency of teaching. What has come to stay is just the reverse of it—examination has become an end in itself and education a means to achieve the same. The report of the Indian Universities Commission of 1902 expressed the following view on the corrent system of examination "......the greatest evil from which the system of University education in India suffers is that teaching is subordinated to examination and not examination to teaching". The Government ment of India resolution on educational policy of 1904 says, "In recent years they (examinations) have grown to extravagent dimensions and their influence has been allowed to dominate the whole system of education in India, with the result that instruction is confined within the rigid framework of prescribed courses, that all forms of training which do not admit of being tested by written examinations are liable to be neglected and that teachers and pupils are tempted to concentrate their energies not so much upon genuine study as upon the questions likely to be set by the examiners".

Since a candidate has not to answer very many questions and he can anticipate quite a few, he depends often on cramming up the answers to the anticipated questions. In this way he is able to remember something without actually understanding what he has remembered. It will not be very wrong to say that the traditional system of examination judges a candidate's memory and not his real knowledge.

Considering that the traditional system of examination does not cover the entire syllabus, that selective study is practisised, that cramming is a common habit of students and that luck of individual candidates has a part to play in determining their marks, one really wonders what do the examination marks stand for. How far is it fair to accept these marks as measures of the level of their achievement in the *entire syllabus* of a subject ?

The traditional system of examination seeks answers in the form of essays to be written within the given time. There are candidates who are slow at writing. They may be knowing the full answers to the question to be attempted. They are naturally handicapped. Also, there are candidates who can not write a legible hand. Sometimes they are so illegible that the examiner can not read what they write. In such cases much of what they write brings no return to them in the form of marks. Yet, there are candidates who know the subject matter but possess inadequate language ability to express themselves. Sometimes it may also happen that an examiner, impressed by a candidate's power of expression, rates him high even though there is little substance in his answers. Does not this examination system become a test of composition ? One of the purposes of examination is to measure the level of achievement of a candidate in a branch of knowledge. It is ironical indeed if a candidate's language ability influences his score in the measurement of his knowledge of a subject.

The process of evaluating essay type of answers has always been an object of bitter criticism. Evaluation of essays is purely subjective. Such an evaluation, when expressed quantitatively, can not be a true measure of a candidate's knowledge and achievement. Instances are available when an essay has been scored too low by one examiner and too high by another. Under such circumstances evaluation varies from examiner to examiner. Investigators have further revealed that the same essay fetched different marks on different occasions at the hands of the same examiner. The reliability of such an evaluation has always been questioned. The situation deteriorities further when the number of candidates is large and their answer books are examined by different examiners. It is not possible to maintain uniformity in the standards of evaluation. Comparing the candidates on the basis of such marks is neither scientific nor fair. The report of Primary and Secondary Education Reorganization Committee, U.P. 1939, observes: "In fact it is notorious that the marking of examinations is largely unreliable and that the examinations themselves do not furnish an adequate measure of the achievement of the pupil. The element of chance is always present in the examinations in a large degree. The standard which examiners adopt are mainly subjective and, therefore, liable to great variation from person to person and year to year. In the case of even the same examiner it is not possible to maintain the standard of uniformity.........".

The amount of time and money spent in this process of evaluation deserves serious consideration. Evaluation of essays consumes much time as the answers are usually lengthy. The examiner has to go through all the essays written by a candidate before awarding him marks. Sometimes candidates have to wait in suspense for several months for their examination reports. They can not proceed with higher studies only because their results are not declared soon after the examination. The wastage of time envolved is not condusive to the general welfare of young scholars. The amount of stationary consumed, remunerations paid to the examiners, and the expenses incurred on incidental items; all lay a heavy financial burden on the parents and also on the public exchequer. One only needs to look and estimate the expenses involved in the conduct of such an examination. Can a poor country of ours afford such an expensive machinery of examination ?

The criticisms against the traditional essay type of examination have been harped for a long time now. It is time that available scientific techniques of educational measurement be employed. Standardized objective tests of educational achievement are widely in use where reliability and faireness are assured in evaluation. The need for objective tests (also called Achievement tests, Attainment tests and New Type of Tests) has been voiced by eminent educationists. In Dr. Zakir Husain's report of 1938 emphasis has been placed on new-type of examination with a criticism of present pattern of examination system in the following words: "The purpose of examination can be served by an administrative check of the work of the schools in a prescribed area, by a sample measurement of the attainment of selected groups of students conducted by the inspectors of the Education Board. The tests so administered should be constructed in close consultation with the specialists responsible for curriculum and should be in form which makes marking objective and independent of individul judgement."

The present position of achievement tests has not come suddenly. It has taken time and energy of educationists. For the first time, in 1897, a great change came with the work of Joseph Meyer Rice. He constructed an achievement test in spelling and administered it in large cities. It was found that the spending of time in teaching had no effect upon achievement. This was the first time when an attempt was made to test large number of students by a common test. The real testing movement came in the first decade of the twentieth century. The College Entrance Examinations were started in 1900. E. L. Thorndike and his co-workers paid a great deal of attention in this endeavour. Although improvements took place but still at this stage it was far from perfect. Tyler, Greene and others also came in the field and worked in this connection. In 1930's the Co-operative Service of American Council on Education was publishing achievement tests in various subjects of High School and in some major basic University areas. O. K. Buros, G. F. Kuder played important role in the advancement of achievement tests. In India not much of contribution has been made in this direction. In Central Institute of Education, Delhi some unsstandardized tests have been prepared. The Bureau of Psychology at Allahabad has prepared and standardized tests in various

School Classes. The Bureau of Educational and Vocational Guidence at Patna has prepared a battery of achievement tests. Some standardized achievement tests have also been constructed in the Department of Psychology, B.H.U. Some such tests have been prepared in Educational Centre of Baroda. Many other tests are under construction in different institutes at present.

Attainment tests consist of a large number of questions. Each question is a short and simple one and at the same time is very clear and pointed. All it seeks in answer is just a world. Essentially it covers only one information. Sometimes, a number of alternatives are provided against each question where a condidate is required to identify the correct answer out of the given alternatives and to underline it. The questions are so framed that there is only one correct answer to a question. Thus an answer is either correct or incorrect. It is never half correct or partly correct. One correct answer brings one mark to a candidate. The total number of questions attempted correctly by a candidate make his total socre in a test. It can be seen that not much of writing is to be done. Such tests are quite comprehensive and cover the entire field of all the topics prescribed in the sullabus. Though the number of questions is large (usually in hundreds) the candidates do not take much time to answer a test—they enjoy in taking such a test. The answers are usually given on the test paper proper.

It makes a revealing study to compare the achievement tests with the traditional type of examination. It is not possible to cover the entire syllabus in the essay type of examination but an achievement tests manages to do it. Marks obtained on achievement test are, therefore, a true measure of a candidates' knowledge in a subjet. Since the achievement tests cover the entire course of study, the candidates can not afford to depend upon guesses on selective study. They have to be judicious to all the topics prescribed for the study. The irony of fortunate guesses and unfortunate guesses ceases to exist. Examination marks are representative of one's knowledge and are not determined by one's luck. Candidates have to give up the habit of cramming and have to understand what they learn. Since there is not much of writting to be done, the candidates do not suffer because of slow speed of writing, illegible handwriting or inadequate power of expression. Achievement tests are found to be more reliable than essay-type of examination. Each question has one and only one correct answer and the candidate gets one mark for a question if his answer is correct. A candidate's total score in a test depends upon the number of questions he has attempted correct. The system of scoring ensures the accuracy in evaluation. A candidate's score remains unaltered even if his answers are judged by a hundred examiners. The subjective aspect of evaluation is completely taken away and the scoring is objective. Uniformity is maintained in the evaluation of candidates. Scores of all candidates on a test thus become scientifically comparable. Because of the brief answers the scoring is done very quickly. It saves a lot of time and money in the evaluation process. When the scoring can be done quickly, the candidate need not waste several months waiting for their results in suspense. As compared to the essay-type of examination the achievement tests are very much economical and deserve all encouragement in a poor country of ours.

In the essay-type of examination framing of question papers is an easy and a quick job while the evaluation process is slow and time consuming. In the achievement tests evaluation is quite quick but the framing of question papers is a laborious and lengthy process and requires experienced and scientifically trained hands.

The achievement tests have certain limitations also. In the first place it does not measure a candidates power of expression and composition. They can not find out where the candidate stops reasoning and takes the aid of guessing (the guessing can, of course, be reduced by increasing number of alternative answers against each question.)

Symond remarks that achievement tests are not meant to supplant entirely the essay-type of examinations, although achievement tests have some remarkable status in comparison of essay-type of examination, even though they are not free from limitations. To make the pupils better educated, achievement tests are urgently required. Although, in Indian situation, there are so many difficulties, which achievement tests have to surpass, but there is no reason why achievement tests can not be utilized. Where educationists criticize achievement tests that it does not give the chance to the pupils reasoning or something else, other programmes can be arranged, where pupils' reasoning, their power of speaking and expressing can be judged by selected group of experts. There will be no chance for subjectivity, because several persons will jointly be working as judges. As a result the examination will not be an end in itself but a means in the educational process.

Although, sufficient work has not yet been done in popularising achievement testing programme due to several difficulties and limitations, present interest in this field promises that a time will come when we will be able to use achievement tests oftener with success.

GROWTH PATTERN OF CORPORATE ENTERPRISES IN INDIA

PRITAM SINGH,

Lecturer in Commerce.

In the absence of adequate data, it is not possible to trace the growth pattern of corporate enterprises in India since their birth in 1850, because statistical evidence for the first three decades is completely lacking and only one fragmentary information is available for the next two decades. It was in the early years of the present century that the Joint Stock company publication was started giving information with regard to their number and paid-up capital of companies at work for 28 industrial groups and also for the major province of British India and for only one of the many princely states eg. Mysore.

A. *Period Ending 1900.*

The earliest year in respect of which information about joint stock companies avaliable was 1982. At the end of that year there was 505 companies at work in India having a paid-up capital of Rs. 16.68 crores. Between 1882 and 1900, the number of companies as well as their paidup capital rose by more than 100 per cent as is clear from table 1. Judged from the view point of paid-up capita the mills and presses group (now called processing and manufacture group) ranked at the top among the various industrial groups both in 1882 and 1900. Among the remaining groups, we find that trading which occupied the fourth position in 1828 moved up to the second place in 1900. From the point of veiw of the number of companies, however, the banking and loan group occupied the pride of the place both in 1882 and 1900. At the threshold of the present century, the foremost industries of India organised under the corporate sector were cotton textiles, banking and loan, tea plantations and jute textiles which of essay-type of examination, even though they are not free from limitations. To make the pupils better educated, achievement tests are urgently required. Although, in Indian situation, there are so many difficulties, which achievement tests have to surpass, but there is no reason why achievement tests can not be utilized. Where educationists criticize achievement tests that it does not give the chance to the pupils reasoning or something else, other programmes can be arranged, where pupils' reasoning, their power of speaking and expressing can be judged by selected group of experts. There will be no chance for subjectivity, because several persons will jointly be working as judges. As a result the examination will not be an end in itself but a means in the educational process.

Although, sufficient work has not yet been done in popularising achievement testing programme due to several difficulties and limitations, present interest in this field promises that a time will come when we will be able to use achievement tests oftener with success.

GROWTH PATTERN OF CORPORATE ENTERPRISES IN INDIA

PRITAM SINGH,

Lecturer in Commerce.

In the absence of adequate data, it is not possible to trace the growth pattern of corporate enterprises in India since their birth in 1850, because statistical evidence for the first three decades is completely lacking and only one fragmentary information is available for the next two decades. It was in the early years of the present century that the Joint Stock company publication was started giving information with regard to their number and paid-up capital of companies at work for 28 industrial groups and also for the major province of British India and for only one of the many princely states eg. Mysore.

A. *Period Ending 1900.*

The earliest year in respect of which information about joint stock companies avaliable was 1982. At the end of that year there was 505 companies at work in India having a paid-up capital of Rs. 16.68 crores. Between 1882 and 1900, the number of companies as well as their paidup capital rose by more than 100 per cent as is clear from table 1. Judged from the view point of paid-up capita the mills and presses group (now called processing and manufacture group) ranked at the top among the various industrial groups both in 1882 and 1900. Among the remaining groups, we find that trading which occupied the fourth position in 1828 moved up to the second place in 1900. From the point of veiw of the number of companies, however, the banking and loan group occupied the pride of the place both in 1882 and 1900. At the threshold of the present century, the foremost industries of India organised under the corporate sector were cotton textiles, banking and loan, tea plantations and jute textiles which

TABLE 1

Growth Pattern of Corporate Enterprises Between 1882-1900

(in crores of rupees)

Industrial Groups	Number of Companies 1882	Number of Companies 1900	Paid-up Capital 1882	Paid-up Capital 1900
Mills and Presses	100	364	6.75	17.93
Banking and Loan	146	407	2.18	3.79
Plantation	122	148	2.80	3.46
Mining and Quarrying	19	54	0.74	1.66
Trading	95	279	1.95	5.85
Others	33	88	1.26	2.01
Total	305	1340	15.68	34.70

Source : Eastern Economists to, January 1963, p. 46.

accounted for 33.7%, 10.9%, 9.4% and 6.3% respectively of thr total paid-up capital of the corporate enterprises.

The geographical distribution of the companies shows their heavy concentration in three presidencies of Bengal, Bombay and Madras, the share of which in the total paid-up capital during 1882 and 1900 came to 42.3% and 7.4% respectively. Among the other provinces the then north-western provinces (present U.P.) had 71 companies at work accounting for 4.4% of the total paid-up capital. Bombay had overwhelmingly large number of cotton textiles mills and presses while the presidency of Bengal specialized in tea, jute and mining and quarrying concerns.

The growth of corporate enterprises during the 19th century taken as a whole was rather slow. It appears that this new form of business enterprise had not yet captured the imagination of the people in the country and their promotion was limited to a few poineering industrials and their close associates and relations who pooled together their resources for starting enterprises in such fields of industrial activity where European businessmen were already working with success.

B. *Period between 1900 and 1939.*

The trends in the number and paid-up capital of companies in India from 1900 to 1939 are presented in table 2.

Growth Pattern of Corporate Enterprises During 1900-1939

Year	Number	Paid-up capital (in crores of Rs.)
1900	1340	34.7
1910	2216	61.4
1914	2744	76.6
1918	2668	99.1
1922	5189	164.5
1932	7997	282.7
1939	11174	279.2

Source : Company News and Notes, January 1964, p. 23

As would appear from the above figures, the number of comapnies have increased to 2216 with a total paid-up capital of Rs. 61 crores by the end of the first decade of the present century. The pace of growth of companies was further accelerated during the next 4 years ending 1913-14 when the number of companies rose to 2744 with a total paid-up capital of Rs. 77 crores. This, during the first 15 years of the present century, the number of companies as well as their capital registered an increase of more than 100%. This rise was 70% more in respect of the number of companies than what had taken place during the last two decades of the 19th century, and 121% more than that in the same period referred to above.

One of the important factors favouring the development of the corporate sector till the outbreak of the First World War was the Swadeshi Movement of 1907-08, which fostered new demands for various goods of Indian origin. In the mean time government had also changed its policy with regard to purchase of stores and materilas for state purposes. Increasing number of factories and mills created an increased demand for coal and consequently an increase in the number of coal companies. The Indian Railways, the largest consumer of coal, almost gave up the use of foreign coal since 1902 by substituting it Indian coal. Consequently the number of coal companies increased from 34 in

1899-1900 to 137 in 1913-14 and their paid-up capital from 1.33 crores of rupees to 5.87 crores of rupees during the same period.

The War of 1914-18 helped further the development of corporate activity in the country. The extreme dependence of India on foreign imports for most of her necessities was exposed in its nudity and a large demand was created for Indian manufactured goods. This gave a good fillip to those industries which were already established. The difficulties of importing machinery for setting up industrial factories during the war, however, to a certain extent checked the rapid growth of industries during the war.

However, with the easing of the supply position of capital goods abroad and with the release of paid up demand for consumer goods there was intense industrial activity during 1918-22. During this period, the number of companies increased from 2668 to 5189—an almost 100 per cent rise, while the paid-up capital registered a more than two-fold rise from Rs. 99 crores to Rs. 231 crores.

The next ten years, however, did not witness any spectular rise in the number and paid-up capital of joint stock companies. As against a three fold increase in paid-up capital during 1913-22 (i.e. from Rs. 72 crores to 231 crores) the rise during the following decade ending 1932 was only of the order of Rs. 45 crores (from Rs. 231 crores in 1922 to Rs. 286 crores in 1932). The last four years of this decade were characterised by severe depression which reflected itself to a marked extent in the liquidation of joint stock companies.

Between 1932 and 1939, an outstanding event in this field was the separation of Burma in 1937 which reduced the number of companies working in India and their paid-up capital by 278 and Rs. 257 crores respectively. In other words, total number of companies and their paid-up capital were reduced by 2.6% and 8.2% respectively representing the number of the seceding province. The number of the companies at the beginning of the Second World War in 1939 was 11,114 with a total paid-up capital of Rs. 290 crores. Broadly speaking, during the years

1932-39 while the number of companies almost continuously rose, the paid-up capital showed fluctuation and finally in 1939, it was only slightly above that in 1932.

The period of 1900-1939 taken as a whole is marked a rapid development of the corporate sector in India, there being an eight fold rise in both the number and paid-up capital of joint stock companies. This progress was, however, far from being evenly distributed. While the period from 1900 to 1922 witnessed a rapid development of the corporate sector under the impact mainly of the Swadeshi Movement, World War I and the post-war boom, the remaining years were characterised by a halting advance in respect of both of the number and paid-up capital of companies. The development of the corporate sector in the latter period was arrested due mainly to the inter war recession and the separation of Burma in 1932.

C. *Period from 1939-56*

An idea of the growth of the corporate sector during the period 1939-56 may be had from Table 3 which shows the number and paid-up capital of joint stock companies at work in India.

TABLE 3

Number of companies and their paid-up capital

Year ended the 31st March	Number of companies	Paid-up capital (in crores of Rs.)
1945	14,859	389.0
1946	17,343	424.2
1947	21,853	479.5
1948	22,675	569.6
1950	27,558	723.9
1951	28,532	798.4
1952	29,223	855.8
1953	29,312	899.6
1954	29,448	941.2
1955	29,625	969.6
1956	29,874	1024.2

Source : Company News and Notes, Vol. II No. 7, January 1, 1964, page 24.

The war period was characterized by a sharp rise in the number and paid-up capital of companies in India. Compared to the position in 1939, there was an increase in the number and paid-up capital of companies in the year 1945. The termination of the war provided further encouragement to company promotion in India in the wake of the pressure of pent up demand for goods and services. There was an unprecedented growth in the number of companies during the years 1945-46 and 1946-47 accompanied by a sizable increase in the capital resources of companies. The annual increase came to 2,484 and 4,810 companies in 1946 and 1947 respectively with a corresponding rise of Rs. 31 crores and Rs. 56 crores in paid-up capital.

The partition of the country led to a reduction of number of companies by 2049 companies with a total paid-up capital of approximately 18 crores. But inspite of this decrease, the overall number of companies at work in India in the first post-partition year ending March, 1948 increased further to 22,675 with a total paid-up capital of Rs. 570 crores. In the post-partition period and in the new era beginning with the attainment of Independance, the growth of the joint stock companies in the country continued to show pronounced growth both in number as well as in capital investment. The general confidence in national prosperity and the improved business outlook created by the outbreak and continuance of Korean War acted as a spur to corporate activity. More than 7000 companies were added during the seven years ending march, 1955, over the figure of 22,675 companies in 1948. During the same period paid-up capital of these companies rose by Rs. 400 crores over Rs. 570 crores in 1949. There was a further rise in the number of companies and their paid-up capital to 29,874 and 1024.2 crores in 1956.

D. Period from 1950-1963

The year 1956 heralded a new era in the history of corporate sector in India as it synchronised with the beginning of the Second Five Year Plan which envisaged an ambitious programme of industrial development. It also synchronised with the passing of New Companies Act and the establishment of the Department of Company Law Administration now called The Company Law Board. The impact of these on the corporate sector of the country is evident from the Table 4 which cover the period 1956-63.

TABLE 4

Number of Companies and their paid-up Capital (in crores of Rs.)

Year ended the 31st March	Number of Cos. at work	Paid-up Capital*
1956	29,874	1024.2
1957	29,357	1077.6
1958	28,280	1306.3
1959	27,403	1515.6
1960	26,897	1618.7
1961 (Provisional)	26,149	1814.9
1962 (Provisional)	24,852	1973.9
1963 (Provisional)	25,524	2185.2

*The figures of paid-up capital from 1961 onwards in this table have been worked out on revised basis.

Source : Company News and Notes, Vol. II No. 7, January 1, 1964

An analysis of the trends in number and paid-up capital of companies during 1956-63 reveals a queer situation in so far as while the former declined by 4350 (about 15%), the latter, i.e., paid-up capital recorded a more than 100% rise. The fall in the number of companies may be accounted for by the administrative drive launched by the Company Law Board, to weed out the morribund or in active Companies from the official records, which owing to their presence would prove an incorrect and inflated impression regarding the size of the corporate sector. The total number of morribund companies was estimated at around 6500 to 7500 companies in April, 1956 of which about 4500 were removed from the register of companies till 1959-60. By the end of the 1962-3 all the remaining morribund companies were removed. The rapid rate of increase in the capital resources of companies may, on the other hand, be ascribed to the establishment of certain gaint concerns specially in the public sector and the expansion in the size of the existing units in the wake of increased tempo of industrial activity in the Second and Third Plans.

To sum up ; the period of the World War II and the subsequent years has been a period of sustained growth of the corporate sector in India, owing mainly to the war and post-war boom, the advent of independence and the concomitant enthusiasm and optimum, the Korean War and inauguration of a programme of planned development of the country's economy. The corporate sector has now attained a respectable size and stature in the national economy and bids fair to shoulder the heavy responsibility of the country's industrial development envisaged for the Fourth and subsequent Plans.

THE NEW CRITICISM : A SEMANTIC APPROACH

Dr. RAJ NATH
Department of English

The New Criticism which came into being as a reaction against the application of non-literary methods to critical evaluation originated in England with T. S. Eliot and I. A. Richards and came to America in a more rigorous form in the thirties and forties. In the year 1917, Eliot brought out his celebrated critical piece "Tradition and the Individual Talent" in which he proclaimed with considerable emphasis that the extinction of the writer's personality is requisite for the creation of a great work of art. And if so, there is no reason why the critic should concern himself with the personality of the writer and all that goes with it for his evaluation and analysis. Thus we can say that the New Criticism originated in England as early as 1917 although it took the form of a movement about a decade later with the contributions of Richards added to it. The New Criticism can thus be called a creation of Eliot and Richards jointly.

Ever since the turn of the century Romanticism has been subjected to ruthless scrutiny. T. E. Hulme, father of modernist literature in many respects, delivered almost a death-blow to Romanticism by prophesying that the age of 'dry hard classical verse' was imminent. Eliot followed Hulme and passed his tirade against the two characteristic qualities of Romantisism, namely, subjectivity and emotionalism. As against the Romantics, Eliot believes that a poet has not a personality to express but only to find out a medium for rendering his feelings artistically :

> "………the poet has not a personality to express, but a particular medium, which is only a medium and not a personality in which impressions and experiences combine in peculiar and unexpected ways."[1]

---

[1] "Tradition and the Individual Talent", Selected. *Essays*—(London, 1932), p. 20.

Objecting to Wordsworth's definition of poetry he asserts that 'poetry is not a turning loose of emotion but an escape from emotion." All this points to the important fact that with Eliot everything in the name of personality and emotion of the poet loses its value and what comes in its place is impersonality and unified sensibility. The elements considered to be the ideal ones in poetry had their expressive counterparts in criticism. The critic was not concerned to analyse the personality of the writer and all that shapes it such as sociological, psychological, philosophical, historical and other non-literary values. His sole concern was with the finished work of art as it was before him. I. A. Richards has paved the way for this sort of critical approach in his *Practical Criticism*. The students who had to analyse the poems were not told by whom and when the poems were composed. All that they could do was to read them between the lines and try to get at their merits and defects.

All the New Critics, followers of Eliot and Richards that they are, have repudiated the historical, moral, biographical, sociological and such other non-literary approaches. They are of the view that a critic should not bring from outside any set of values to bear upon the critical discussions. Cleanth Brooks, one of the eminent New Critics, launches his attack on the tendency to study poetry in the historical perspective. He is of the opinion that if poetry exists as poetry in any meaningful sense the attempt should be made to study it as it exists without relating it to the age in which it was produced. This exclusive concern with the poem as it lies before the critic has conduced to "the closest possible examination of what the poem says as a poem."[1] Just as Brooks attacks the historical approach to literary criticism, so Ransom hits at the moralistic approach. Ramson wants criticism to be 'pure speculation' which is found conspicuously lacking in the moralistic critics who single out the "ideology" of the poem for discussion and leave out of consideration the main ingredients which go into the, making of a poem. "The moralistic critics wish to isolate and discuss the ideology or theme or paraphrase of the poem and not the poem itself."[1] But this practice falls well outside the purview of literary criticism :

---

[1] Ibid., p. 21.

> "But even to the practitioners themelves, if they are sophisticated, comes sometimes the apprehension that this is moral rather than literary criticism."[2]

Ransom is an apologist for aesthetic criticism which he sets over against the moralistic criticism. As against a moralistic critic an aesthetic critic concerns himself with the analysis of the work in hand and this is the business of a literary critic.

R. P. Blackmur takes into account three different approaches to literary criticism, namely philosophical, biographical and Marxist, represented by Santayana, Van Wyck Brooks and Granville Hicks respectively. He points out that all the three critics push the real work of art into the background and rest too much weight on some such values as are quite irrelevant in the particular contexts. Instead of concerning themselves with the literature as it exists or the thoughts as they are formulated therein they occupy themselves with the ideas that stand outside the literary form :

> "These three writers have one great formal fact in common, which they illustrate as differently as may be. They are concerned with the separable content of literature, with what may be said without consideration of its specific setting and apparition in a form, which is why, perhaps, all three leave literature so soon behind."[3]

As is evident from the above discussion, the New Critics almost unanimously agree on the point that the critical programme has to be restricted to the text. The element of intellectual toughness which was stressed by Eliot in Donne and other metaphysical poets had its counterpart in criticism. Pushing the writer's personality out of consideration the New Critics set out to attempt a close textual analysis which calls for intellectuality.

---

[1] *The Well Wrought Urn* (New York, 1947), P. XI.

[2] "Criticism as Pure Speculation" *Essays in Modern Literary Criticism*. ed. R. B. West, JR. (New York, 1952), p. 233.

[3] Ibid.

The New Critics are essentially semantic and analyse both the form and the content of a poem in terms of the layers of meaning the words are charged with. All New Critics make a two-fold division of meaning into what we often describe as denotation and connotation, the former being the literal or dictionary meaning as we discern in common conversation or scientific discourse and the latter the meaning in the poetical context. No doubt, this two-fold division of meaning has been derived from Richards who has distinguished between scientific or symbolic and emotive or poetic uses of words, but nevertheless it can be traced still earlier to Coleridge whose distinction between primary and secondary imagination is virtually the distinction between primary and secondary meaning.

The New Critics have their favourite critical terms in the light of which they analyse the works. We can count these terms on the tips of our fingers. Brooks finds his basic principle in "paradox', Tate in 'tension', Ranson in "texture" and Blackmur in 'gesture'. All these terms are pointers to the shades of meaning the words are believed to possess in the poetical context. To a New Critic the richness of a poem inheres in the richness of meaning. He often contrasts the meaning of a scientist with that of a poet. Pointing out the characteristic of meaning in science, Brooks says that it is not modified or changed in relation to the context in which it appears. The meaning of a scientist remains in the context the same as when apart from it but the attitude of a poet becomes meaningless if detached from the context :

"A scientific proposition can stand alone. If it is true, it is true. But the expression of an attitude, apart from the occasion which generates it and the situation which it encompasses, is meaningless."[1]

The context does not matter in the case of a scientific statement because it is exclusively concerned with denotative meaning. And, on the other hand, the poetic composition becomes meaningless, if abstracted from the context, since what matters here is connotation, the product of context. The meaning of the scientist is static whereas that of the poet is dynamic, the scientist freezes and fixes up the meaning of words by reducing them to pure denotation but the poet vitalises them by making them act on and modify each other:

"The tendency of science is necessarily to stabliize terms, to freeze them into strict denotations; the poet's tendency is by contrast disruptive. The terms are continually modifying each other and thus violating their dictionary meaning."[2]

It is because of the connotative meaning in poetry that Brooks' emphasis falls upon such poetic devices as paradox, wit and irony. The scientist tries to avoid these devices whereas the poet cannot dispense with them. For instance, about paradox Brooks says that "it is the scientist whose truth requires a language, purged of every trace of paradox; apparently the truth that the poet utters can be approached only in terms of paradox."[3]

The above discussion should not lead one to think that to Brooks denotation and connotation have nothing to do with each other. "In fact, the language of a poet is a language in which the connotations play as great a part as the denotations."[4] The poet plays off denotation and connotation against each other for the creation of the new meaning. "And I do not mean", says Brooks, "that the connotations are important as supplying some sort of frill and trimming, something external to the real matter in hand."[1]

---

[1] *Language as Gesture* (London 1954), p. 385.

[2] *The Well Wrought Urn*, p. 207.

[3] Ibid, p. 9.

[4] Ibid, p. 3.

Like Brooks, Ransom also makes a two-fold division of meaning into structure and texture, the former being the logical meaning as we find in scientific discourse and the latter the meaning engendered by the poet's imagination. To describe how structure and texture operate in poetry, Ransom employs the image of a room:

> "The walls of my room are obviously structural, the beams and boards have a function, so does the plaster which is the visible aspect of the final wall. The plaster might have remained naked aspiring to no character, and purely functional. But actually it has been painted receiving color, or it has been papered receiving color and design though these have no structural value and perhaps it has been hung with tapestry or with paintings for 'decoration'. The paint, the paper, the tapestry are texture. It is logically unrelated to structure."[2]

The room is the poem, the walls of the room are structure and the paint, the paper and the tapestry on the wall form texture. The naked walls and the decorations go to make the room what it is. Similarly, structure or "logical meaning" and the texture or "local meaning" go into the making of the poet's meaning. And the critic's business is to analyse the poem in terms of structure and texture. "The intent of the good critic", in the words of Ransom "becomes, therefore, to examine and define the poem with respect to its structure and its texture."[3] But the point that Ransom misses is that the decorations are imposed on the walls, or at least we can feel their separate existence but in poetry structure and texture play on each other and coalesce, or at least we cannot say that the texture is something imposed on the structure.

---

[1] Ibid., p. 8.

[2] Criticism as Pure Speculation", *Essays in Modern Literary Criticism*, ed. R. B. West, JR. p. 238.

[3] Ibid.

Allen Tate, another New Critic, pronounces that "of great importance from the point of view of literary criticsm are the brilliant studies of 'semiosis' or the functioning of language as 'signs'."[1] And in his critical deliverances he draws upon the meaning the words are charged with in poetry. His basic critical term is" tension" which, as he himself admits, is "derived from lopping the prefixes off the logical terms, extension and intension."[2] The idea of tension is based upon the context of meaning. Tension, the central quality of a work of art, is generated by the effect of a poem as a whole and this whole is constituted by the embodiment of meaning:

"In abstract language, a poetic work has distinct quality as the ultimate effect of the whole and that whole is the 'result' of a configuration of meaning which it is the duty of the critic to examine and evaluate."[3]

Thus according to Tate the business of a critic is to analyse the meaning embodied in a poem. The poet has experience to express in words which he has at his disposal, he formulates his experience in such a way that its inner meaning comes out in the poetical context. Tate makes it clear that

"........the power of seizing the inward meaning of experience, the power of poetic creation that I shall call here the vision of the whole of life, is a quality of the Imagination."[4]

The experience and words are fused in poetry with the result that we cannot point out their separate existence. Hence the critical phrase "Concerete Whole" which is the poem wherein "the vision of the whole of life" is given a concrete form in words. And at the centre of the "Concrete Whole" lies nothing but meaning or tension, the balance of extension and intension.

The intension and extension are identical with Brooks' connotation and denotation. The poet creates new meaning by playing off denotation and connotation against each other. Lack of the proper balance of extension and intension will impoverish the poetic quality. Tate has illustrated the lack of tension from the two poems namely, *The Vine* by James Thompson and *Hymn to Light* by Cowley. He demonstrates with much conviction that *The Vine* fails to effect tension on the denotative side and *Hymn to Light* on the connotative side. He finds in Donne's *Valediction: forbidding mourning* the resolution of extension and intension into tension.

---

[1] "Literature as Knowledge," *The Man of Letters in the Modern World* (New York, 1958), p. 39.

[2] Ibid.

[3] Ibid., p. 64.

[4] "Three Types of Poetry" *Collected Essays* (Denver, 1959), p. 92.

R. P. Blackmur's basic critical term is 'gesture' which is purely a semantic one. Gesture is another name for the suggestive meaning or connotation which lies at the very core of poetry. Defining gesture, Blackmur says:

"Gesture in language is the outward and dramatic play of inward and imaged meaning. It is that play of meaningfulness among words which cannot be defined in the formulas in the dictionary, but which is defined in their use together, gesture is that meaningfulness which is moving, in every sense of that word."[1]

Blackmur, like other semantic critics, asserts that gesture or suggestive meaning is above the dictionary meaning. In fact, the meaning of words in a dictionary is the literal or fixed meaning whereas, the meaning of words in a poem is not fixed but moving and the readers not only understand the meaning but feel its movement too.

Gesture was called into being before the language of words came into existence. Even today gesture has an important role to play in our day-to-day life and we gather a major part of our knowledge through it:

"The great part of our knowledge of life and of nature—perhaps all our knowledge of their play and inter-play-comes to us as gesture and we are masters of the skill of that knowledge before we can ever make a rhyme or a pun, or even a simple sentence."[2]

---

[1] *Language as Gesture*, p. 6.

[2] Ibid.

And this gesture, as already said, is the meaning suggested by words in a particular order or form. An imaginative writer creates new shades of meaning by making words operate upon each other :

> "To make words play upon each other both in small units and large is one version of the whole technique of imaginative writing."[1]

And the play of words is the play of meanings which do not lend themselves to set formulas but take their own form, the form which alone can express the writer :

> "Since what is being played with is meanings and congeries of meanings, what is wanted cannot be articulated in a formula, but on the other hand it cannot be articulated at all except when delivered within a form."[2]

Blackmur asserts that a writer worth the name cannot observe set formulas : his imagination will find its own form, There may be dearth of formulas but not of forms which are as varied as gestures themselves :

> "The point is that contrary to the general view there are relatively few formulas and relatively many forms; exactly as many as there are gestures to require them."[3]

Blackmur discusses some of the important forms that gesture takes. The first among them is the repetition of words and phrases. Blackmur traces this kind of gesture to Macbeth's "To-morrow and to-morrow and to-morrow", or Lear's "Never never, never, never, never," or Hamlet's repetition of "To die-to sleep." Another form that gesture takes is "punning which is the effort to make one word act like another or several." The function of pun is to link up different perceptions and thereby reflect the mixed sense of the poet :

---

[1] Ibid. p. 13.

[2] Ibid.

[3] Ibid.

"It is, taken in its fullest gamut as gesture (for any achieved pun is a gesture), the only direct avenue to the undifferentiated sense that the poet has, it is what objectively joins the senses together heightening them into a single sensation."[1]

Throughout his critical programme Blackmur manifests predilection for the semantic approach. The basic critical terms of all New Critics-paradox, tension, texture and gesture-rest on the semantic speculation. Hence it would be quite in the fitness of things to designate them as semantic critics.

---

[1] Ibid., p. 17.

DISEASE RESISTANT VARIETIES

DR. IRA ROY
Women's College

The use of resistant varieties for controlling plant diseases can be traced back to about 1870 or so. A hundred years back the various crops met invariably with different epiphytotics. The late blight of potato of 1840 had quite a devastating effect, followed by downy mildews of vine yards. The latter led to the discovery and opening of new horizons in chemical control. Fungicide sprays and seed treatment brought high hopes for the sceptic farmers. However, the chemical treatment did not prove to be the remedy for all the plant diseases. Thinkers like Darwin, and Foex were the pioneers who could visualise the possibilities of incorporating resistance into some of the crop plants. Since then great efforts have been made in introducing various kinds of resistance in important crop plants. On this road to success, plant-pathologists and plant breeders worked closely encountering various setbacks before they could develop disease resistant varieties successfully. Their setbacks, however, were in a way very useful, as the various aspects of success and failure paved the way in establishing the fundamental basic principles for raising disease resistant varieties.

The earlier attemps to develop resistant varieties were the mildew resistance in grapes in France, late blight resistance in potatoes in many European countries, rust resistance in wheat in the U.S., U.K. and wilt resistance in flax, cotton, water melon and cow-pea exclusively in the U.S. Presently, we have many more successful programmes on many important plants in many countries, besides the ones listed above. Coons of Michigan first recognised the long association of host and pathogen for breeding resistant varieties. According to him resistant forms arise through natural selection during the evolutionary process, where the host and pathogenic forms are long associated. Contrary to this, where host and pathogen are not long associated, the host plants soon perish when a pathogen is introduced in the vicinity. This basic concept had been the guiding principle in breeding resistant varieties like mildew, late blight and fire blight resistant plants.

W. A. Orton was given with the responsibility by E. F. Smith of U.S.D.A. in the late 1900s to develop control measures for various plant diseases. Orton had introduced in the department of agriculture resistance as a very effective means for controlling plant diseases. Disease problem was solved by the application of disease resistance but each crop required of a different approach. Cow pea wilt was overcome through the utilization of resistance from an existing variety. For cotton wilt he had a different method, in which seedlings were exposed to drastic disease conditions, and the surviving plants were selected. The selected plants were subsequently treated and the progeny tested under similar conditions. In water melon it was not merely progeny testing. In this case bhe went a step forward as he transferred resistance from citron melon to the "Eden" water melons. Almost at the same time when Orton was working with some wilt diseases, Bolley discovered flax wilt organism *Fusarium lini*. The credit goes to him for working out several flax resistant varieties through selection and progeny testing and saving the plant from complete removal from the U.S. Likewise, L.R. Jones and his students developed cabbage varieties resistant to cabbage yellows and saved the crop from total disappearance.

The concept that rust fungi constitute physiologiccal races was first brought to light by Dr. Stakman of Minnesota in 1918, consequently, many intriguing problems existing at that time were solved. He could recognise the variability in pathogens. But their nature of variability and how the new biological races were originating, remained unsolved until such phenomena as mutation, hybridization, heterothallism, heterrocaryosis and parasexualism were demonstrated in organisms. Flor studied extensively the genetics of flax rust fungi *Melampsora lini*, and the inheritance of factors for resistance. H found that virulence in pathogenecity was recessive to nonvirulence. Flor postulated that for each factor for virulence in the pathogen there was a corresponding gene for susceptibility or resistance in the host. Biffen in 1900 demonstrated that resistance was inherited as a simple Mendelian recessive factor, in contrast to flax, in which resistance is a dominant factor. However, at that time there was a tendency to oversimplify the problem because of which he himself became careful in dealing such problems. The obstacles met with were sterility and undesirable linkages in interspecific erosses. Furthermore, resistance was always found to be associated with the undesirable characters of no market value whatsoever. These were overcome through back-crossing methods and irradiation The latter was found to be a useful tool for breaking linkages between desirable and undesirable characters.

In some cases resistance was attained by grafting. The best example for such a kind of incorporation of resistance is in the Hevea plant. High yielding clones of rubber plant were developed by budding, but that was found to be susceptible to the leaf spot fungus, *Dothidela uleni*. In order to maintain the high yielding ability of the susceptible clonal lines they have been budded with buds from resistant seedling lines. A single rubber plant may consist of roots of one seedling, the trunk of a high yielding clone and the foliage derived from a bud from a leaf spot resistant seedlings. Thus the high yielding trunk is preserved and the leaf spot resistanc is introduced in the foliage.

The methods used in breeding disease reistant varieties of crop plants are similar to those used in breeding for other characters, with one difference. In breeding disease resistance, two organisms are involved the host and the pathogen, and it is very essential to know all the pertinent facts about both the organisms. It is not always necessary to search for resistant materials, as they may be present in varieties normally grown in the areas where the breeding work is carried out. This happened to be true in the case of cotton wilt, flax wilt and many others. A thorough search for resistant lines may even be successful in some cases where it does not seem promising, provided that there are biological indicators to identify them. However, it was impossible in some cases to find resistant biotypes in given areas. The problem then was to find them elsewhere.

During the past several decades a number of scientists have emphasised the importance of a thorough worldwide search for resistant biotypes among cultivated plants and their wild relatives. The problem was how a systematic search can be made. Recognizing the problem, FAO of the united nations has sponsored the collection and testing of genetic materials and has prepared catalogues with all possible information. The U.S.D.A. has cooperated with a number of other countries in establishing and maintaining nursaries of wheat, barley and some other crop plants in order to obtain preliminary indications of varietal reactions to important diseases. This is a good way of sampling various ecological regions and of obtaining preliminary information about the presence of different physiological races. Recently, Borlaug proposed the use of multiline varieties as a means of controlling rust diseases of wheat. This has a great promise.

MANAGERS, TRADE UNION LEADERS AND WORKERS

DR. D. P. N. SINGH

Deptt. of Commerce

This article is an attempt to bring out the influence of managers and union leaders on workers under a particular situation. An 'X' plant situated on the out-skirts of 'B' grade city of Eastern region of U.P., presents the concrete situation. It embraces the study of union-management relations, inter union relations, and pattern of labour-management relations in the plant. The study has become interesting as it affords an opportunity for observing the growth of trade unions in the aforesaid situatiin under different political shades due to change in Government in the state during the period of study.

To achieve the objectives of unearthing the degree of control of management and union leaders on workers, this article has been divided under different sub-heads, namely :

1. Back-ground of the 'X' plant.
2. Growth of unionism in the unit, under different political shades.
3. Wage board award.
4. Multiple situation during 1st May 1967 to 31st May 1967 the period under study.
5. *Investigations :*
    - (i) Existing pattern of Labour-Management Relations :—
        - (i) Labour-Management Relations
        - (ii) Union-Management Relations
        - (iii) Inter Union Relations
        - (iv) Labour and Union Relations
6. Derivations from the situation and investigations.

Methodology

The methodology adopted to study the influence of Managers and Trade Union Leaders on workers in this situation was as follows :

1. (*a*) 'Investigations through questionnaires'. Separate questionnaires were supplied to Trade Union Leaders and Labourers.
   (*b*) Personal interviews with all representatives of parties concerned.
2. Collection of facts about the situations from 1st May 1967 to 31st July 1967 the period of study. For selecting representatives for personal interviews.
   (*a*) Twelve trade union-representatives belonging to four different unions, having different political affiliations, were selected. These representatives were :
      (i) Presidents of each union.
      (ii) General Secretaries.
      (iii) One active member of the union.
   (*b*) Twelve representatives of workers employed in the unit were picked up, who represented the different views on their unions.
   (*c*) From the management side, four representatives and two persons from regional conciliation office were selected.
   (*d*) An attempt has been made to study the workers perception of (i) Influence of Trade union leaders on Labour-management relation and (ii) workers perception of Labour Management Relation in the plant.

Back-Ground :

'X' plant is situated on the out-skirts of a 'B' grade city of Eastern Region of U.P. This plant is one of the biggest working unit of its type under private sector, with an average employment of 1289 workers. During its construction period, State Government has also helped the unit by granting monetary assistance. With the help of the State, the factory is ideally situated at an important place of business, connected all round by road, rail and air services. The actual location of the factory is in the heart of villages. There was an agreement between the management and the displaced persons, that they shall be employed, in case they need employment. The Government of the State, constructed nearly 500 houses for labour under housing scheme and handed them over to the management for allotment to workers. But, as is reported, nearly hundred houses are still unoccupied by the workers. The management has provided all facilities to the workers for their welfare viz. canteen, games fields, schools etc. Recently ESI scheme has also started functioning in the unit from 27th June 1967.

Growth of Trade Union in the Unit:

In the begining of the second five year plan, construction of the plant was started. Political parties, encouraged the workers to form unions, like 'B' and 'C', which exist today in the plant. These parties were socialists and congress respectively. Communist leaders too have joined their hands with congress leaders in the formulation of 'C' union. 'B' and 'C' unions raised the demand for increased compensation of land to all the farmers, who lost their land for the plant. This was the first demand presented by the workers' leaders but this slogan could not catch the management's eye and due to the State policy, the factory came up. In 1959, the factory started its production. In the beginning due to the communist support, 'C' union (i.e. of I.N.T.U. Congress) was much stronger than 'B' union i.e. of HMP (S.S.P.). The top leaders of INTUC group, took keen interest in union activities and helped members to grow as fast as possible.

During the period of production i.e. from 1959 to 19564 the factory witnessed a number labour strikes. An important strike, was called by 'C' union in October 1964, which continued upto December 1964. The main demands of the strikers were based on 'Wages' and 'Bonus'. Further they demanded a rise in wages, particularly, when from 1962 to 1964 the cost living index went up from 418 (1962) to 700 (1964). However on intervention and assurances of the Labour Commissioner and other eminent personalities, the matter was postponed and factory started functioning in the first week of January 1965.

The demand for raising the minimum wages was again pressed by the above two unions on 13-1-65. But, management avoided to discuss the matter. It resulted in inflating the demand charter by the workers. This time the unions presented a long list of 35 demands in all. The matter was not precipitated on account of coincidental constitution of a "Wage Board" in India for the concerned Industry as a whole.

It was due to failure of the existing trade unions to settle the issues, communists, who were backing INTUC broke their ties and formed a separate union viz. 'A' union and got it affiliated with AITUC (C.P.I.M.). Similarly, another union viz. 'D' union with the backing of Bhartiya Majdoor Sangha, (Political affiliation of Jansangh) came into existance. Thus, on the eve of the "situations" unders tudy, there were four unions in the plant. The position of four unions in the plant as on 30th April, 1967 stood as follows :

TABLE 1

Position of Four Unions on 30th April, 1967

Name of the employee union	Membership as claimed in 1967	Affiliation with apex union	Political organisation
1. A	850	AITUC	CPI (M)
2. B	1001	Hind Majdoor Sangha	SSP
3. C	800	INTUC	Congress
4. D	250	Bhartiya Majdoor Sangha	Jansangh
	2801		

'A' union of 850 members belonging to AITUC with CPI (M) backing ; 'B' union with 1001 members, belonging to HMP (SSP), 'C' with 800 members of INTUC (Congress) and 'D' union of 250 members, attached with Bhartiya Majdoor Sangha (Jansangha) are in the 'X' unit. In all they have claimed 2801 membership of their unions.

The Wage Board :

In the meanwhile, the wage board which was constituted in October, 1965 met a number of times at different places and gave their first verdict before January 1967. In January, 1967, the board declared an interim relief when the cost of living index was 700. On 30th April the award was implemented by the State. During this period the cost of living index went up to 900.

Facts of the Multiple Situation in the Plant from 1st May 1967 to 31st July 1967

On 1st May 1967, all the four unions A, B, C, D combined, and served a notice to the management. The notice included 20 demands in all. Important demands were pertaining to D.A., bonus, production incentive, promotions etc. Through the same notice, unions served the call of strike and warned the management that in case their demands were not conceded, they will go on strike from 23rd May 1967. Copies of this notice were sent to the parties concerned i.e. representatives of all the Trade Unions, the Chief Commercial Manager, Regional Conciliatiion Officer, Labour Commissioner and Labour Minister. All of them met at Lucknow on 19th May to decide the issue. Negotiation proceedings went on for three days, i.e. 19th, 20th and 21st May, and ultimately agreement was signed by all parties concerned on the following points :

1. *Demand No. 1 :*

The management agreed to allow as a special case to each worker an adhoc payment of Rs. 6.50 per month, over and above the usual relief.

2. *Demand No. 4 :*

The union and management agreed that the casual workers will not be paid wages less than the lowest step in grade II, effective from 1st June, 1967. These daily rated employees' wages would be determined by demanding the above mentioned lowest step by 26.

The other demands were not pressed. According to the agreement, Rs. 6.50 was to be paid to all employees in the factory, except the contract labour working in the factory. The following table gives the picture of the concessions granted by Wage Board and employers under different grades.

TABLE 2

Showing the Relief Granted by Wage Board and Employers

Grade	Upper limit	Relief Wage Board	Management Relaxation	Total
1. 100	109	12.50	6.50	19.00
2. 100	200	7.50	6.50	14.00
3. 200	400	5.00	6.50	11.50

Notice of strike was with drawn and workers did not go for any strike.

On 23-6-1967 'C' union (INTUC) gave a notice to the management and placed a demand for giving lowest grade of pay to the contract labour. This demand was based on the Supreme Court award on contract labour, which has clearly stated that all contract workers if employed on a Job which is of a permanent nature and if the workers have served for more than 240 days, are be treated as the employees of the unit. In the said unit the lowest wage rate eas Rs. 62.00. After interim relief it went up to Rs. 74.50 i.e. Rs. 2.85 per day on 26 working day of each month. Management paid Rs. 6.50 to all employees which led to Rs. 81.00 only. Thus, daily rates were adjusted at Rs. 3.10.

'C' union, after giving due notice led the contract labour of one section of the unit, on strike on 16th. Management was clever enough to meet the situation. They employed their own casual labour and paid double the wages to carry on the job. Thus, they maintained production without close down. The strike went on for two days i.e. 16th and 17th. On 18th July workers of 'C' union went to the quarters of management and gheraoed the important executive, although the executive refused to accept that there was any kind of gherao in the unit. However, these incidents attracted quick attention of the Conciliation Officer. Who brought both the parties on the conciliation table. Ultimately the leaders of 'C' union accepted the same executive as their arbitrator, against whose policies the 'C' union had complaints. The executive gave the award, i.e. of Rs. 2.85 per day for daily rated workers, and even less than this, to other types of contract labour. Thus, management safely evaded payment of Rs. 6.50, the adhoc rate agreed in previous negotiation. The 'C' union did not object to this proposal, and the agreement reached was finally accepted by management, labour and 'C' union. This was done on 19th and came into force on 20th July.

On the otherh and, on 1-7-1967 B (HMP) union representative also approached the management with their demands about the wages to contract labour. This union repeated their demands on 5-7-1967, and 20-7-1967. At least, they gave a threat of strike which was to be started on 25th July 1967. On 25th July 'B' union leaders were ready to start their agitation at 9.00 A.M. Meanwhile, regional conciliation officer, called union and management representatives for a settlement. But it could not be reached even after two hours of discussions. Union leaders marched to factory and gheraoed the third important executive of the concern. The other top management representatives, called police to tackle the situation. A police party, headed by an ADM, went on the spot and wanted to arrest the workers. As narrated by the union leaders, as soon as police party got down from the van, the ADM ordered all the workers and the union leaders to get ready for arrest. It was reported that nearly 200 workers came forward for arrest. By this show of solidarity of workers the ADM was impressed and he persuaded the union leaders to wait for one month i.e. upto 18-8-1967 and enter into negotiations with the management. Further, ADM, assured that in case no results were forth-coming, he would personally interfere to set the matters right.

On 27th July, leaders of 'D' union presented a list of demands to the management. The management discussed the matters with 'D' union leaders on 31st July 1967.

On further enquiry from 'A' union leaders, it has been revealed that they too were preparing the numberous demands, and notice to that effect was to be served some time in the first week of August 1967.

The reactions of the executives to the multiple situation of notices, agreements, strikes and gheraoes, have also been gathered which are as follows:

The executives expressed that they were ready to pay the interim relief (of Wage Board Award which was implemented by Government on 30th April 1967). Whereas the union leaders had some thing else in their minds, most probably, starting some agitation. However, the union leaders gave a notice of strike and pressed for 20 demands listed in the strike notice. To settle the matter, they were pressed by Government to sit with all the union leaders and high powered personnel of labour department. Three days i.e. 19th, 20th and 21st May, were devoted before the agreement was signed. They felt that they had to pay an additional sum of Rs. 6.50 to all the employees.

So far as the contract workers were concerned, management did not take any direct responsibility for employment or wages. They felt that it was entirely the responsibility of contractor to pay whatever he liked.

Further, the management felt that outside influence of the government was responsible for all the disturbances between labour and management. Had there been no out side pressure, according to management, they would not have paid Rs. 6.50 as a special case. After the adhoc decision of payment of Rs. 6.50 in addition to the usual relief, it was agreed that both the parties would accept the code of discipline and shall never allow the matter to go out of hands without prior discussions with management. But, management was not spared by the union leaders and a demand for raising the wages of contract workers were placed before them.

As regards 'Gheraoes', the executives felt that it was purely an affair of law and order. Police should tackle all such gheraoes. It is criminal to confine a man and thus deprive him from his daily work and fundamental rights of a citizen. Naturally under such a situation management felt that Trade Union Leaders have a better control on the workers.

On the series of happenings in the unit during a short period of three months, executives blamed the democratic way of settlement persued by regional conciliation officer and Assistant Labour Commissioner.

They felt that appeasement of unions with different political backgrounds is a great threat to industrial peace, and if we were forced to accept one unions demand, then why not of others. Thus political pressure, out side leadership and the new government's labour policy, are instigating workers to agitate and gherao their management. If such a state of affairs, is allowed to continue then the industries will have nofu ture.

"*Reaction of Workers*"

Twelve workers were slected for investigations. Their views on the situation are summerised as follows :

Table showing the views of workers as a % to the workers interviewed

TABLE 3

Questions	% in favour
(i) Joint action of unions yields fruits.	60 % employees.
(ii) Stronger unions can influence the management better than weaker ones.	75 % employees.
(iii) The situation was an out-come of inter union rivalaries.	40 % employees.
(iv) Where is the end of strike, Gheroes etc.	'No end' so far the demands are not fulfilled.

Reaction of Conciliation Officer :

Conciliation Officer maintained nutrality in his expressions regarding the situation. He opined that better feeling should be developed between management and labour.

The Pattern of Labour-Management Relations in The Plant

The pattern of the relations has been studied as follows :

(i) Labour-management relations.
(ii) Union-Management relations.
(iii) Inter-Union relations.
(iv) Labour-union relations.

Labour-Management Relations :

Before we discuss the above situation, it would be interesting to have an idea of the existing Labour-Management relations in the 'X' plant. For this purpose unions, managements and workers representatives were interviewed.

When workers were asked, whether they feel that they are the part of the organisation of the plant 33.3% came out with an afirmative answer. Most of them did not care to associate themselves with the management. On the second issue of the consultations between workers and management, workers felt that such practices were just dreams in the unit. Acco-ding to them, the management interested in taking as much much as they can, and pay according to the scheduled rates. Further, on enquiry about the wages and other amenities. more than 70% of workers did not express their approval of the wage scales. Thus, one can infer that the relations of workers with the management are not so cordial as they ought to be.

On the contrary, management feels that 'workers' are more influenced by political parties and do not appreciate the management's position. This results in non-cooperation of the workers. As regards, consultations and implementation of orders, workers are always ready to consult and implement the decisions, taken by the workers representatives and not of the management.

Union-Management Relations :

The representatives of all the four unions functioning in the unit were of the opinion that their unions are not recognised by the management. On enquiring whether they enjoyed better relations in the past, the answer of all them was in negative. The reasons advanced were as following :

(i) Management is a poor paymaster. Wages have not been increased since inception of the unit.

(ii) Welfare facilities are provided only for the name sake; for example, a canteen without inside service, is not a canteen. There is not subsidy to the canteen as such.

(iii) Bonus which should have been paid on the basis of profitasibity of the unit, was never been paid.

(iv) Management did not give promotion when due, nor associate workers in the administration.

(v) No consulation programme is encouraged by management.

On further enquiry about the agreements and negotiations, it was expressed that those representatives who were actively associated with the unions were never invited for consultations or round table conferences. Only the top union leaders, who are mostly government ministers or Members of Parliament are extended the invitations.

On enquiring about the attitude of management towards labour unions, the following result was obtained.

Attitude of Management Towards Labour

TABLE 4

Cooperative	sympathetic	Indifferent	Non Cooperative	No opinion	
NIL	NIL	3	8	1	Questions
0	0	25%	66.7%	8.3%	Number in favour %

Thus, the majority (66.7%) of trade unions representatives felt that management was non-cooperative. It was observed that some representatives were reluctant to give any opinion. However, others were quite vocal in denouncing the attitude of the management.

When asked to give their suggestions for the betterment of industrial peace in the plant, they suggested as follows :—

1. Give wages according to the cost of living index plus a change in the basic wage rates.
2. Have joint management councils for the free and frank discussions.
3. Victimisations in promotions and leave should be stopped and
4. Better, welfare amenities inside as well as outside the plant should the provided.

From the management point of view ; four management representatives have shown their inability to accomodate the views of all unions leaders. As the situation cited above shows, according to the management, that the unions demands have no end, Management blames the outside political leadership for the labour unrest in the factory.

Opinions on the leadership of the unions were gathered and following results emerged :

In three unions, A, B and C only some of the union leaders are sincere, popular and cooperative. However, in case of D union they felt that most of the leaders are sincere, popular, capable and cooperative. (They thought that they have neither discouraged not encouraged any union to come up in the field.)

Management felt that if there was only one union in the unit it would be better for management union relations. Management has openly alleged that union leaders create problems obstructing the smooth running of the unit.

From the above facts, it can be said that there were no cordial relations between management and unions in the factory. Only lip service exists. This fact has also been substantiated by the concliliation officer of the region.

Inter-Union Relationship :

All the union leaders were ready to cooperate with each other in case they felt that there was going to be some monetary gain to then as well as to their workers, but none was prepared to leave the leadership of the union. Members of each union did not appreciate each others point of view. This was particularly noticed from the facts of the situation narrated above. Leaving apart the occassional show of rival unionism, generally puts up in open conflict among themselves. Facts as stated do show that unions of 'A' and 'B' take different stands than 'C' and 'D' on their approach for the settlement of their demands.

Workers-Union Relationship :

Only twelve workers employed in the unit were selected at random, to have a glimpse of union workers relationship over 50% of workers who are the union members felt that three unions were not recognised by managements. They prefered outside leadership of the unions, particularly when they free that their top leaders were the politicians and were in power in one or more capacities. Workers have joined unions to have wages, bonus and safe guards, against victimisation of the workers. They felt that it was the leadership, which has given them some hope to live in the present plant. They were sure that solidarity of workers and capable leadership could lead them towards success. They felt that their unions did negotiate with the management from time to time. On questions of the role of political parties for example whether they harm them in their fight for progress, 66% gave a negative answer.

On the other hand each unions leaders claimed their superiority over others. They claimed their membership pitching it as high as possible. Union leaders felt that the majority of workers were with them at the time of call. 'B' union leaders were convinced of the show of solidarity of workers at the time of strike and call for arrest on 25th July 1967. They felt tht the majority of workers had faith in their organisation and got consequently, benefits from time to time.

DERIVATIVES

Our main objective was to find out the influence of Managers on one hand and the trade union-leaders on the other, over the workers of the unit under a concrete situation. Further, the intention of the article has been to measure the effect of such control on the labour-management relations. Two conclusions are inevitable from foregoing narration:

1. Facts revealed that there did not exist any cordial relationship between the union and management.
2. For the fulfilment of their demands, unions had to take the shelter of strikes and Gheraoes. This might be due to the fact that the control of unions on workers would be only for a short time. In case the strike prolonged they would not have to give way to the management control.
3. Management yielded to the pressure only when all the unions combined, and the state machinery forced them to accept the demand and come to a settlement. In other situations, like strike on

16th July and Gheraoes of 25th, management did have a better control on the workers. They could mobilise other casual workers and this forced the 'C' union to change the tactics of simple strike. The management ultimately won, when the 'C' union leaders accepted the Chief Executive as the 'Arbitrator'. In this case too, management had given only, what they wanted to give. These cases might have been due to weak leadership of the 'C' union, which belongs to the Indian National Congress. On the other hand, the stand of 'A' and 'B' unions supported by militant political organisations, was quite different. They only listened to their governments agents. The Gherao for example, was postponed by 'B' union, only when they received assurance from the A.D.M. and their leader, a minister in the state. This shows clearly that the unions are weak and the political parties are strong and more effective in their control, both over workers and management.

The other important issue analysed was the existing wages and bonus vis-a-vis the cost of living index. Labour unions and labour could not be satisfied by the awards of wage boards, or by the interim relief given by management of Rs. 6.50. It was observed from the investigations that the main cause for bad relations were those as stated above. It was also revealed that growth of labour movement in India, is still based on the agitational approach. A long charter of demands and agitational programmes win the workers. On the other hand, management too, sometimes, avoids to pay heed and concedes only, when it is forced from the top. This attitude of the management is obviously because of the fact that in India, there is no dearth of the labour force which can replace the striking workers. However, good industrial relations demand better understanding between the labour and the management. Another important issue is the role of states negotiation machinery, i.e. the role of the conciliation officer. The management did not appreciate much the role of this machinery. The management was of the opinion that third party pressure was undue intergerence. This view needs a change in the fast moving complete of industrial relations.

WORKERS PERCEPTION

(I) The study of the workers perception has been divided :
  - (i) Role of Union Leaders in the development of union management relations.
  - (ii) Workers perception of labour management relations in the unit.

For the study of workers perception on the role of the trade unions leaders on one hand and the existing labour management relations on the other, 12 workers as referred earlier were interviewed seperately. In case of the role of leaders, the answeres were as follows :—

TABLE 5

(A)

Questions	No.	%
(A) Union Leaders are Constructive	7	58.3%
(B) ,, ,, ,, Dormant	2	16.7%
(C) ,, ,, ,, Destructive	3	25.0%

(B)

Further on their effectivity in their programmes and policies, the replies were as follows :—

TABLE 6

Table showing the effectivity of the policies

Questions	No.	%
(i) Effective	5	41.7%
(ii) Partally effective	3	25.0%
(iii) Ineffective	4	33.3%

On the findings, under A group, workers felt that only 58.3% of trade union leaders played a constructive role in the development of trade unions in the factory. While others were either destructive or dorment in their approach, on tde other hand, under 'B' group of questions, a high percentage i.e. 66.7% of workers felt that the unions were either effective or partally effective in building of the union management relations in the plant while 33.3% of leaders were exactly not needed for the plant.

Referring to II point the following facts were revealed:

TABLE 7

Questions	No.	%
(i) Quite satisfied	1	8.3%
(ii) Satisfied	2	16.7%
(iii) Just satisfied	4	33.3%
(iv) Not satisfied	3	25%
(v) Not at all satisfied	2	16.6%

The result of workers perception of Labour-Management relations is rather very interesting to note. Nearly 8.3% of the sample workers were quite satisfied from the union management relation, but 16.6% were not at all satisfied. The variable is naturally more towards non-satisfaction about labour and management relation in the unit.

This shows that workers did like the present leadership of unions, which helps them to realise their demands from management.

FRUIT INDUSTRY IN INDIA

J. R. SINGH AND J. S. ARORA

Fruits are being grown in India since thousands of years and their cultivation is probably as old as the civilization itself. Cultivation of fruit crops plays an important role in the prosperity of a nation. It is generally said that the standard of living of the people of a country can be judged by its production and consumption of fruit per capita. The present increasing demand for fruits, however, indicates a better understanding of their importance, which lies in the fact that they are rich in carbohydrates, proteins, minerals and vitamin contents. They also provide a good bulk, which keeps the muscle of intestine in proper tone for their efficient elimination of body wastes. The importance of fruit cultivation may also be judged from the fact that the yield per unit area estimated in terms of calories, through cultivation of fruits is much more than that of the cereals. The following table gives the average yield and calories produced in case of some fruits compared to wheat :

Crop	Calories/ ounce	Average yield (tonnes)	Calories per acre
Wheat	98	0.34	1,034,880
Banana	42	10.00	15,052,800
Guava	19	2.20	1,511,532
Mango	14—16	5.00	2,688,000
Papaya	11	48.00	18,923,520

It is evident from the above figures that certain fruits yield more food per unit area as compared to cereals. To keep pace with the growth of population, which is increasing at the rate of 5 millions per year, it is necessary that supplementary food like fruit be given priority in our national planning.

In India per capita consumption of fruit per year is very less in comparison to other countries and produce from one acre of fruits is consumed by more people.

Per capita consumption of fruit per year

U.S.A.	...	445 lbs.
Palestine	...	222 lbs.
Spain	...	85 lbs.
U.K.	...	82 lbs.
India	...	22 lbs.

Produce from one acre consumed by

California	...	3 men
Israel	...	7 ,,
India	...	75 ,,

Thus though the importance of horticulture was recognized long back, its development on scientific lines was started recently and most of the work has been done since 1930 on the recommendations of Royal Commission on Agriculture (1928).

Though India has grown fruits from time immemorial but the industry remains in a rather primitive condition and contributes too little to the prosperity of the people. The statistics of acreage and production of fruits in India is not completely known. However, the following tables give the available data :

(i) Total estimated area under fruits taken from various sources.

Year	Area in acres	Sources
1943	24,31,676	Hayes estimated area
...	27,78,728	1945 Randhawa, M. S.
1948	30,78,000	1958 Indian Farming,
1948-49	31,63,884	Vol. 9 The Mango, Dept. of Agri., Hyderabad
1953-54	30,42,387	Horticulture Diary, 1958
1955-56	34,00,531	Hayes

(ii) Area under fruits in different states (1961-62):

	State	Area in acres
1.	Andhra Pradesh	2,96,660
2.	Andman Islands	385
3.	Assam	1,11,390
4.	Bengal	2,16,600
5.	Bihar	3,29,449
6.	Delhi	20,000
7.	Himachal Pradesh	11,150
8.	Jammu & Kashmir	31,500
9.	Kerala	1,41,600
10.	Madhya Pradesh	1,17,513
11.	Madras	3,46,048
12.	Maharastra & Gujrat	2,34,000
13.	Mysore	1,21,600
14.	Orissa	1,90,300
15.	Punjab	62,800
16.	Rajsthan	3,821
17.	Uttar Pradesh	14,58,890
	Total ...	36,93,706

(iii) Area and Production of different fruits in India:

	Name of fruit	Area in acres	Production (Tonnes)
1.	Almond	6,000	...
2.	Apple	33,000	49,190
3.	Apricot	1,500	8,400
4.	Banana	3,70,613	2,66,7569
5.	Cherries & berries	1,500	2,970
6.	Citrus	2,54,641	1,21,869
7.	Custard apple	10,000	...
8.	Date	889	...
9.	Figs	746	...
10.	Grapes	2,543	44,350
11.	Guava	1,25,327	6,56,110
12.	Jack fruit	1.64,000	...

13.	Litchi	24,475	91,860
14.	Loquat	3,000	...
15.	Mango	23,37,821	69,87,720
16.	Papaya	23,173	3,29,420
17.	Pears	3,400	32,690
18.	Peaches	3,000	7,360
19.	Phalsa	250	...
20.	Pine apple	24,500	75,650
21.	Plum	1,100	...
22.	Pome granate	2,000	...
23.	Sapota	3,000	...
24.	Walnut	8,000	...
25.	Other fruits	2,89,228	...

From the above tables it is quite obvious that area under fruits in India is estimated to have increased from about 2.4 million acres to about 3.7 million acres during the last two decades and this mainly due to the facilities given by Government by granting loans for establishing orchards, exempting fruit plantation from land cieling and land consolidation, etc.

During the second five year plan a number of schemes for the development of fruit production were introduced and total area under them was estimated to be three million acres. This area in the third five year plan was expectd to extend to about seven million acres with an additional area of 235,000 acres under new orchards and rejuvenation of 250,000 acres of old orchards. A scheme for the establishment of garden colonies was started in the beginning of the third five year plan chiefly to develop orchards on scientific lines in government and private waste lands likely to be commanded by irrigation projects. Later on it was decided to bring to existing small orchards, holdings also, wherever possible, within the purview of scheme. During third five year plan, the first I.C.A.R. Institute of Horticulture has been established to intensify the research programme on fruits and vegetables. During the Fourth Five Year Plan, government proposes to implement the scheme on a much bigger scale which will help to bring 30,000 hectares in the plains and 500 hectares in the hills under fruit orchards.

During Fourth Five Year Plan, under the recognized I.C.A.R., All-India Co-ordinated Research Projects involving collaboration between the central and state research institutes as well as amongst scientists belonging to different disciplines have been proposed. The projects envisage conducting of research on eight important fruits of the country, i.e., mango, banana, citrus, apple, pine apple, grape, guava and papaya at a to cost of 200 Lakhstal,

I.C.A.R. has also started fruit crop competition from 1957 in which the winner is awarded a cash prize of Rs. 5000/- and certificate of 'Udyan Pandit' to encourage gardeners in this field. Shri Manohar Das Sirekek of Dalan (H.P.), Shri Rameshwar Lal Napani and Sri J. Sudheer Reddi (Andhra), were the winner of apple crop in 1959 and mango crop in 1961 and 1965 respectively.

Further I.C.A.R. is also arranging the horticultural shows on important fruit crops in the country to bring our fruit varietal wealth to light, e.g., citrus fruit show was held at New Delhi in 1956, Banana fruit show held in November 1957 at Hyderabad, Apple fruit show in 1959 at Mashobra, Mango fruit shows held in 1955, '59 and '61 in New Delhi and miscellaneous fruit show on guava, custard apple, aonla, papaya, and ber was held in Lucknow in 1961.

Cooperative societies are also being formed by public, such as Nagpur Orange Growers Cooperative Association, The Punjab Provincial Cooperative Fruit Development Board, Fruit Development Board, etc. Fruit development boards are being set up in other states also.

The total estimated production of fruits in India is 129 million maunds of which a substantial proportion is wasted at various stages of marketing. Allowing further for stones, peel, etc., the quantity available for actual consumption may not be more than a 100 million maunds. This works out to about one ounce per individual per day. The normal daily requirement of an individual according to nutritional standards is two ounces. In most of the advance countries the consumption is much more than the basic requirements. In New York it is 16 ounces per head per day and in London it is 4.5 ounces. Again, consumption in our country is low as it is confined mostly to the urban sector, while people in the villages, who form the bulk of population hardly take any fruit excepting the desi mango, guava or banana. All this shows that production has to be increased considerably to meet the basic requirement of the nation.

In fact considerable quantities of fruits perish before these are finally sold and the return the farmer receives is only a fraction of what he would receive if all his product could safely reach the market and be sold at a fair price. This major portion of loss, in a way, occurs due to poor marketing facilities, e.g., packing, transport, precooling and grading.

According to the recommendations of the Royal Commission on Agriculture, I.C.A.R. took steps to initiate work in the following directions :

1. Shipment of mangoes to foreign countries
2. Citrus root stock trial
3. Cold storage of mango and citrus

Rupees 4.75 lakh were sanctioned by I.C.A.R. to Madras, Bombay, Bengal, U.P. etc. and experiments conducted at various stations on the following lines :

1. Collection and selection of varieties
2. Root stock trials on apple and citrus
3. Cold storage
4. The culture of various fruits
5. Quicker and cheaper method of vegetative propagation
6. Sex behaviour of papaya

Now a stage has come when research work is going on in every part of the country on various aspects of important fruits, which can be summarised as follows :

A *Apple*—at Mashobra and Chaubatia on:

Cultural practices, collection of new varieties, biological control of San Jose scale and disease control

B *Banana*—At Central Banana Research Station, Adhuthuri (Madras) and substations at Ganeshkhind (Bombay) and Chinsura (W. Bengal) on:

Collection of 101 varieties, morphological studies, Plantation trials, control of diseases and desuckering.

C *Citrus*—Work is carried out in U.P., Assam, Punjab, M.P., A.P., Hyderabad, Orissa and I.A.R.I. on:

Collection and selection of varieties, (51 at I.A.R.I.) manuring, stionic combinations, vegetative propagation and disease control.

D *Custard apple*—at Hyderabad : a seedless variety has been evolved.

E *Dates* —Work is going on at Abohar (Pb) and Rajasthan.

F *Guava*—at Saharanpur and Basti

Varietal collection and Propagation

G *Grapes*—At fruit research station, Hyderabad, I.A.R.I. and Saharanpur on:

Collection of varieties (150 at I.A.R.I. and 35 at Hyderabad), disease control, breeding, chemical controls of diseases and propagation.

H *Mango*—Main stations at Sabour, Kodur, Saharanpur, I.C.A.R. and Hyderabad working on:

Collection of varieties (115 at Saharanpur, 35 at I.A.R.I.). problem of plant propagation, bearing habits, breeding of hybrids and malformation.

I *Papaya*—at Saharanpur, I.A.R.I. and Coimbatore on:

Introduction of new varieties, papain manufacture, breeding work (8 good varieties evolved at Coimbatore) and sex problem.

Besides these three horticultural plant introducing centres, one at Saharanpur in U.P. and the other at Hassarghatta in Mysore have been established; the main introducing centre being I.A. R.I. and eight regional research stations were established in the second Five Year Plan, situated in different agroclimatic regions of the country :

1. In south tropical zone at Kodur (Andhra Pradesh)
2. In north-eastern tropical zone at Sabour (Bihar)
3. In central tropical zone at Poona (Maharastra)
4. In north western subtropical zone at Saharanpur (U.P.)
5. In northern temperate zone at Mashobra (Himachal Pradesh)
6. Abohar (Punjab)
7. Chethalli (Mysore)
8. Kahikuchi (Assam)

In India orcharding is totally based on mercy of God. Nobody takes the care of plants after planting and they are nourished by the nature. These small size of holdings varying from 0.8 to 3.1 acres in the plains of U.P. and less than an acre in hills, resulting in great difficulty of introducing better methods of culture and marketing. Most of the orchards are of pseudo-commercial type. A vast majority of Indian furit producers find in fruit farming a speculative enterprise and practical fruit growing is largely based on "hit and miss" methods of un-interested and untrained class. Another dedect almost universal is the crowding of trees, making it impossible. Probably the greatest mistake of the fruit growers is the use of inferior varieties and most of the growers depend upon the seedling not on the grafted plants. Now no doubt, with revolutionary change growers are planting their orchard with suitable varieties, possibly vegetatively propagated and taking the advantage of recent and scientific know ledge of the subject.

Our fruit industry got very wide scope for its development and extension as the fruit production is very low. To every acre under fruit trees in this country, there are 75 persons in comparison with 7 persons in Israel and 3 persons in California and yearly per capita consumption of fruits in India is only 22 lbs. while there are 44.5 lbs., 82 lbs. and 85 lbs. in U.S.A., U.K. and Spain respectively.

There are certain areas bordering on Tibet in H.P., Punjab and U.P. which possess a dry and cool climate, most suitable for the production of dry fruits like raisin, grapes, apricot, prune, almond, walnut, chilgaza, etc. The development of the dry fruit industry will help in earning more foreign exchange and in protecting our boundary area from the neighbouring enemies in a civilian way. There are areas in villages lying barren and where nothing but grasses grow during monsoon season, can be easily converted into furit orchards and still proved the same amount of grasses as under sod.

Fruits, being essential constituents of our diet, are preserved not only for making them available during the off season but also in places, like our hilly fronts where they are demanded in larger amount by our military, are not grown or cannot reach in fresh condition. Ultimately increased production of fruits will bring in its wake development of the fruit preservation industry for proper utilization and providing concentrated and protective food also.

The development of cold storage, transport and communication means is a factor of great importance in the problem of marketing and area with in the reach of local markets is rapidly expanding. Our plans also include scheme for conservation and effective utilization of perishable food stuffs through refrigerated transport and establishment of dehydration units and cold storage.

The development of industry will not only sufficient for production of fruits, but the growers would also got much more income than that from the cultivation of field crops. The development of fruit growing which seems possible and which is now beginning, will be of great benefit to the country due to all year round production, a diversified system of living.

RECENT REVOLUTIONS IN ELECTRIC POWER GENERATION

M. SAKUNTALA

Following many years of technological advance based on common sense coupled with trial and error—man has finally decided to depend in a major way, on his logical facilities, in order to develop a body of knowledge of nature which he can use both for his edification and for technology. Science as a practical tool is quite new, having been developed in the form we know, within the last 500 odd years. Its roots are of course much older going back to the ancient civilization.

The first great practical triumph of science occured in the field of chemistry which is still one of the most productive of all fields of science. There is no field of technology which has not benefited to a great extent, from the development of chemistry.

The next great achievement of science is in the field of electricity and magnetism. This has taken place over a century and a half; with work such as that of Faraday and Henry extending well into the present era. It has given not only the means of generating and distributing power which are common place in our every day world, but to a tremendous revolution in communication—starting with the wireless of Hertz and Marconi, extended to the world of radio, radar, television and telstar to date.

The present century is almost two-thirds over and predictions about twenty first century are rife. From the many forecasts, one thing is quite without dispute—mankinds consumption of all forms of power, especially electric energy will continue to soar. It is estimated that by the year 2000, the energy need would grow between 10—30 times the present rate.

The present glut of fossil fuels (coal, oil, natural gas) must appear as a temporary relief. However the very uneven distribution of fossil deposits throughout the world, will make some countries feel the shortage of these fuels earlier than in other countries. The world wide shortage can hardly be delayed much beyond the turn of this century.

Whatever the prophets and astrologers may argue, for a happy life of mankind, the primary necessity is a vastly expanded use of the world's material and energy resources. The two can not be separated, for increased consumption of materials inevitably requires increased energy.

Nuclear resources when fully exploited, can amply meet man's largest credible future energy needs. The problem though is how to harness these nuclear resources economically. The commercial nuclear power stations built so far, have been criticized as being inefficient and uneconomical. In both the conventional stations and the present nuclear stations, conversion of heat to electricity is accomplished by a very complicated sequences of events—involving steam cycles, turbines etc.—which naturally impose a built-in upper limit on the efficiency besides the high capital and over head costs of such a plant.

There is now a firm conviction among scientists and technologists that new fuels alone will not be able to supply the power needed in future. What is needed is a bold new approach to the whole technique of electrical power generation. Many exciting and unorthodox proposals to this end have already appeared and the recent technical literature is full of these schemes. The dominating theme of all these ideas is the elimination of steam and turbine cycles entirely. They deal with the conversion of a primary form of energy (chemical, thermal, nuclear etc.) directly into electricity.

Fuel-cells

Chemical energy is really a form of potential energy—a substance possesses chemical energy in virtue of the configuration of its constituent atoms and molecules. If the complex assemblies of carfon atoms are broken down to simple molecules or atoms, the stored energy is released usually as heat. In special circumstances, chemical energy can be converted directly to electrical energy instead of heat. This fact is exploited in a device called the Fuel-Cell, one of the direct conversion generators.

An example of such a cell is the ordinary dry battery where the chemical reaction occurs in combining atmospheric oxygen with zinc and Sal-ammoniac to form Zinc ammonium-chloride and water. But no engineer would dream of running a large power station on batteries of these cells! For one thing, their useful life is limited. Do not we know that the flash light batteries have a frustrating knack of dying just when we most need them! An equally serious limitation is the high cost of generating electric power by these cells for they use zinc, a fairly expensive metal as fuel. In spite of these limitations, the electro-chemical cell offers a very high efficiency for the conversion of chemical energy into electricity.

As early as 1802 Sir Humphrey Davy suggested that the chemical energy released by the oxidation of coal might be directly converted in an electro-chemical cell. However it is in the second world war that the potential advantages of fuel cells have been widely realised. The incentive has been probably the need of small generating units for special application where silent and trouble free running are more important than the cost of generation. However much of this research has proved to be more important in the objective of preparing commercially competitive cells for use in central power stations, locomotives etc. The first Hydrox-cell is a Grove's cell where hydrogen is oxidised. It consists of dilute sulphuric acid as electrolyte and platinum electrodes. Pressurized oxygen and hydrogen are forced through the porous platinum electrodes. Oxygen seeps into the electrode from one side and electrolyte enters from the other side. In this passage through the electrode, neutral oxygen atoms capture electrons from metal surfaces of the pores, thus becoming negatively charged ions and are able to go into solution in the electrolyte which is also present in the pores. Once in the electrolyte the oxygen ions migrate towards the other electrode where they give up their electrons and become neutral once again and combine with hydrogen to form water molecules. This reaction releases the necessary energy to drive electrons around the external circuit. In principle this current can be used to drive a motor.

Over the past 20 years Bacon has developed the fuel cell to a perfection. The electrolyte is replaced by potassium hydroxide, the electrodes are porous nickel, the operating conditions are at temperature 400°F and pressure of 400 lbs. per sq. in. The heat that is needed for the operation is generated in the fuel itself by passing a current through it, thus the internal heat is generated without requiring supplementary heat source. Forty Bacon cells can give a power of 6 k.w. enough to drive a small car. However the snag is the weight of the equipment—700 lbs. which would need a lorry to carry ! Secondly it needs 99.5 percent pure hydrogen which is neither cheap nor plentiful.

Carbox-cell which uses air as exidant and cheap gaseous fuels like natural gas, appears to be the promising type for large scale power production. The electrolyte in this cell can be some cheap molten salt. It operates at a temperature range 900-1600°F and atmospheric pressure. Such a system had been claimed to work continuously for six months. The life of the cell is limited essentially due to corrosion of the electrodes, evaporetive losses of electrolyte etc.

There are new cells, Redox-cell types where the fuel do no enter the cell proper but are led into external regeneration chambers. More active chemicals are substituted at the electrodes, the products of these reaction then are circulated to the regeneration chamber for the interaction with the fuel to take place.

Thermo electric generator

It is well known that most metals are excellent conductors of electricity at ordinary temperatures for metals have free electrons present in considerable numbers. These free electrons have a violent random motion, the motion becomes even more energetic as the temperature is raised. Hence if one end of a metal bar is heated, the electrons at that end jostle so much that there will be a net migration of electrons away from hot end towards the cold end. This systematic electronic drift constitutes a current. When two dismilar metals are joined at the ends and kept at a difference of temperature, there will be a small net current in the circuit known as Seeback current.

The situation has changed significantly in the past decade or more with the discovery and development of semi-conductors. The semi-conducting materials come in three types as N, P and intrinsic The N type materials have negative charge carriers, the P have positive charge carriers and the intrinsic have both positive and negative charge carriers in equal numbers.

The N type are those consisting of free electrons just as a metal. The P type are due to deficiencies of electrons at certain points in the crystalline structure which manifests itself as a positive charge and is known as positive hole. These holes are supposed to move around like bubbles in a liquid and provide the effect of migrating positive charge. Though this picture appears to have an excess positive charge; no such excess occurs due to the fact that there is a compensation by excess electrons elsewhere in the crystal, thus making the whole as electrically neutral.

Certain semi-conductors pass electric current preferentially in one direction and this rectification has led to their use in the transistors. Certain other semi-conductors like silicon are finding increasing application in photo voltaic cells for the direct conversion of sun light into electricity. While in the typical metal thermocouple the Seeback voltage is about 0.2 to 0.3 millivolts at 100°F, at the same temperature a Bismuth Telluride produces about 10 millivolts. By careful control of the fabrication process, doping etc, it is possible to reduce the resistance of a semi-conductor, to maintain its high See-back voltage. Since these semi-conductors are good heat insulators, the efficiency is high.

The heat source for a thermo electric generator is a conventional furnace or a nuclear reactor. There are now new fissile thermopiles which contain no separate nuclear fuel element but the heat is produced by nuclear fission in the N and P semiconductors of the thermopile itself. A good design of the pile takes care of shielding, corrosion and consequent deteriation of the pile.

With the available matirials, at present, the thermoelectric power generation has achieved only 6 to 8 per cent efficiency, though the expected theoretical efficiency is about 35 per cent.

Thermionic generators

The free electrons in a metal are prevented from actually escaping from the metal, at ordinary temperatures, due to the potential barrier at the metal surface. To escape from the metal surface, the electron must acquire sufficient velocity to carry it away beyond the range of attractive forces. Thus the energy required to remove an electron from its surface, the work function —is different for different metals.

When the cathode of a diode is heated electrons are emitted and are attracted to the anode, thus causing a current flow through the circuit. However the current is severly limited due to back scattering and space charge effects. Recent researches have reduced these defects and the efficiency of a thermionic diode has been increased considerably. There are now nuclear thermionic converters where a nuclear fuel rod is used—Zirconium Carbide and Uranium Carbide—They operate around 400°F. The electric out put from such a device has been about 90 W.

Magnetophydroynamic Power Generator (M H D)

The phenomenon of electromagnetic induction studied by Faraday has led to the present day supply of electricity in the world. In the modern turbogenerators the mechanical rotation is obtained from high speed and high pressure gas jets, steam or water, impinging on the turbine blades. A single large generator may have an electric out put of many MW.

The MHD generator makes use of the same Faraday laws. It consists of a hot plasma (an ionised gas) in an inert gas at pressures of one or more atmospheres. The gas is passed at high speed through a region at which a magnetic field is applied. Electrodes in the field region extract the electric power generated in the system. There are at present two types of experimental MHD generators—high temperature combustion open cycle generator and low temperature nuclear heated closed cycle generator. The combustion generator uses the chemical energy released by the combustion products into heat there by creating a highly ionised high temperature plasma. Due to the relatively low temperature involved in nuclear heating system, the gas is mixed with a seed vapour of low ionisation potential which would provide the initial weak plasma. The induced electromotive force in the plasma itself can be made to bring about high ionisation in the plasma.

The experimental generators existing today, already could produce about 600 k.w., only for a short duration. The expected efficiency of these generators is about 60 per cent. However there are several gaps in the knowledge of the physics of these MHD plasmas to make it a certain reality for a large scale power production in the future. However the hopes for large scale production by MHD are much better than the other method mentioned. This in time may be able to compete with the nuclear power.

Photoelectric Cells

In conclusion, there is one more device which is novel though not practical. A solid selenium converts light into electricity by a process known as photo emission. It has already been mentioned about semi-conductors, if silican or selenium of the steady state is upset by creating electrons or holes, so close to the barrier, they will diffuse across. By creating a N—P interface current can be got from N to P face when light strikes the interface. Solar batteries are already in use.

With all these exciting possibilities for power production the coming generation will find nothing off—beat about direct conversion methods. On the other hand, they may marvel at the spendthrift inefficiency of the traditional indirect ways of producing electricity. They even may have a tolerant smile for the patience of the present day scientists and engineers who are complacent for so long, in the face of diminishing fossil fuel reserves in the world.

SCIENCES WITHOUT STATISTICS BEAR NO FRUIT

Dr. CHANDRABALI DUBE

"Numerical facts systematically colletced" is the literary meaning of statistics given by Oxford Dictionary. This type of collections are known in some or other forms since the time immemorial. Charaka, the oldest known physician in (700-1000 B.C.) collected the data of similar type of all the diseases in separate Chapters e.g. संख्या तावद्यथा अष्टौ ज्वरा :, तावद्यथा अष्टादशीयम् अध्याय: C.N. 1/12 and C.S./19 and Sushruta 500 B.C. had also collected systematically the data of all the tissues of one type शरीर संख्या व्याकरणम् found in the body and gave the name of the Chapter as S. Sh. V.[1] In ancient days statistics was used in administration of the States. The population of the States and the economical Status were known by this department of the State. Various other type of data were also collected by this department. Historical data of birth and death are found recorded since the period of Maurya in 325 B.C. In the period of Akbar (1556-1605 A.D.) 'Āene Akabari' which is a great administrative and statistical survey of India was maintained at that period. It is said that Todarmal has collected the data of yield of crops and according to the average yield the revenue was charged. In the Kautilya Shastra of economics there is great description of statistics.

The word Statistics seems to be taken from Latin 'Status' or Italian word 'Statista' both the words are suggestive of political state. The use of statistics in real sense had started since the last century and at present it is used in every research work. In the field of research it has become a must. Now-a-days a primary course of statistical methods has been introduced in most of the developing scientific subjects i.e. Biology, Medicine, Psychology, Education, Engineering and Sociology etc. Statistics has become a part and partial of politics and administration e.g. Economical Planning, Labour, Mining, Agriculture, various trades, occupations and insurances and all other such trades.

---

[1] The period of these Samhita Granthas are still controversial.

Modern problems and needs are forcing statistical ideas more and more to the fore. There are hundreds of things which we want to study with its correlation to other things, which cannot be hypothesised or formulated by a single observation or measurements e.g. temperature of man, pulse rate, blood-pressure, contents of body fluids, various lung volumes, infanticide, birth rate, child growth so on and so forth its relations and correlations with other circumstances etc. We want to study the social group composed of individuals differing one from another, one race from other or the individual with the norm of his age and land marks, race or class. We want to study the effect of certain drugs on certain diseases and compare and correlate the same with indigenous drugs. We want to trace a curve of drug which influences the birth rate, the growth of children of an age or of a population. We want to analyse the various interwoven effects of laws, social customs and economical condition upon population control, health, safety and welfare of public. The hypothetical relation of all the above problems cannot be established by a single observation. This requires repeated observations. The formulation of repeated observations are possible only through the scientific exposition of the data, the solution of which is through statistical methods. Always there is a problem before an investigator when the result of experiments varies from trial to trial. This variation introduces a degree of uncertainty in the mind of investigator, by the conclusion drawn from the results of experiments. He doubts to get identical results of two trials under the same conditions; and thinks how long he has to experiment further. Conclusion of these things are only possible through statistical method.

'Statistics is a Science or Art'; is a fascinating question asked. It is science and art both. It is science because its methods like other sciences are basically systematic and have general application and an art in the sense that its successful application depends on the skill and experience of statician to a considerable degree and his knowledge of experiment like other sciences, it is not yet complete and still developing.

Loopholes of Statistics

Exposition of pit falls are the secrets of success. At present the statistics is the most useful science wherever numerical exposition is required. The usefulness of this science does not lie in the data collected but in the conclusion and its interpretation desired from the data. The interested parties misuse or use it biased, this is why the following misused quotations are used for this Science.

(1) Statistics can be made to prove any thing.
(2) There are three degrees of lies—
(i) Lies, (ii) Damned lies, (iii) Statistics wicked in order of their meaning.

Statistics is to day being used by diplomats, politicians and administrators to give false impressions to convince the ignorant and innocent public to prove their soundness of their views and arguments. But a little consideration will indicate that fault lies with those who collect the data wrongly or with biased mind or with vested interest. This can be corrected if a statician employs a scientific method and correct figure and the user makes an intelligent and unbiased use, the charges may lose their force. So the statistics is a double edged weapon which requires proper unbiased use or it may cut one's own nose or can keep the tempo very high.

PHYSICAL EDUCATION

S. N. DAS

Lecturer, Department of Physical Education.

Life and work are interdependent when we consider life in its primary stage of microscopic cells of which our bodies are made. According to biological science, the big muscles, the nerves, the lungs, the heart and the stomach are meant for a great amount of work. If these vital organs are not put to work they will gradually deteriorate and the life will finally come to an end. Hence we must work to live and live to work. Not only this, even the animals have to exhaust all their energy and strength in moving about from one place to another in finding out food for themselves. Movement for them, therefore, is life and to preserve life they must move about.

The structural and functional make-up of our body which we have inherited from our ancestors, prove that they must have been as result of long ages of strenuous hard work. The primitive men were not permitted to live an easy life. They had to work hard to find out their food and to protect themselves from enemies. But the present man who is so proud of his superiority of intellect over the rest of the creation and had always been trying his best to increase the sources of his pleasure, has grown up so easy going that his life has become unnatural. He has fallen a victim to all sorts of diseases and is hardly able to enjoy his life on account of ill health.

It is a matter of great thought that when civilized men and women have evolved ways and means for the up-keep of their furniture, they have not given the same care to their physical attainments. The human body is a living organism and when things lifeless need washing and cleaning, it is but necessary that the human body be also given the same care if not more. It is, therefore, necessary for every man to realise that a healthy body is a great pleasure in itself and makes it possible to enjoy the other worldly pleasures, and this health can only be preserved and gained through the work which should be the first law of our life. If only this law is followed regularly, it would be possible to avoid many of the current ailments.

CONCEPTION

The two words "physical" and "education" have often come before the educationist, but have always been confused. These two words simply signify the education of the man through the physical and not through the mind. The process is not at all new. It simply requires revival of the education of the whole man through the living organism of the human structure i.e. physical which has lost its significance in the present system of our education. Physical Education, does not simply mean the utilization of leisure, building up of huge muscles, cultivation of brute force and performance of physical feats of superhuman strength at carnivals and circus or even putting up good drills and physical demonstrations before the audiance at the visits of the Inspecting Officers, but is definitely something higher and wider than that. It is a scientific process by which the man is educated to make himself fit in a normal and rational way so that he may be able to live best and serve most, to live the abundant of life.

The educationists seldom forget to realise the man as a whole and have, therefore, been concentrating more on mind. It is perhaps through this one-sided effects of a secular education and the results of an unbalanced and one-sided development of the man, that it has been considered that education can only be imparted through the mind. Even if this statement is taken to be true, the mind has got a body of its own and for its growth and development, it has to depend entirely upon the quantity and quality of the white matter and grey matter and upon the healthy supply of good quality of oxygen and blood which in themselves, depend for their purity and vitality upon the healthy organs and different systems of the physical components of the man. The muscle mass of the mind and the body are both dependent on the tenacity of the nerves and the motor ability of the human machine. So it is quite obious that the brain and the body which so called separeately, are merely different names of a living whole.

There can not be expected any better results from an education which is imparted in water-tight compartments.

The man, the symbol of unity, has thus been sliced into two and the efforts have been made by the educationists and the educational heads to culture them separeately giving more emphasis on the mental rather than on the physical. The result, therefore, has not been the fusion into a common whole, but the development of a confused man and such a blunder has often resulted in the production of gaint minds, the burden of which the frail bodies have always refused to carry far enough.

In the educational institutions, play as a vital factor of education is still regarded as extra-curricular. Its purpose is still taken to be as merely physical and the assesment of the achievement of the child is entirely mental. Funds are made available only for academic subjects like Science, Arts, Commerce, Law and Engineering but not for Physical Education. Punny school boys, stunted young men and weaklings with dull eyes, anemic conditions and postural deformities after a successful graduation topping the list are considered models and congratulated with zeal. These mental giants with pigmy's bodies may be looked upon by the educationists and the parents alike with pride, but it is very doubtful if they can shoulder the burden of a growing country like ours.

The present over-emphasis on the mental side of the child as the main object of the eudcation must, therefore, give place to the education of the whole child. It should not be forgotten that we are primarily the descendents of a race of higher apes and pre-historic men whose functions were 90 per cent physical. Our instincts, our fundamental interests and our passions originate from those pre-human starta. Even our ancestors for millions of years, stressed the education of the physical. "Let the student who comes for instruction be a good man; let him be diligent in studies; let him be disciplined, strong of body and firm of mind." These were the ideals preached 3,000 years ago in forest hermitages.

PHYSICS OF CLOUD

LALIT KUMAR M. Sc.

In atmosphere, the vapour condenses on some fine particles which may be salt particles, dust particles, smoke particles, etc. and form cloud drops. These particles are called nucleating particles. These cloud drops become transformed into rain drops by a number of processes and grow by diffusion and by accretion. According to Winchester[1] some of the most important atmospheric particles for nucleating precipitation are derived from sea salt, not by the action of waves and white-caps directly, but by the more innocent process of rising air bubbles which break at the water surface and send droplets into the air tiny enough to remain aloft for a long time. Smoke particles are found in abundance in the industrial area so much rainfall there. The difference in cloud droplets, drizzle drops and rain drops is that in their sizes. A cloud drop has a diameter of about 0.001 cm, a drizzle drop has 0.01 cm. and a rain drop has 0.1 cm.

For many years cloud physicists have been investigating the process by which the very fine cloud droplets are converted into drizzle drops or rain drops, or to snowflakes of equivalent size. This conversion process is more amazing when it is found that for a cloud droplet to develop into a rain drop, it must grow in volume a million times.

Bergeron[2] has explained the nature's process by which the cloud particles coagulate into crystals or rain drop in clouds, such as cumulonimbus, which extend above the freezing level. In upper part of such clouds the cloud particles do exist both as supercooled water particles and ice particles since there the temperature is much below o°c. Since the vapour pressure over ice particles is much lower than that over the supercooled water drops, the former will grow at the expense of the latter by sublimation process. Similarly, a colder particle has a lower vapour pressure than a warmer particle, a bigger particle has also a lower vapour pressure than a smaller particle so colder particles and bigger particles will also grow at the cost of warmer and smaller particles respectively. So drops or ice particles of different sizes will be formed and they will fall under gravity with different velocities according to Stoke's Law. Thus they will permit frequent collisions with other drops or particles with resulting coalescence or attachment; hence the particles grow bigger and bigger and become a hail-storm. Finally, when they come to lower level and at temperatures below the freezing point they will melt and fall as rain. If they are not completely melted, they fall as hail. In cold countries and at the Indian hill stations, the growth may finally give rise to snowflakes. Since after their formations, snowflakes start knocking against each other and break into fragments which are carried by vertical currents up into the cloud so that each in its turn develops into a large snowflake, the process is repeated over and over again and thus a chain reaction is started.

---

[1] John W. Winchester, "chemical processes in the sea-air boundary region," Bull. Amer, Met. Soc, P. 26, Jan. 1967

[2] T. Bergeron process verbeaux de l' Ass de Met, U. C. G. I ; Paris, 1935

If all the particles above the freezing level are in supercooled or ice state, the above process fails. A mixture of both is required to get rain. If all the particles have turned into ice particles, nothing can be done to get rain from the cloud. But if all the particles are in the supercooled state, and if a few pounds of pellets of solid carbon dioxide (also known as dry ice) which have temperature below —70°C, are dropped in such a cloud by an aeroplane or by some other device, we can get rain. This happens because as soon as the dry ice is dropped in the cloud, some of the supercooled water particles change into ice particles. Also, since carbon dioxide molecules, due to their similarities in crystallographic properties to those of water molecules, constitute very good sublimation nuclei, fresh ice particles will grow on them. In this way a mixture of ice and super cooled water particles is obtained in the upper part of the cloud and soon the nature's process starts which ultimately gives rise to snow or rain.

Like carbon dioxide, silver iodide also produces good sublimation nuclei. If a mixture of gun powder and silver iodide is fired in the upper part of the cloud, silver iodide smoke will be injected in the cloud and immediately ice particles will form on the silver iodide nuclei, and growth of rain drops along with chain reaction give rain.

Experiments with sodium chloride, sulphur dioxide, ice cold water, etc. have also been done to get rain artificially. When sodium chloride is injected in the cloud, it absorbs moisture and makes a solution with it and this then further grows to give rain drops. Similarly, sulphur dioxide, on its injection in the cloud, takes one atom of oxygen from the atmosphere and turns into sulphur tri-oxide. This on combination with water forms sulphuric acid droplet which absorbs moisture and drop grows to the size of a rain drop. If the ice cold water is sprayed in the cloud, the former grows at the cost of the warmer porticles since that has a lower vapour pressure than the latter.

Cloud physicists have attributed the growth of ice particles or water particles (as the case may be) on dry ice, silver iodide, ice cold water drops, sodium chloride, sulphur dioxide, etc. due so various properties, viz. crystallographic, vapour pressure, dioxide, etc. due so various properties, viz. crystallographic, vapour pressure, adsorptive, etc. as have been explained above. But the writer of this article has added thermodynamic property along with these ones and has tried, here, to show the growth of the drops on nucleating particles on the basis of the 'phase rule' and 'thermodynamic inequilibrium'. The statement of that is as given below.

The 'phase rule' gives the number of degree of freedom,

$$D=C-P+2,$$

Where C and P are number of components and number of phases respectively.

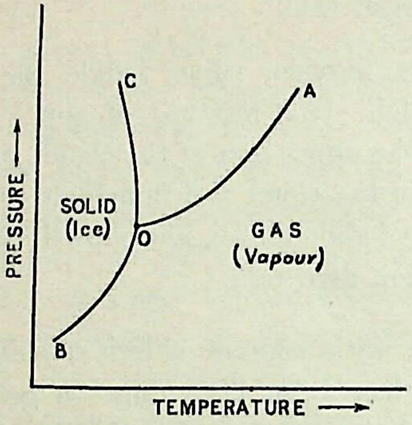

Temperature-Pressure Curve
for water (H_2O)

Water has got one component (H, or O, or H_2O) and one, two, or three phases at different places in the figure given above. One phase is found in solid, liquid, or gas at any points other than the junction points between two phases. Two phases are found at any points on lines OA (liquid-vapour pressure curve), OB (solid vaponr pressure curve), or OC (curve intermediate between liquid and solid phases). Three phases are found at the point O, known as 'triple point', where all the three above stated curves do meet.

At one, two and three phase points the number of degrees of freedom are 2, 1 and 0 respectively and they mean, respectively, that (1) both temperature and pressure may be changed arbitrarily without any change in the phase, (2) either temperature or pressure may be changed arbitrarily and the other remaining assumes a fixed value so that the equilibrium may be maintained, and (3) neither temperature nor pressure may be changed arbitrarily and if anyone of the two is changed, one of the three phases—vapour, liquid and solid—will disappear.

If a cloud is seeded with dry ice (temperature lower than —70°C), there will be a great local change in the temperature at the point where it has been seeded. And if it is a point in the single phase state, especially liquid or vapour, the point will be brought to a point on any of the curves intermediate between that phase and any other phase appropriate to this lowering of temperature. At this new point, since there is only one degree of freedom and temperature is lowered but the pressure remains constant and is not changed in an appropriate manner to maintain the thermodynamic equilibrium, so one of the phases disappears and condensation takes place around the nucleated particle (dry ice). Same argument may be placed at tripple point where there is no degree of freedom.

Though the nucleation, in its primary stage, is local and takes place in the neighbourhood of dry ice, yet due to coming of the particles from other parts to fill the place of particles which have condensed, zones of low pressure will be created. And since the temperature does not change, these points will again go to the condition of the points on the curves intermediate between these point's phase and any other phase. Again the thermodynamic equilibrium will be disturbed and one of the phases will disappear and in this way condensation will occur but in this case they do not require any nucleating surface but if they get any, they may form on that. But such a lowering of pressure has never been found to occur in clouds so the condensations in the zones of low pressure are not probable.

If the above processes of condensation and also those ones which are given later on in this article once start, they will continue onwards due so the following two reasons :—

(1) Due to successive condensation, the size of the condensed ice or liquid on nucleated particle goes on increasing so there is successive increase in the area where there is imbalance in the thermodynamic equilibrium, hence the rate of growth increases.

(2) Once the particles have started coming towards the centre of condesation, they (particles) will continue on doing so since there is no external force to stop them from that.

When the ice cold water particles are sprayed in the portion of cloud where there is vapour phase, the point on the surface of these droplets are in two phases—liquid and vapour—and there is only one degree of freedom. Since the temperature is lowered without the change of pressure so the one phase—vapour phase—will disappear and the drop will grow in the same manner as stated above.

If NaCl is spread in the single phase zone (vapour) of cloud, it (Na Cl) will absorb some moisture and will get dissolved in that. So we will get a solution of NaCl in H_2O. This has got two components, viz. Na & H, Na & O, Cl & H, Cl & O, or Na Cl & H_2O. In this case we have the equilibrium of solution and vapour and the degree of freedom is ,

$$D=C-P+2 \quad = \quad 2-2+2=2$$

There are three variants, T, P and concentration. Only two can be varied independently and third one is automatically fixed. Due to successive absorption of moisture, the concentration changes and so the temperature of the solution is also increased due to the latent heat released by the vapour in becoming liquid, but the pressure does not correspond to the concentration and temperature since the pressure is constant so the thermodynamic equilibrium is disturbed and one of the phases (vapour) disappears and in this way the solution drop grows.

If other nucleating particles, viz. silver iodide, is used, primarily the deposition may be due to the crystallographic properties but as soon as some deposition takes place, we will get two phases at a temperature and pressure not suitable for the occurance so the one phase (vapour phase) disappears and deposition takes place. This very argument may be given for dry ice if consider only its crystallographic properties.

Here, the main purpose of stating all these is that the condensation on a nucleating particle may occur due to crystallographic, adsorptive, and other properties of that particle but the imbalance in the thermodynamic equilibrium is also one of the factors and also it is the sole reason for the rapid growth of the drops.

भाषा-संगम

डॉ० नन्दलाल सिंह

स्वतंत्रता के वाद इन बीस वर्षों में हमारे राष्ट्रीय जीवन में कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याएँ उत्पन्न हुईं, जिनमें भाषा-समस्या, खाद्य-समस्या, जनसंख्या-समस्या, प्रान्तीयता की समस्या, जातीयता की समस्या प्रमुख हैं। ऐसा लगता है कि इस बीच हमने समस्याओं का ही आडम्बर खड़ा किया और स्वार्थ के छोटे घेरे में अपने को बाँधते गये। हमारी गरीबी और अकर्मण्यता हमें पीछे घसीटती रही। एक समस्या ने दूसरी को जन्म दिया। यदि हम इसका दूसरा पक्ष देखें तो लगता है कि यह सब समाज के विकास की आवश्यक प्रक्रियाएँ हैं। निरंतर गुलाम रहने के बाद हमारी संवेदनशील मनोवृत्ति कुण्ठित हो गई। उससे कर्मण्यता तथा चिन्तनशीलता का लगभग अन्त हो गया। स्वतंत्रता के पहले की नवचेतना और जागृति निस्पन्द हो गई। एक प्रकार का जाड्य समाज के कोने-कोने में फैल गया। व्यक्ति को अपने स्वार्थ से आगे देखना हितकर नहीं लगा। आज जो संघर्ष है वह वैयक्तिक स्वार्थ के विरुद्ध जन-स्वार्थ की क्रान्ति है। इस क्रान्ति की अभिव्यक्ति का जैसा माध्यम अपनाया गया है वह श्रेयस्कर नहीं। भाषा के संबंध में निर्विवाद रूप से यह सत्य है कि हम हिन्दी या अंग्रेजी की बात केवल अपने स्वार्थ को छिपाने के लिए आवरण के रूप में करते हैं। उस आवरण के भीतर स्वार्थों की इकाइयाँ क्रीड़ा करती हैं। उसमें मातृ-भाषा के स्वाभिमान का तेज नहीं है। यह मनोवृत्ति त्याज्य है। हर भारतीय भाषा का समुचित तथा सम्यक विकास होना चाहिए। इसके लिए जो भी किया जाय, वह प्रसंशनीय तथा श्लाघनीय है। पर इसे हमें एक स्वस्थ तथा समृद्ध वातावरण में पनपने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। यदि भारतीय भाषाओं के लिए कोई एक लिपि मान ली जाय तो उससे भाषाओं में परस्पर आदान-प्रदान की बड़ी सुविधा हो जायगी और तब स्वस्थ वातावरण के अन्दर राष्ट्रीय भाषा को पल्लवित होने के लिए उर्वर भूमि तैयार हो जायगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से हमारी भाषाओं में नवजागृति के चित्र स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे हैं। इस नवजागरण के साथ ही साथ कुछ दिनों से इसमें संघर्ष और विरोध के लक्षण भी प्रकट होने लगे हैं। हमें पूरा विश्वास है कि पारस्परिक सहयोग और मैत्री-भाव से ही हमारी भाषाओं के विकास और प्रगति में तेजी आ सकती है, उनके हिमायती और प्रेमी लोगों में पारस्परिक विद्वेष और प्रतिस्पर्द्धा के भाव को उकसाकर नहीं। इसी प्रकार के विचारों से प्रेरित होकर विभिन्न भारतीय भाषाओं में से कुछ के उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। इसे पढ़कर कोई भी भारतीय समझ सकता है कि हमारी भारतीय भाषाओं की आत्मा एक है। वे परस्पर अत्यन्त निकट हैं तथा उनका स्रोत एक है। जब हम लिपि की दीवारों से उन्हें अलग-अलग कोष्ठों में बन्द कर देते हैं तो उनमें भेदभाव प्रतीत होता है। प्रस्तुत उदाहरण में तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाओं को चुना गया है। अगले अंकों में दूसरी भाषाओं के सुन्दर काव्यों से उदाहरण दिये जायेंगे।

तमिल

वसन्दम्	आया वसन्त
कुलिरिलम् काट्रु ओडिक्	सुखद शीतल बयार चली,
कवि मनम् कव्वुदम्मा।	कवि का हृदय मुग्ध हुआ।
तलिरेलाम् तोन्ड्रि एंगुम्	फूटीं कोंपलें वृक्षों पर,
तण् पोषिल् काट्टु दम्मा।	नन्दन वन-सी शोभा छाई।
कुयिलिनम् शोलै तन्निल्	बोली कोयल कुंज-कुंज में
कूक्कुरल् कूवुम्मा।	कूहू-कूहू का सुमधुर स्वर।
वयलेलाम् पच्चैप्पायै	उढ़ा दिया है हरा दुशाला,
पारिनिल् विरिक्कुदम्मा।	धरती तन पर खेतों ने।
मलरेलाम् आडि निन्ड्रे,	सुवास छिटका रहे हैं सुमन,
मणमदै वीशुदम्मा।	मधुर झोंके खाते हुए।
निलवुमे विण्णिल् तोन्त्रि	उदित हुआ पूनम का चाँद,
निरैयवे निकुंदम्मा।	ज्योत्स्ना फैलाता हुआ।
एंगुमे इन्बम् ओंगि	छाई बहार चारों ओर
इदयत्तै अल्लुदम्मा।	हुआ हृदय आनन्द-विभोर
मंगैयर् एंगुम् कूडि	खड़ी तरुणियाँ जहाँ तहाँ,
महिष्चियै इरैप्पारम्मा।	मादक हर्ष बहाते हुए।
वण्णप् पुराक्कलेल्लाम्	कमनीय कपोत उड़ानें भरकर
वट्टम् विट्टोडुदम्मा।	दूर क्षितिज को छू रहे हैं।
वंडिनम् मदुवरुन्दि	मधुकरगण मधु पीकर मस्त हो,
वलमैयो डाडुदम्मा।	गुन-गुन करते झूम रहे हैं।
कुन्रुहल एंगुम् पच्चै	गिरि पर्वत सब हरे-भरे हैं,
कुरै विलै एंगुमम्मा।	असम्पन्न तो कहीं नहीं।
तेन्रलै ओट्टि इन्बत्	हाँ सखि, बयार को
तेर् विडुम् वसन्दमामे।	हाँकता हुआ सुख के रथ पर,
	आया है ऋतुराज वसन्त।
ति० तु० मीनाक्षिसुन्दरम्	ति० तु० मीनाक्षिसुन्दरम्

तॆलुगु

जलद गीति

सागुमा ओ नीलमेघमा ।
गगनवीणा-मृदुलरागमा ।
बीटबारिन चेल पीयूषमुलु राल
गरिकेलनिं पॊलाल मरकतम्मुलु देल,
सागुमा ओ नीलमेघमा ।
नॆमलिपादाल किंकिणुलु घल्लुन म्रोय ।
प्रियरालि वलपु-मल्लियुलु जिल्लुन पूय ।
सागुमा ओ नीलमेघमा ।

कविराजु निनु जूचि नवनीत मैपोव
नवनीत मैपोव नवगीतमै लेव
सागुमा ओ नीलमेघमा ।

निनु जूचि विरहिणुलु निट्टूरुपुलु निंप
निट्टूरुपुलु निंप निलुवॆल्ल पुलकिंप
सागुमा ओ नीलमेघमा ।

गुंडॆ लोतुल पादुकॊन्न पातदनालु
नी पदम्मुलु ताकि नीरु नीरै पोव
सागुमा ओ नीलम्मेघमा,
गगनवीणा-मृदुलरागमा ।

सिं० नारायण रॆड्डी

जलद गीत

चल, बढ़ चल, अरे नील मेघ,
नभवीणा के नव मृवुल राग,
फटी दरारों वाले खेतों में पीयूष बहाकर,
हरी घास से शून्य मड़ैयों में मरकत बरसाकर ।

चल, बढ़ चल, अरे नील मेघ,
नभ वीणा के नव मृदुल राग ।
वन मयूरगण पदकिंकिणियों को संगीत पिलाते,
प्रिया प्रेम लतिका में नवमल्लियाँ असंख्य खिलाते,

चल, बढ़ चल, अरे नील मेघ ।
देख तुझे विरहिणियाँ लंबी-लंबी आहें भर लें,
लंबी आहें भर लें निज तन पुलकों से भर लें ।

चल, बढ़ चल, अरे नील मेघ ।
दिल की गहराई में जमी पुरातनताएं सारी,
तेरे पद छूकर पानी-पानी हो जावें भारी,

चल, बढ़ चल, अरे नील मेघ,
नभ वीणा के नव मुवुल राग ।

सिं० नारायण रॆड्डी

कन्नड़

तंगाळि

तेॅरेॅते रेॅ यागि एरेरि बंदु
सुत्तुव मुचुव तंगाळियेॅ !
बिसिलिन कुदुरेॅयनेरि सारि
बरलिरुव तंपिन वैताळियेॅ !

नद्टनडुबेसगेॅय बेॅन्नेरि
चिन्नाटवाडुव सोॅगद शिशुवेॅ !
बेॅलगिनलि बिसिल बेगेॅयलि
दणिवेॅम्बुदिरदेॅ सुळियुतिरुवेॅ
सूसुतिरुवेॅ बीसुतिरुवेॅ ।

मेॅल्लमेॅल्लनेॅ बंदु मंद्रदलि सोॅल्लुत
नुरित गायकियंतेॅ दनियनेरिसुवेॅ
मरव तूगिसुवेॅ एॅलेॅयनाडिसुवे
बेसगेॅयेम्ब नेॅनवनु ओडिसुवेॅ
ओ सवियाद तम्पिन तवरेॅ ।

इरुळेॅथ संयहोॅळेॅ नीनु !
नीरोॅ गाळियोॅ एॅम्बमायेॅय जननि !
सूसूकरिसुत संतत अविरत
दणियद तायिय दयेॅयंतेॅ
मैयनु मुत्तुवेॅ, मनवनु एॅत्तुवेॅ
निद्देॅय सविगनसिन नंदनवन केॅ

ओ गाळि ! मुंगारिन काळि !
बंदेयॅ तण्पिन तिरुळनेॅ ताळि
बिसिलेरलि मैमन बेयलि
नीनिरेॅ जोॅतेॅ, नानेतकेॅ सोललि ?
प्रत्यक्ष परब्रह्मवेॅ ! श्रीमातेॅय वरहस्तवेॅ ।
निनगिदोॅ नमन, नीनेॅ ननगेॅ शमन !

र॑० श्री०मुगळि

शीतल पवन

लहराकर ऊँचे चढ़-चढ़कर
घिरने-बहने वाले हे शीतल पवन
धूप रूपी घोड़े पर चढ़-चढ़कर
आने वाले हे शीतलता के दूत !

तपती दुपहरी की पीठ पर हो सवार
गुड्डी उड़ाने वाले ऐ प्यारे कुमार ?
सवेरे और तपती दुपहरी में
अनायास ही चकरा-चकराकर
बहते रहते हो सदा सू-सू कर ।

धीरे-धीरे मंद स्वर में कुछ कहकर
चतुर गायकी-जैसा स्वर अपना मिलाते हो
खेलाते हो तरु-पत्तों को झुला-झुलाकर
ग्रीष्म का नाम भी मिटा देते हो
हे मधुर शीतलता के आगार !

पानी है या हवा ऐसी माया की जननी
सू-सू करता है सदा सर्वदा
माँ की करुणा जैसे कभी न थकते हो ।
तन पर बढ़कर बढ़ा देते हो मन को
मधुर स्वप्न के नव-नंदन वन में

हे पवन ! पहली वर्षा के दूत !
लेकर आये हो शीतलता का अवतार
ताप चढ़े चाहे, तन-मन चाहे झुलसे
तुम हो जब साथ में क्यों तब हारा ?
तुम हो प्रत्यक्ष ब्रह्म ! श्री माता के वरद हस्त !
तुम्हें करता हूँ नमन तुम ही हो मेरे नमन ।

रं० श्री० मुगलि

मलयालम

भूमि	भूमि
देवमार्गंवुं पारावारवुं धरणि नि- र्जीव मेन्नाक्षेपिच्चा लायतल्पत्वं तन्ने।	यदि आकाश और पारावार 'धरणी निर्जीव है' कहकर उपहास करें तो यह उनके ही अल्पत्व का द्योतक होगा।
अवर् तन् पोरुलेरे कण्टताणल्लो भूवे। तव जीवनिल् निन्नु कत्तिय तितियां ञान्।	माँ पृथ्वी! मैं जो तुम्हारे प्राण-प्रकाश से सुलगी हुई वर्तिका हूँ, उन दोनों के मूल्य को भली भाँति आँक चुका हूँ।
अंबरं तपस्सालेन्नादरं वरिच्चप्पोळ् अंबुधि विक्षोभत्तालार्ज्जिच्चितेन् वात्सल्यं।	जब कि अंबर अपनी तपस्या के कारण मेरे आदर के योग्य बना है तब अंबुधि अपने क्षोभ के कारण मेरे वात्सल्य का पात्र हुआ है।
एंकिलुं कण्टील ञानम्म तन् वदनत्तिल् तंकुमीयुत्तेजक सौभाग्यमेङ्ङुं वेरे।	परन्तु माँ, तुम्हारे मुख मंडल पर विराजित यह उत्तेजक सौंदर्य और कहीं नहीं दिखलाई दिया।
कोटानकोटिप्पिञ्चु मक्कळेच्चोल्लि स्नेह- च्चूटिनाल् निर्निद्रमां निन्टे कण्कुषिकळिल्।	कोटि-कोटि सन्तानों की चिन्ता से व्याकुल, उनके प्रति स्नेह के कारण निर्निद्र हुए तुम्हारे नयनों में,
आद्यत्तेयमीबये पट्टेन्नु तोट्टे निल्पु- ण्टादर्शतपः क्षोभ पूर्ण मीयष्कोक्के।	उस प्राचीनतम दिन से, जबकि तुमने प्रथम 'अमीबा' को जन्म दिया था, तप तथा क्षोभ से परिपूर्ण यह सारा आदर्श सौन्दर्य तुममें विद्यमान है।
निस्तन्द्र सर्गोन्मेषनिर्भरक्षमे! निन्नाल- स्तित्वं पूण्टोरिन्नु चिरिच्चाल् चिरिच्चोट्टे॥	निस्तन्द्र वर्णन की शक्ति, उत्साह और उन्मेष रखने वाली हे क्षमा देवी! जिन्होंने तुमसे अस्तित्व प्राप्त किया वे ही आज तुमको देखकर हँसे, तो हँसने दो।
अक्कित्तंअच्युतन् नंपूतिरी	अक्कित्तं अच्युतन् नंपूतिरि

Printed by
R. K. BERRY
at the
BANARAS HINDU UNIVERSITY PRESS,
VARANASI—5.